



MAHS-02

बाल मनोविज्ञान और मानव विकास के सिद्धांत
**Child Psychology and Theories of Human
Development**



स्वास्थ्य विज्ञान विद्याशाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

बाल मनोविज्ञान और मानव विकास के सिद्धांत
**Child Psychology and Theories of Human
Development**



उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
तीनपानी बाई पास रोड, ट्रांसपोर्ट नगर के पास, हल्द्वानी-263139
फोन नं. 05946- 261122, 261123
टोल फ्री नं. 18001804025
फैक्स नं. 05946-264232, ई-मेल: info@uou.ac.in
<http://uou.ac.in>

अध्ययन बोर्ड						
प्रोफेसर आर0 सी0 मिश्र निदेशक स्वास्थ्य विज्ञान विद्याशाखा उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	प्रोफेसर रीता एस0 रघुवंशी अधिष्ठाता, गृह विज्ञान महाविद्यालय गोविन्द बल्लभ पन्त कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय पन्तनगर, उत्तराखण्ड	प्रोफेसर लता पाण्डे विभागाध्यक्ष, गृह विज्ञान विभाग डी0एस0बी00 कैम्पस कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल, उत्तराखण्ड	डॉ0 हिना के0 बिजली सह- प्राध्यापक, सामुदायिक संसाधन प्रबंधन एवं विस्तार सतत शिक्षा विद्यापीठ इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली			
डॉ0 प्रीति बोरा अकादमिक एसोसिएट गृह विज्ञान विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	श्रीमती मोनिका द्विवेदी अकादमिक एसोसिएट गृह विज्ञान विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, उत्तराखण्ड					
विषय विशेषज्ञ समिति						
प्रोफेसर आर0 सी0 मिश्र निदेशक स्वास्थ्य विज्ञान विद्याशाखा उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	डॉ0 मनीषा गहलौत प्रोफेसर, वस्त्र एवं परिधान विभाग, गृह विज्ञान महाविद्यालय गोविन्द बल्लभ पन्त कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय पन्तनगर, उत्तराखण्ड	डॉ0 अपराजिता विभागाध्यक्ष, गृह विज्ञान विभाग इंदिरा प्रियदर्शिनी राजकीय महिला स्नातकोत्तर वाणिज्य महाविद्यालय हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	डॉ0 छवि आर्या सहायक प्राध्यापक, गृह विज्ञान विभाग डी0एस0बी00 कैम्पस कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल, उत्तराखण्ड	डॉ0 लोतिका अमित सहायक प्राध्यापक, गृह विज्ञान विभाग मोतीराम बाबूराम राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	डॉ0 प्रीति बोरा अकादमिक एसोसिएट गृह विज्ञान विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	
पाठ्यक्रम संयोजक			पाठ्यक्रम संपादन			
डॉ0 प्रीति बोरा अकादमिक एसोसिएट गृह विज्ञान विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	श्रीमती मोनिका द्विवेदी अकादमिक एसोसिएट गृह विज्ञान विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, उत्तराखण्ड		डॉ0 प्रीति बोरा अकादमिक एसोसिएट गृह विज्ञान विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, उत्तराखण्ड			
इकाई लेखन	इकाई संख्या	इकाई लेखन	इकाई संख्या	इकाई लेखन	इकाई संख्या	इकाई लेखन/ इकाई संख्या
सुश्री सृष्टि, पूर्व अकादमिक परामर्शदाता, खाद्य एवं पोषण विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	1, 2, 3	सुश्री प्रांजलि देव पूर्व परामर्शदाता, बाल विकास विभाग, सतत शिक्षा विद्यापीठ इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली	4	डॉ0 अन्जू बिष्ट सह-प्राध्यापक गृह विज्ञान विभाग एम0बी0पी0जी0 महाविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	5, 6	डॉ0 विद्या सिंह सहायक प्राध्यापक, गृह विज्ञान विभाग स्वामी विवेकानन्द राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय लोहाघाट, चम्पावत उत्तराखण्ड इकाई संख्या: 13, 14
इकाई लेखन	इकाई संख्या	इकाई लेखन	इकाई संख्या	इकाई लेखन	इकाई संख्या	इकाई लेखन/ इकाई संख्या
डॉ0 ममता कुमारी सहायक प्राध्यापक, शिक्षाशास्त्र विद्याशाखा, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	7, 8, 9	डॉ0 शालिनी सिंह पूर्व एस0आर0एफ0 AICRP बाल विकास एवं पारिवारिक अध्ययन विभाग गृह विज्ञान महाविद्यालय, जी0बी0 पंत विश्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड	10	डॉ0 प्रीति बोरा अकादमिक एसोसिएट गृह विज्ञान विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	11, 15	बी0ए0 शिक्षाशास्त्र, BAED-102 (Guidance and Counseling) का रूपांतरण एवं संशोधन इकाई संख्या: 12

ISBN-

समस्त लेखों/पाठों से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए लेखक जिम्मेदार होगा। किसी भी विवाद के लिए
जूरिसडिक्शन हल्द्वानी (नैनीताल) होगा।

कॉपीराइट: उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष: 2019

संस्करण: सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन प्रति

प्रकाशक: एम0पी0डी0डी0, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी- 263139 (नैनीताल)



उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
बाल मनोविज्ञान और मानव विकास के सिद्धांत
**Child Psychology and Theories of Human
Development
MAHS-02**

खण्ड	इकाई	पृष्ठ संख्या
1 बाल विकास- एक परिचय	इकाई 1: बाल विकास का परिचय	2-20
	इकाई 2: बाल विकास का आधार	21-38
	इकाई 3: वृद्धि और विकास	39-55
2 बाल विकास एवं मनोविज्ञान	इकाई 4: बाल विकास का अध्ययन- इतिहास और विधियाँ	57-79
	इकाई 5: परिपक्वता व अधिगम: विकास के प्रतिमान	80-96
	इकाई 6: अभिप्रेरणा एवं मानव व्यवहार	97-114
3 बाल विकास के नियम एवं सिद्धांत- I	इकाई 7: पियाजे का विकासात्मक सिद्धांत	116-125
	इकाई 8: सिगमंड फ्रायड का मनोविश्लेषणवादी सिद्धांत	126-137
	इकाई 9: इरिक इरिक्सन का मनो-सामाजिक विकास का सिद्धांत तथा अल्बर्ट बॅण्डुरा का सामाजिक अधिगम सिद्धांत	138-151
4 बाल विकास के नियम एवं सिद्धांत- II	इकाई 10: सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत	153-163
	इकाई 11: गिब्सन का प्रत्यक्षात्मक विकास का पारिस्थितिक सिद्धांत	164-180
5 बाल मार्गदर्शन, मनोवैज्ञानिक समायोजन और असामाजिक व्यवहार	इकाई 12: बाल निर्देशन	182-199
	इकाई 13: मनोवैज्ञानिक समायोजन	200-239
	इकाई 14: विशिष्ट बालक	240-264
	इकाई 15: बाल अपराध तथा असामाजिक व्यवहार	265-280

खण्ड 1: बाल विकास- एक परिचय

इकाई 1 बाल विकास का परिचय

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 परिभाषा
- 1.4 प्राणी के जीवन में प्रारम्भिक विकास का महत्व
- 1.5 विकास की प्रकृति
- 1.6 बाल विकास की व्यापकता
- 1.7 विकास के रूप
- 1.8 बाल विकास के अध्ययन का महत्व
- 1.9 बाल विकास के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तियाँ और परम्परागत विश्वास
- 1.10 सारांश
- 1.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 1.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

बाल विकास से तात्पर्य बालकों के सर्वांगीण विकास से है। बाल विकास की प्रक्रिया के अनुसार गर्भाधान से मृत्युपर्यन्त विभिन्न अवस्थाओं व परिवर्तनों द्वारा शिशु एक व्यस्क में बदलता है। बाल विकास विज्ञान की एक सम्पूर्ण शाखा है जिसके अन्तर्गत उन सभी तथ्यों का अध्ययन किया जाता है, जो बालकों के विकास को एक निश्चित दिशा प्रदान कर विकास में सहायता प्रदान करते हैं। गर्भाधान के तुरन्त बाद से ही प्राणी का विकास शुरू हो जाता है। यह विकास हर आयु में विभिन्न विशेषताओं को धारण करते हुए उसे मानव जीवन की चरम अवस्था अर्थात् युवास्था तक ले जाता है। विकास प्रक्रिया ही प्राणी को परिपक्व बनाती है। आयु के बढ़ने पर विकास नकारात्मक परिवर्तनों के माध्यम से वृद्धावस्था की ओर ले जाता है। अतः गर्भावस्था से मृत्यु तक अनवरत चलने वाली प्रक्रिया मानव विकास या बाल विकास कहलाती है। यह एक व्यापक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक असहाय शिशु आगे चलकर एक आत्मनिर्भर व्यस्क में परिवर्तित होता है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जानेंगे;

- बाल विकास की परिभाषा;
- प्राणी के जीवन में प्रारम्भिक विकास का महत्व;
- बाल विकास की प्रकृति;
- बाल विकास की व्यापकता;
- विकास के रूप;
- बाल विकास के अध्ययन का महत्व; तथा
- बाल विकास के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तियाँ और परम्परागत अन्धविश्वास।

1.3 परिभाषा

विभिन्न विद्वानों तथा मनोवैज्ञानिकों ने बाल विकास की अलग-अलग परिभाषाएं दी हैं। **क्रो एण्ड क्रो** के अनुसार-“बाल विकास वह विज्ञान है जो बालक के व्यवहार का अध्ययन गर्भावस्था से मृत्यु पर्यन्त तक करता है।”

अतः यह कहा जा सकता है कि प्राणी के जीवन का आरम्भ जन्म के बाद नहीं अपितु जन्म से पूर्व गर्भाधान के समय से ही हो जाता है, शिशु का जन्म विकास क्रम का एक परिवर्तन मात्र है। इस परिवर्तन से शिशु केवल आन्तरिक वातावरण से बाह्य वातावरण को ग्रहण करता है। ऐसे अनेक परिवर्तन जीवन भर घटित होते रहते हैं, जिससे समायोजन कर वह पहले व्यस्क फिर वृद्ध बनता है और अन्त में मृत्यु को प्राप्त करता है।

1.4 प्राणी के जीवन में प्रारम्भिक विकास का महत्व

प्रत्येक प्राणी के जीवन में विकास प्रक्रिया अनेक बदलावों को लाती है। हर आयु व अवस्था में नये गुणों को प्राणी विकास प्रक्रिया के द्वारा ही सीखता है। प्रारम्भिक विकास सबसे तेज व तीव्र गति से होने वाला विकास होता है। प्राणी का प्रारम्भिक विकास ही बाद के जीवन की आधारशिला होता है। एक सामान्य व स्वस्थ प्रारम्भिक जीवन ही व्यक्ति को स्वस्थ प्रौढ़ जीवन प्रदान करता है।

बालकों के जीवन में प्रारम्भिक विकास के महत्व को देखने के लिए अनेक वैज्ञानिकों ने अध्ययन किये और सर्वप्रथम 1953 में बाल मनोवैज्ञानिक सिगमण्ड फ्राइड ने इस बात का सत्यापन किया कि प्रारम्भिक विकास प्राणी के लिए अति महत्वपूर्ण है। बाद में अन्य वैज्ञानिकों ने भी इस तथ्य की पुष्टि की और अध्ययनों से निष्कर्ष निकाला कि जो बच्चे शैशवावस्था और बाल्यावस्था में कुसमायोजित होते हैं उनका समायोजन आगे की अवस्थाओं में भी नहीं हो पाता है। जो बालक अपने प्रारम्भिक जीवन काल में शारीरिक रूप से अस्वस्थ, मानसिक, भावनात्मक, भाषा, क्रियात्मक आदि क्षेत्रों में असामान्य व कमजोर होते हैं, वह आगे भी दूसरे सामान्य बालकों से पिछड़ते चले जाते हैं। उदाहरण के लिए अगर किसी बालक का मानसिक विकास प्रारम्भिक अवस्था में मन्थर गति से होता है तो वह भाषा, विज्ञान व सामाजिक ज्ञान उस तरह अर्जित नहीं कर पाता जिस तरह उसकी उम्र के सामान्य बालक करने में सक्षम हैं। फलस्वरूप वह आगे की अवस्थाओं में भी समायोजन करने में कठिनाई महसूस करता है। उचित प्रोत्साहन व मदद से वह इस कठिनाई को दूर करने में सफल हो पाया तो वह एक स्वस्थ व समर्थ जीवन जी पाता है अन्यथा वह कुण्ठाग्रस्त मानसिकता का शिकार हो जाता है।

प्राणी का प्रारम्भिक विकास ठीक प्रकार से हो इसके लिए जरूरी है कि बालकों का पालन-पोषण उचित प्रकार से हो, अभिभावक तथा बालकों के मध्य अच्छे सम्बन्ध हों, बालकों का संवेगात्मक विकास सही हो व बालकों को उचित मार्गदर्शन व निर्देशन मिले। अगर विकास को प्रभावित करने वाले कारकों को नियन्त्रित व उनका प्रबंधन कर लिया जाये तो बालक के विकास के सामान्य होने की उम्मीद काफी बढ़ जाती है। बालक नादान होते हैं तथा उचित, अनुचित में भेद नहीं जान पाते, अतः अभिभावकों को सचेत रहना चाहिए। अगर कुछ भी समस्या हो तो उसका निदान शीघ्र रूप से करना चाहिए।

1.5 विकास की प्रकृति

गर्भाधान से मृत्यु तक चलने वाली विकास प्रक्रिया में अनगिनत बदलाव, उतार-चढ़ाव, तेजी व मन्दता देखी जाती है परन्तु लगभग प्रत्येक व्यक्ति में विकास की कुछ निश्चित प्रकृति या गुण देखे जाते हैं जैसे-

1. विकास प्रक्रिया की गति सामान्य नहीं होती। प्रत्येक अवस्था में यह गति तेज या मन्द हो जाती है। जैसे- गर्भावस्था में यह गति बहुत तेज हो जाती है। दिन प्रतिदिन का परिवर्तन अत्यन्त तेजी से देखा जाता है। परन्तु प्रौढावस्था में यह गति मन्द हो जाती है।

2. विकास का प्रारम्भ वृद्धि से सर्वदा पहले होता है। यूँ भी कहा जा सकता है कि विकास होने पर ही व्यक्ति वृद्धि को प्राप्त करता है जैसे दाँतों का निकलना आदि।
3. विकास एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। गर्भाधान से मृत्यु तक यह लगातार चलती ही रहती है।
4. विकास प्रक्रिया में रचनात्मक व विनाशात्मक दोनों प्रकार के परिवर्तन देखे जाते हैं। रचनात्मक या सकारात्मक विकास शिशु को व्यस्क में परिवर्तित करते हैं तथा विनाशात्मक या नकारात्मक बदलाव एक व्यस्क को वृद्ध बना देते हैं।
5. विकास में होने वाले कुछ परिवर्तन मात्रात्मक होते हैं तथा कुछ गुणात्मक भी होते हैं। जैसे व्यक्ति की लम्बाई मात्रात्मक गुण है परन्तु स्वभाव गुणात्मक गुण है।
6. विकास प्रक्रिया व्यक्ति में अनेक योग्यताएं व क्षमताएं विकसित करती है।
7. विकास क्रम केवल शारीरिक परिवर्तनों की ओर ही संकेत नहीं करता वरन् यह मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक आदि क्षेत्रों में भी परिवर्तन लाता है।
8. विकास क्रम में प्रत्येक परिवर्तन दूसरे परिवर्तन पर आधारित होता है अर्थात् गहन परस्पर सम्बन्ध रखता है। आगे होने वाले परिवर्तन पूर्व परिवर्तन पर आधारित होते हैं।
9. व्यक्ति का वातावरण व अनुवांशिकता कुछ मात्रा में विकास प्रक्रिया को प्रभावित करती है।

1.6 बाल विकास की व्यापकता

बाल विकास का क्षेत्र अत्यन्त ही विस्तृत और व्यापक है। यह शारीरिक, मानसिक परिवर्तनों, असमान्यताओं, विकास को प्रभावित करने वाले तत्वों जैसे वातावरण, वंशानुक्रम, शिक्षण, अधिगम, परिपक्वता आदि विकास के सभी स्वरूपों व आयामों का अध्ययन करता है। बाल विकास के क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों को सम्मिलित किया जाता है-

1. **बाल विकास के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन-** बाल विकास किसी एक क्षेत्र से सम्बन्धित नहीं होता है। इसके अन्तर्गत विकास के विभिन्न पहलुओं, जैसे- शारीरिक विकास, मानसिक विकास, संवेगात्मक विकास, सामाजिक विकास, क्रियात्मक विकास, भाषा विकास, नैतिक विकास, चारित्रिक विकास और व्यक्तिगत विकास सभी का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया जाता है।
2. **बाल विकास की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन-** बाल विकास की विभिन्न अवस्थाएं होती हैं जैसे गर्भावस्था, किशोरावस्था, वृद्धावस्था आदि। बाल विकास प्रत्येक अवस्था का

सम्पूर्ण अध्ययन उसके विभिन्न पहलुओं जैसे शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक आदि की व्यापक जानकारी के साथ करता है।

3. **बाल विकास को प्रभावित करने वाले तत्वों का अध्ययन-** बाल विकास उन सभी तत्वों का अध्ययन करता है जो बालक के विकास को प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। बाल विकास पर प्रमुख रूप से वंशानुक्रम, वातावरण, परिपक्वता तथा अधिगम का प्रभाव पड़ता है। बाल विकास की प्रक्रिया में इन तत्वों के कारण बालक का व्यक्तित्व एक विशेष रूप ग्रहण करता है। वंशानुक्रम द्वारा गर्भाधान के समय ही बालकों को उनके माता-पिता तथा पूर्वजों द्वारा कुछ विशिष्ट शारीरिक, मानसिक योग्यताएं व क्षमताएं प्राप्त होती हैं, जिनका असर आजीवन उनके व्यक्तित्व पर पड़ता है। इन गुणों को जन्म के बाद वातावरणीय तत्व भी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। आस-पास का माहौल, पास-पड़ोस, विद्यालय, समाज, संस्कृति तथा सामाजीकरण आदि तत्व बालक के व्यक्तित्व व विकास पर गहरा असर डालते हैं। गलत आदतों का निर्माण, व्यक्तित्व विघटन व समायोजन की समस्याएं आदि सभी अनुपयुक्त और दूषित वातावरण के कारण ही उत्पन्न होती हैं।
4. **बालकों की रुचियों का अध्ययन-** बाल विकास बालकों की रुचियों का अध्ययन कर उन्हें शैक्षिक और व्यवसायिक निर्देशन प्रदान करता है। रुचियाँ एक अर्जित व्यवहार हैं, जो जन्मजात नहीं होती हैं, बल्कि सीखी जाती हैं। रुचियाँ कार्य की प्रगति में प्रेरणा का कार्य करती हैं और लक्ष्य की पूर्ति को आसान बनाती हैं। यदि बालक को किसी कार्य में रुचि होती है तो वह उसे शीघ्रता से अधिक मनोयोग के साथ पूरा कर लेता है।
5. **मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का अध्ययन-** बाल विकास केवल मानसिक दुर्बलताओं और रोगों का ही अध्ययन नहीं करता बल्कि विभिन्न मनोवैज्ञानिक तरीकों से उनके उपचार भी प्रस्तुत करता है। मनोचिकित्सा बाल मनोविज्ञान और बाल विकास की ही देन है।
6. **बालकों की व्यक्तिगत विभिन्नताओं का अध्ययन-** यद्यपि सभी आयु स्तरों पर विकास का एक निश्चित प्रतिरूप होता है, लेकिन फिर भी प्रत्येक क्षेत्र में सभी बालकों का विकास समान नहीं होता है। शारीरिक विकास में कुछ बालक अधिक लम्बे, कुछ नाटे तथा कुछ सामान्य लम्बाई के होते हैं। इसी प्रकार मानसिक विकास में भी कुछ प्रतिभाशाली, कुछ सामान्य और कुछ मन्द बुद्धि होते हैं। इसी प्रकार कुछ बालक सामाजिक तथा बहिर्मुखी होते हैं जबकि कुछ अन्तर्मुखी। अतः विकास के सभी क्षेत्रों में व्यक्तिगत भिन्नता पायी जाती है। बाल विकास इसी

प्रकार की व्यक्तिगत विभिन्नताओं का अध्ययन कर उन कारणों को जानने का प्रयास करता है, जिससे सामान्य विकास प्रभावित होता है।

7. **बालकों की विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन-** बाल विकास बालकों के बौद्धिक विकास की विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं, जैसे- अधिगम, कल्पना, चिन्तन, तर्क, स्मृति तथा प्रत्यक्षीकरण आदि का अध्ययन करता है। बाल विकास यह जानने का प्रयास करता है कि विभिन्न आयु स्तरों में यह मानसिक प्रक्रियाएं किस रूप में पायी जाती हैं और इनके विकास की गति क्या होती है? इसी के आधार पर मानसिक प्रक्रियाओं का विकास किया जाता है।
8. **बालकों के व्यक्तित्व का मूल्यांकन-** बाल विकास के अन्तर्गत बालकों की विभिन्न शारीरिक और मानसिक योग्यताओं का मापन व मूल्यांकन किया जाता है। योग्यताओं के मापन व मूल्यांकन के लिए बाल विकास के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिकों द्वारा नित नये वैज्ञानिक परीक्षणों का निर्माण किया जाता है। ये परीक्षण विभिन्न आयु स्तरों पर बालकों की योग्यताओं का मापन कर उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हैं।
9. **बालकों की विभिन्न असामान्यताओं का अध्ययन-** बाल विकास के अन्तर्गत केवल सामान्य बालकों के विकास का ही अध्ययन नहीं किया जाता बल्कि बालकों के जीवन विकास क्रम में होने वाली असामान्यताओं और विकृतियों का भी अध्ययन किया जाता है। बाल विकास, असन्तुलित व्यवहारों, मानसिक विकारों, बौद्धिक दुर्बलताओं तथा बाल अपराधों के कारणों को जानने का प्रयास करता है और निराकरण हेतु उपाय भी बताता है।
10. **बालक- अभिभावक सम्बन्धों का अध्ययन-** जन्म के पश्चात् सबसे पहले बालक को अपने माता-पिता का संरक्षण प्राप्त होता है। बालक के व्यक्तित्व निर्धारण और समुचित विकास में माता-पिता का महत्वपूर्ण योगदान होता है। जिन बालकों के सम्बन्ध अपने माता-पिता के साथ अच्छे नहीं होते हैं वे अक्सर कुसमायोजित और अपराधी प्रवृत्ति के हो जाते हैं। बाल विकास, बालक-अभिभावक सम्बन्धों के निर्धारक तत्वों तथा समस्याओं और उनके निराकरण का अध्ययन कर माता-पिता तथा बालकों के बीच अच्छे सम्बन्ध विकसित करने का प्रयास करता है जिससे बालक परिवार, समाज व राष्ट्र के अच्छे नागरिक के रूप में विकसित हो सके।
11. **बाल व्यवहारों और अन्तः क्रियाओं का अध्ययन-** मनुष्य गतिशील व सामाजिक प्राणी है। विभिन्न आयु स्तरों पर वह अपने समायोजन के लिए अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों, जैसे-परिवार के लोग, पड़ोसी, अध्यापक, आदि के साथ अन्तः क्रियाएं करता रहता है। बाल

विकास, विकास की विभिन्न अवस्थाओं में होने वाली बालक की विभिन्न अन्तः क्रियाओं का अध्ययन कर यह जानने का प्रयास करता है कि ये क्रियाएं कौन-सी हैं और इनसे बालकों के व्यवहार में क्या परिवर्तन होते हैं, ये परिवर्तन समायोजन में सहायक हैं या बाधक। बालक के समुचित विकास तथा समायोजन के लिये ये अन्तःक्रियाएं आवश्यक हैं। यदि कोई बालक निर्धारित आयु स्तर पर यह अन्तःक्रियाएं नहीं करता है तब भी बाल विकास उन कारणों को जानने का प्रयास करता है जिन्होंने अन्तःक्रियाओं में अवरोध उत्पन्न किया।

1.7 विकास के रूप

विकास क्रम की प्रक्रिया में अनेक परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों का विकास क्रम में विशेष महत्व है। यदि ये परिवर्तन न हों तो प्राणी जीवन की बदलती परिस्थितियों, आयु और परिपक्वता के अनुसार समायोजन नहीं कर पायेगा। इन सुलभ परिवर्तनों के द्वारा ही एक शिशु प्राकृतिक रूप से परिपक्व व विकसित होकर एक स्वस्थ व्यस्क व वृद्ध व्यक्ति में परिवर्तित होता है। विकास प्रक्रिया में होने वाले मुख्य रूप से चार प्रकार के परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं-

1. आकार में परिवर्तन- विकास प्रक्रिया में आकार में निरंतर परिवर्तन देखा जाता है। यह परिवर्तन शारीरिक एवं मानसिक दोनों क्षेत्रों में देखा जाता है। आकारों में होने वाले परिवर्तनों को आसानी से देखा जा सकता है। एक ओर जहाँ शारीरिक वृद्धि प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देती है वहाँ बालक की मानसिक क्षमताओं में बेहतर प्रदर्शन अप्रत्यक्ष रूप से मानसिक वृद्धि दर्शाता है। जैसे-जैसे बालक बड़ा होता है, हर साल उसकी लम्बाई, वजन सिर का आकार, हाथ-पैर आदि सभी में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन ऊपरी ही नहीं होता, आन्तरिक रूप से भी बालक की आँतें, हृदय, फेफड़े आदि भी वृद्धि करते हैं।

शारीरिक वृद्धि के साथ बालक की मानसिक क्षमताओं का भी विकास होता है। बोलना, सोचने, समझने की शक्ति, संवेगों का विकास, भावनाओं का विकास आदि मानसिक वृद्धि का बोध कराता है। अतः इस प्रकार आन्तरिक और बाह्य परिवर्तनों के फलस्वरूप बालक अपने आस-पास के वातावरण के अनुसार समायोजन कर पाता है। केवल असमान्य परिस्थितियों में ही यह परिवर्तन रुकता है।

2. अनुपात में परिवर्तन- जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है, शारीरिक परिवर्तन सिर्फ आकार तक ही सीमित नहीं है। बालक का शारीरिक अनुपात एक व्यस्क से सम्पूर्ण रूप से भिन्न होता है। किशोरावस्था तक ही बालक एक सम्पूर्ण व्यस्क के शारीरिक अनुपात को प्राप्त करता है। प्राणी के शरीर के सभी अंग एक ही गति से विकसित नहीं होते हैं, न ही उनमें एक साथ परिपक्वता आती है। सभी अंगों का विकास एक निश्चित अनुपात में नहीं होता है। जैसे-सम्पूर्ण विकास काल में हृदय का भार जन्म के भार का तेरह गुना बढ़ जाता है, जबकि मस्तिष्क का भार केवल चार गुना ही बढ़ता है। अतः विकास क्रम में शारीरिक अंगों के अनुपात में अंतर आ जाता है।



चित्र 1.1: बालक व एक व्यस्क के शारीरिक अनुपात में अन्तर

(स्रोत: एलीजाबेथ बी० हरलॉक: चाइल्ड डवलपमेन्ट)

अनुपात में परिवर्तन मानसिक क्षेत्र में भी स्पष्ट रूप से देखा जाता है। जैसे-जैसे मानसिक क्षमतायें विकसित होती हैं, बालक की रुचि, क्रियाएं एवं अभिवृत्तियों में भी बदलाव देखे जाते हैं। उदाहरण के लिए प्रारम्भ में बालक स्वः केन्द्रित होकर अपने में ही खेलता रहता है, जबकि

बाल्यवस्था में उसे मित्रमण्डली अत्यन्त भांति है। वह उन्हीं की तरह खेलना व दिखना चाहता है। किशोरावस्था में वह विपरीत लिंग की तरफ आकर्षित होकर उनके साथ समय व्यतीत करने में रूचि लेने लगता है। अतः अनुपातिक परिवर्तनों द्वारा बालक की मानसिक, सामाजिक एवं संवेगात्मक क्रियाओं पर काफी प्रभाव पड़ता है।

3. **पुरानी रूप रेखा में परिवर्तन-** बालक में विकास क्रम में विकास का तीसरा रूप है पुरानी रूप रेखा में परिवर्तन होना। बालक के विकास के साथ पुरानी विशेषताओं का लोप होता रहता है, परन्तु इनके लोप होने से पूर्व ही नवीन विशेषताओं का उदय हो जाता है। यह विशेषतायें शारीरिक एवं मानसिक विकास के फलस्वरूप ही होती हैं। उदाहरण के लिए प्रारम्भ में शिशु खिसकना सीखता है, फिर बैठना, घुटनों के बल चलना आदि। हड्डियों के विकसित होने पर वह खड़ा होना, फिर चलना और अन्ततः दौड़ना सीख जाता है। इसी प्रकार प्रारम्भ में जो शिशु हाथ में खिलौना भी ठीक से नहीं पकड़ पाता वह विकास क्रम में धीरे-धीरे लिखना, चित्र बनाना आदि भी सीख जाता है। मानसिक विशेषताओं की तीव्र बदलती मनोवृत्तियाँ भी इसी के फलस्वरूप हैं, जैसे रोना, चिल्लाना, बिना सोचे काम करना, आदि गुण विलुप्त होकर बालक बड़ा होकर नम्रभाषी व बुद्धिमानी जैसे गुणों को प्राप्त करता है। पुरानी विशेषताओं का समाप्त होना ही बालक को नई अभिवृत्तियाँ सिखाता है, जिससे वह बाहरी वातावरण को बेहतर तरीके से समझकर अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है।

4. **नये गुणों की प्राप्ति-** पुरानी रूप रेखा में परिवर्तन के साथ ही विकास क्रम में नये गुणों की प्राप्ति होती है। यह गुण शारीरिक व मानसिक दोनों होते हैं। इन नये गुणों से बालक में परिपक्वता आती है। उदाहरण के लिए बालक के अस्थायी दाँतों का टूटना और स्थायी दाँतों का निकलना, हाथों-पैरों की हड्डियाँ व माँसपेशियों का मजबूत होना, उसे व्यस्कता की ओर ले जाता है। स्थायी दाँतों द्वारा वह पहले से बेहतर पोषण प्राप्त करता है एवं हड्डियाँ व माँसपेशियों की मजबूती द्वारा वह दौड़ना, विभिन्न खेल, उछलना-कूदना, व्यायाम आदि क्रियाओं में सक्रिय रूप से भाग ले पाता है।

इसके अलावा मानसिक रूप से भी कई नये गुणों की समय के साथ प्राप्ति होती है। शिशु प्रारम्भ में सिर्फ एक शब्द ही बोल पाता है, परन्तु धीरे-धीरे वह पूरा वाक्य बोलना सीखता है, शब्दों का सही उच्चारण, विभिन्न भाषाओं का ज्ञान, व्याकरण के नियम आदि उसे वाक कला में दक्ष बनाते हैं। इन सब गुणों के द्वारा बालक एक व्यक्तित्व की स्थापना करता है एवं जगत के प्रति

अपना एक दृष्टिकोण स्थापित करता है। इन्हीं सब बदलावों द्वारा वह समाज में अपना एक स्थान बना पाने में सक्षम होता है।

आइए अब कुछ प्रश्नों को हल करने का अभ्यास करें।

अभ्यास प्रश्न 1

1. सही/गलत बताएं।

- विकास प्रक्रिया की गति सामान्य होती है।
- विकास में होने वाले सभी परिवर्तन मात्रात्मक होते हैं।
- बाल विकास बालकों की रुचियों का भी अध्ययन करता है।
- अभिभावकों से सम्बन्ध अच्छे न होने से बालक कुसमायोजित हो जाता है।
- प्रारम्भिक विकास काफी मन्द गति से होता है।

1.8 बाल विकास के अध्ययन का महत्व

वर्तमान समय में बाल विकास भी अन्य सामाजिक विज्ञानों की तरह एक स्वतन्त्र विज्ञान है। इसका अध्ययन सम्पूर्ण मानव विकास की इकाई माना जाता है। बाल विकास का अध्ययन सभी के लिए महत्वपूर्ण है। बालक किसी भी समाज व राष्ट्र की आधारशिला है। उनका स्वास्थ्य विकास समाज व राष्ट्र की प्रगति में योगदान देता है। माता-पिता बाल विकास के अध्ययन द्वारा अपने बच्चे को समाज के अच्छे नागरिक के रूप में विकसित कर सकते हैं और उनकी प्रतिभाओं को जानकर उनकी शिक्षा की उचित व्यवस्था कर सकते हैं।

बाल विकास का अध्ययन निम्न रूपों में लाभकारी हो सकता है-

- बाल-पोषण विधियों का ज्ञान-** बाल विकास के अध्ययन द्वारा माता-पिता तथा अभिभावकों को बाल-पोषण विधियों का ज्ञान प्राप्त होता है। शिशु के स्वास्थ्य के लिए किन पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है व इनके उचित स्रोतों के बारे में जानकारी होना अत्यन्त आवश्यक है। अनुपूरक आहार व आहार की मात्रा आदि बालक की उचित देखभाल के लिए महत्वपूर्ण मानी जाती है। प्रत्येक माता-पिता अगर इसकी विस्तृत समझ रखते हैं तो वह बालक को विभिन्न पोषक तत्वों की कमी जन्य रोगों से बचा सकते हैं। साथ ही विकास की अवस्थाओं सम्बन्धित बढ़ती हुई पोषक तत्वों की जरूरतों को पूरा कर पाने में सक्षम होते हैं। सामान्यतः माता-पिता

प्रथम शिशु के जन्म के समय बाल-पोषण के ज्ञान से अनभिज्ञ होते हैं लेकिन बाल विकास का अध्ययन माता-पिता को मातृत्व तथा पितृत्व के दायित्व जैसे गम्भीर प्रश्नों का उत्तर हल करके बाल पोषण को सहज बनाता है।

2. **विकास की अवस्थाओं का ज्ञान-** बाल विकास के अध्ययन द्वारा माता-पिता बाल विकास की विभिन्न अवस्थाओं का विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इससे उनमें होने वाले परिवर्तनों के अनुसार उचित सावधानी बरती जा सकती है। गर्भाधान से शिशु जन्म की जटिल प्रक्रिया को समझने से गर्भवती महिला अपने होने वाले शिशु व स्वयं की उचित देखभाल कर पाने में सक्षम होती है। इसी तरह प्रारम्भिक अवस्था में शिशु के हर विकासात्मक पहलू (शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, क्रियात्मक आदि) के अनुसार किस प्रकार परिवर्तन होते हैं यह जाना जा सकता है। कुछ विशेष अवस्थाएं जैसे किशोरावस्था के उग्र संवेग, किशोरों की मनःस्थिति आदि की जानकारी प्राप्त कर माता-पिता बालकों के समुचित विकास में अपना योगदान दे सकते हैं।
3. **व्यक्तिगत विभिन्नताओं की जानकारी प्राप्त करना-** बाल विकास से व्यक्तिगत भिन्नता की भी उचित जानकारी मिलती है। यद्यपि विकास का एक निश्चित प्रतिमान होता है और प्रत्येक विकास की अवस्था की कुछ प्रमुख विशेषताएं होती हैं, फिर भी जन्म के बाद दो बालकों के विकास में भिन्नताएं पायी जाती हैं। इनकी समझ माता-पिता को बालकों की उचित देख-रेख में सहायता प्रदान करती है। उदाहरण के लिए जो बालक सामान्य बालकों की अपेक्षा मन्द गति से विकसित होते हैं, माता-पिता इसका निदान उचित समय पर कर पाने में सक्षम होते हैं। वहीं दूसरी ओर जो बालक अन्य बालकों की अपेक्षा अत्यधिक तेजी से विकसित होते हैं जैसे कुशाग्र बालक, ऐसे बालकों के माता-पिता उनकी उचित शिक्षा निर्देशन द्वारा बालकों के अस्वाभाविक कौशल को निखार कर दिशा प्रदान कर सकते हैं।
4. **विकासात्मक क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करना-** विकास की प्रक्रिया के दौरान प्रत्येक बालक कुछ विशिष्ट गुणों को दर्शाता है। इन्हीं गुणों के आधार पर विकास की अवस्था का सामान्य या असामान्य होना तय किया जाता है। जैसे-जैसे अवस्थाएं बदलती हैं, यह गुण या तो संशोधित हो जाते हैं या पूर्णतः विलुप्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिए 9-10 महीने का बालक घुटने पर चलता है परन्तु बाद में यह क्रिया संशोधित होकर पैरों पर खड़े होकर चलने में परिवर्तित हो जाती है। इन विकासात्मक क्रियाओं के आधार पर बालक के गुणों को विकसित करने के लिए

साधन व सुविधाएं प्रदान की जा सकती हैं। बाल विकास के अध्ययन से माता-पिता को विभिन्न विकासात्मक क्रियाओं की जानकारी मिलती है जिसके आधार पर उन्हें बालक के निर्देशन में सहायता मिलती है, जैसे यदि किसी बालक का भाषा विकास उचित रूप से नहीं हो पा रहा है तो वह उसका कारण जानने का प्रयास करते हैं व उचित निराकरण के लिए कदम उठाते हैं।

5. **बालकों के व्यक्तित्व निर्माण में सहायता-** बाल विकास का अध्ययन विकास के विभिन्न पहलुओं की विस्तृत जानकारी देता है। इससे बालकों के माता-पिता, अभिभावकों व शिक्षकों को बालक के व्यक्तित्व निर्माण में सहायता करने वाले कारक व बाधक दोनों की ही जानकारी प्राप्त होती है। सहायक तत्वों की उपस्थिति व बाधक कारकों से बचाव को सुनिश्चित कर बालक को विकास में सुविधा प्रदान की जा सकती है। बालकों में अनेक क्षमताएं होती हैं। ये क्षमताएं तभी विकसित होती हैं जब उचित वातावरण द्वारा उनके विकसित होने के अवसर प्रदान किये जाएं। उदाहरण के लिए कुशाग्र बुद्धि के बालक को सामान्य बालकों से अलग शिक्षा अवसर देने चाहिए। वहीं मानसिक रूप से विकलांग बच्चों को भी सामान्य बालकों के साथ शिक्षित नहीं किया जा सकता।

इसी तरह बालक अन्य क्षेत्रों में भी भिन्न होते हैं व अलग-अलग रुचियाँ रखते हैं। किसी को खेल का, किसी को चित्रकारी का, तथा किसी को नृत्य आदि का शौक होता है। बाल-विकास के अध्ययन द्वारा माता-पिता बालक की क्षमताओं की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं और बालक की शारीरिक, मानसिक क्षमताओं के आधार पर उचित निर्देशन करके अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण कर सकते हैं।

6. **बालक के विकास के सम्बन्ध में पूर्वानुमान होना-** कहावत है कि पूत के पांव पालने में ही नजर आ जाते हैं। बाल विकास का ज्ञान इस कहावत की पुष्टि करता है। बाल विकास के अध्ययन द्वारा बालक के व्यवहार व विकासात्मक पहलुओं द्वारा बालक के भावी विकास के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सकती है। यदि किसी बालक का विकास विभिन्न अवस्थाओं में तीव्र गति से होता है तो वह बालक प्रतिभावान होता है, सामान्य ढंग से होता है तो वह सामान्य होता है और अगर यह गति मन्द होती है तो वह बालक मन्द बुद्धि होता है। बाल विकास प्रत्येक अवस्था को गुणों व सामान्य स्तर से तुलनात्मक अध्ययन द्वारा भविष्यवाणी करने में सहायता प्रदान करता है। अतः बालक की लम्बाई, भार, मानसिक योग्यताओं, रुचियों आदि को देखकर उसके भावी विकास में पूर्वानुमान लगाया जा सकता है।

7. **बालकों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने में सहायक-** बाल विकास का अध्ययन बालकों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने में अत्यन्त सहायक है। सभी माता-पिता तथा शिक्षक का यह परम उद्देश्य होता है कि बालकों को एक अच्छे नागरिक के रूप में विकसित करें। बालकों को समाज तभी स्वीकार करता है जब उनका व्यवहार शारीरिक व मानसिक रूप से सामान्य हो। समाज से उचित समायोजन ही बालक के व्यवहार को कुशल व सकारात्मक बनाता है। बाल विकास का अध्ययन माता-पिता तथा शिक्षकों को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वह प्रारम्भ से ही बालकों को इस प्रकार का निर्देशन दें कि प्रत्येक क्षेत्र में उनके व्यवहार नियन्त्रित व सामान्य हों। इससे बालक बुरी आदतों से बचते हैं व व्यवहारों तथा रुचियों को परिष्कृत कर परिवार व समाज के अनुरूप सुयोग्य नागरिक के रूप में विकसित होते हैं।
8. **बालकों के प्रशिक्षण तथा शिक्षा में उपयोगी-** बाल विकास के अध्ययन से बालक की विभिन्न विकास अवस्थाओं में उसके प्रदर्शन के अनुसार माता-पिता बालक की हर क्षेत्र की योग्यता स्तर को समझ सकते हैं। इसके अनुसार वह उसे प्रशिक्षण तथा शिक्षा सुविधाएं देकर उसके कौशल को उभार सकते हैं।
- बाल विकास का अध्ययन शिक्षकों के लिए भी अतिमहत्वपूर्ण है। बालक की आयु विशेष योग्यताओं का आंकलन विभिन्न कक्षाओं में पाठ्यक्रम तैयार करने में बहुत सहायता प्रदान करता है। बालक की मानसिक योग्यताएं ही पाठ्यक्रम में नये संशोधन व तैयारी करने में सहायक होती हैं। इसी तरह अगर शिक्षक बाल विकास की जानकारी रखते हैं तो वह बालक की विभिन्न विद्यालय सम्बन्धी गतिविधियों जैसे पढ़ाई, खेलकूद, मित्रों से समायोजन, भाषा ज्ञान आदि पर ध्यान देकर बालक की योग्यताओं को आसानी से समझ सकते हैं। इसके अलावा बाल विकास का अध्ययन बालक की क्रियात्मक गतिशीलता को भी दर्शाता है, जिससे विद्यालय में समय सारणी बनाते समय बालक की आयु, शारीरिक शक्ति व बौद्धिक क्षमता को ध्यान में रखा जाता है। प्रश्न पत्रों व परीक्षा आयोजन करने में भी बालक की इन्हीं योग्यताओं को ध्यान में रखा जाता है।
9. **बालकों के स्वभाव को समझने में सहायक-** बालक के समुचित विकास के लिए बालक के स्वभाव की जानकारी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। कुछ बालक बहिर्मुखी व चंचल होते हैं तथा कुछ बालक अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी बालक आसानी से घुल मिल जाते हैं व अपनी भावनाओं को आसानी से प्रकट कर देते हैं। इस तरह के बालकों को समझना बहुत कठिन नहीं होता परन्तु

अन्तर्मुखी बालक कम बोलते हैं व अपनी भावनाओं का प्रकटीकरण नहीं कर पाते। ऐसे बालकों पर अत्यधिक ध्यान देने की आवश्यकता होती है क्योंकि अपने मन की बात दूसरों से न करने पर कई बार उनके कुण्ठाग्रस्त होने की सम्भावना होती है। इसी तरह कई बालक अपने स्वभाव में अत्यधिक क्रोध व चिड़चिड़ापन व्यक्त करें तो माता-पिता को सचेत होकर वातावरण को पूर्णतः आंकने की जरूरत होती है कि बालक किस कारण सामान्य स्वभाव धारण नहीं कर पा रहा। अतः बाल विकास विभिन्न स्वभाव वाले बालकों को समझने तथा उन्हें उचित निर्देशन देकर उनके विकास में सहायता प्रदान करता है।

10. परिवार व समाज में सुख-समृद्धि में सहायक- बालक का मन एक कच्ची मिट्टी के घड़े के समान होता है। बचपन में उसे जिस सांचे में ढाल दिया जाता है वह जीवनपर्यन्त तक उसी के अनुसार कार्य करता रहता है। बाल विकास का अध्ययन केवल बालकों का सर्वांगीण विकास ही नहीं करता अपितु बालकों के उचित विकास द्वारा परिवार व समाज की शान्ति तथा सुख-समृद्धि में सहायता प्रदान करता है, क्योंकि आज का बालक ही कल का पिता व राष्ट्र का निर्माता है। बालक की भावनाओं, योग्यताओं, रुचियों व कार्यक्षमताओं से परिचित हो उसे समाज के अनुरूप ढाला जा सकता है। बालक की कुशलताएं उसे अन्य से भिन्न बनाती हैं जिन्हें जानकर बालक का व्यक्तित्व सकारात्मक व समाजोपयोगी बनाया जा सकता है। अवांछनीय व्यवहारों व भावनाओं को उचित मार्गदर्शन द्वारा बचपन में ही समाप्त कर बालक को भटकने से बचाया जा सकता है।

1.9 बाल विकास के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तियाँ और परम्परागत विश्वास

बाल विकास के विषय में वर्तमान समय में अत्यधिक विकास हुआ है परन्तु आज भी बालक और उनके विकास के सम्बन्ध में कुछ ऐसी भ्रान्तियाँ और परम्परागत विश्वास हैं जो बालकों के विकास को प्रभावित करते हैं। ये भ्रान्तियाँ केवल ग्रामीण और अशिक्षित लोगों में ही नहीं हैं बल्कि शहरी और पढ़े-लिखे माता-पिता तथा अभिभावकों में भी हैं। इन भ्रान्तियों के कारण माता-पिता की पालन-पोषण विधियाँ बालकों के विकास के लिए अनुपयुक्त रहती हैं जिससे बालक का समुचित विकास प्रभावित होता है। कुछ प्रमुख भ्रान्तियाँ निम्नलिखित हैं -

1. बाल्यावस्था के सम्बन्ध में- माता-पिता में बालकों के सम्बन्ध में प्रमुख भ्रान्ति यह है कि “बालक प्रौढ़ व्यक्ति का ही लघुरूप है।” इस धारणा के कारण माता-पिता अपने बालकों से

बाल्यावस्था से ही व्यस्कों जैसे व्यवहार की उम्मीद रखते हैं। अगर वह ऐसा नहीं करते तो उन्हें दण्ड दिया जाता है। इसके अलावा बालक की आलोचना व तिरस्कार भी किया जाता है। बालक इस सबको संक्षिप्त सामाजिक ज्ञान होने के कारण समझ नहीं पाते। कई बार दण्ड या तिरस्कार तीव्र होने के कारण उनके मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है तथा वे हीन भावना का शिकार हो जाते हैं। बालक आत्मविश्वास खो देने के कारण नकारात्मक व्यक्तित्व धारण कर लेते हैं। ऐसे बालकों के व्यक्तित्व का विकास इस अवस्था से अवरुद्ध हो जाता है।

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने इस धारणा की खुलकर आलोचना की है। यद्यपि बालक ही बड़ा होकर प्रौढ़ बनता है परन्तु वह बाल्यावस्था में प्रौढ़ों के समान परिपक्व नहीं होता। माता-पिता को बालकों से व्यस्कों के समान व्यवहार की उम्मीद नहीं रखनी चाहिए। उन्हें बालकों की आवश्यकताओं को समझकर पूरा सहयोग देना चाहिए जिससे वह एक स्वस्थ प्रौढ़ता प्राप्त कर सकें।

2. बालकों के जन्म के सम्बन्ध में- बालकों के जन्म के सम्बन्ध में भी कुछ धारणाएं प्रमुख हैं जैसे- कुछ लोग मानते हैं कि शुभ नक्षत्र में पैदा होने वाला बालक भाग्यशाली होता है और उसका जीवन स्वयं के लिए तथा परिवार के लिए मंगलकारी होता है। इसी प्रकार जो बालक अशुभ नक्षत्र में जन्म लेता है वह अमंगलकारी होता है तथा जीवन परिवार तथा स्वयं के लिए कष्टप्रद होता है। इसी प्रकार सप्ताह के विभिन्न दिनों में जन्म लेने के सम्बन्ध में भी अलग-अलग अवधारणाएं ओर परम्परागत विश्वास हैं। अगर किसी बालक के जन्म के बाद परिवार में कोई शुभ कार्य होता है या परिवार की प्रगति व समृद्धि होती है वो उस बालक को भाग्यशाली मानकर उसे अन्य बालकों की तुलना में अधिक लाड़-प्यार दिया जाता है। इसके विपरीत यदि बालक के जन्म के समय या बाद में कोई अमंगल हो जाता है तो उस बालक को अमंगलकारी और मनहूस समझकर उसका समुचित पालन-पोषण नहीं किया जाता है। माता-पिता का यह परम्परागत विश्वास बालक के मन को हानि पहुंचाता है। ज्यादा लाड़-प्यार से बालक बिगड़ सकता है और उचित पालन-पोषण न मिलने पर वह विकास के विभिन्न क्षेत्रों में पिछड़ जाता है। ज्योतिष के अनुसार नक्षत्र व घड़ियाँ जीवन को प्रभावित अवश्य करती हैं किन्तु जन्म से ही किसी शिशु को मंगलकारी या अमंगलकारी नहीं बनाती हैं।

3. वंशानुक्रम के सम्बन्ध में- वंशानुक्रम के सम्बन्ध में यह धारणा है कि जैसे माता-पिता होते हैं, सन्तान भी वैसी ही बनती है। जैसे यदि माता-पिता शिक्षित, सुसंस्कृत तथा बुद्धिमान हैं तो संतानें भी बुद्धिमान और सुसंस्कृत होंगी, वहीं अशिक्षित, मूर्ख और दुराचारी माता-पिता की संतानें भी शत-

प्रतिशत ऐसी ही होंगी। इस मानसिकता के कारण कुछ माता-पिता अपने बालकों के विकास पर ध्यान नहीं देते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि बालकों में क्षमताएं होते हुए भी उसका विकास नहीं हो पाता है।

अनेक मनोवैज्ञानिकों का यह मानना है कि यद्यपि वंशानुक्रम बालक को क्षमताएं प्रदान करता है किन्तु इन क्षमताओं का विकास उपयुक्त वातावरण ही करता है। माता-पिता को चाहिए कि वंशानुक्रम को ही बालक के विकास का आधार न मानें बल्कि उनकी क्षमताओं के विकास के पर्याप्त अवसर व साधन प्रदान करें। बालक के समुचित विकास के लिए वंशानुक्रम और वातावरण दोनों का समान योगदान होता है।

4. गर्भकालीन प्रभावों के सम्बन्ध में- कुछ लोगों की यह अवधारणा होती है कि गर्भवती माँ की विभिन्न क्रियाएं जैसे परम्परागत उपचार, झाड़फूंक, सामाजिक रीति रिवाज और कुछ परम्पराएं गर्भस्थ शिशु के विकास को प्रभावित करती हैं। उदाहरण के लिए कुछ लोग मानते हैं कि यदि गर्भवती स्त्री मीठा पदार्थ अधिक खाती है तो बेटा होगा और यदि खट्टा और चटपटा पदार्थ अधिक खाती है तो बेटी होगी। इसी अवधारणा के अनुसार परिवार के सदस्य गर्भवती स्त्री की देखभाल करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अधिकांशतः पुत्र की ही कामना करता है। कुछ परिवारों में अगर गर्भवती स्त्री के संकेत पुत्र के हों तभी उसकी उचित देख-रेख की जाती है। परिवार के सदस्यों के इस प्रकार के व्यवहार का प्रभाव गर्भवती स्त्री की मानसिक दशा पर पड़ता है जिससे गर्भस्थ शिशु का विकास प्रभावित होता है।

इसी प्रकार यह भी अवधारणा है कि गर्भवती स्त्री को सम्पूर्ण गर्भकाल में घर की चाहरदीवारी में ही रहना चाहिए। घर से बाहर जाने पर बुरी आत्माएं, भूत-प्रेत आदि बाधाएं गर्भस्थ शिशु को प्रभावित करेंगी। ऐसी अवधारणा से भी गर्भवती स्त्री घर के अन्दर रहते-रहते तनावग्रस्त हो जाती है जिसका दुष्प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पड़ता है।

गर्भकालीन उपयुक्त व सन्तुलित भोजन, अच्छा साहित्य, अच्छा मनोरंजन, माँ की सुखदायक अनुभूतियाँ सभी गर्भस्थ शिशु के विकास के लिए सकारात्मक होती हैं। किन्तु इस बात में कोई तथ्य नहीं है कि गर्भधारण के बाद शिशु का लिंग परिवर्तित किया जा सकता है। शिशु जन्म एक अलौकिक प्रक्रिया है। बेटा व बेटी समान रूप से महत्वशाली व समान क्षमताओं से युक्त होते हैं। अतः प्रत्येक नये जीव की जन्म के बाद ही नहीं जन्म से पूर्व भी गर्भवती की उचित देखभाल के रूप में सेवा करनी चाहिए।

5. यौन भेद के सम्बन्ध में- हमारे कई धार्मिक ग्रन्थों में पुत्री की तुलना में पुत्र जन्म को श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि पुत्र माता-पिता को मोक्ष प्राप्त कराने में सहायक कहा गया है। इन्हीं प्राचीन मान्यताओं के कारण कई परिवारों में बालकों के जन्म को अधिक महत्व दिया जाता है। जो माता-पिता बालक-बालिकाओं में भेद करते हैं व बालिकाओं को बालकों की तुलना में कम लाड़-प्यार व सुविधाएं देते हैं, वह बालिकाओं में बचपन से ही हीन-भावना विकसित कर देते हैं।

यद्यपि वर्तमान समय में इस अवधारणा में अन्तर पाया गया है। शिक्षित माता-पिता बेटा और बेटी में फर्क नहीं मानते हैं। किन्तु कई ग्रामीण सोच वाले परिवार आज भी बेटी के जन्म पर प्रसन्न नहीं होते। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बालक व बालिकाओं में समान क्षमताएं होती हैं। अगर सही वातावरण व साधन दिये जाएं तो बालिकाएं कई क्षेत्रों में बालकों से भी अच्छा प्रदर्शन कर पाने में सक्षम हैं।

इस प्रकार बाल विकास के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ हैं जो किसी न किसी रूप में बालक के स्वस्थ विकास में अवरोध उत्पन्न करती हैं। माता-पिता को चाहिए कि वे अपनी मानसिकता को बदलें और बालक के सर्वांगीण विकास में अपना भरपूर योगदान दें।

अभ्यास प्रश्न 2

1. सही/गलत बताएं।

- बाल विकास से व्यक्तिगत भिन्नता की जानकारी नहीं मिलती।
- बाल विकास के अध्ययन द्वारा बालकों को उचित प्रशिक्षण में सहायता मिलती है।
- बाल विकास के सम्बन्ध में किसी तरह का पूर्वानुमान सम्भव नहीं है।
- शुभ नक्षत्रों में पैदा होने वाला बालक भाग्यशाली होता है।
- गर्भ धारण के बाद शिशु का लिंग परिवर्तित नहीं किया जा सकता है।

1.10 सारांश

बाल विकास एक निरंतर प्रक्रिया है जो हर आयु में विशिष्ट विशेषताओं को प्रदर्शित कर चलती ही रहती है। बाल विकास अत्यन्त ही व्यापक है। यह विभिन्न विकास क्षेत्र (शारीरिक, मानसिक, क्रियात्मक आदि) का अध्ययन तो करता ही है, साथ ही व्यक्ति के अन्य पहलू जैसे रुचियों, व्यक्तित्व, व्यक्तिगत भिन्नताओं, असमानताओं व व्यवहारों का भी अध्ययन करता है। प्राणी के प्रारम्भिक विकास को जीवन में अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है। अतः बाल विकास का अध्ययन माता-पिता, अभिभावक तथा शिक्षकों के लिए अति लाभदायक सिद्ध होता है। इससे बालक के

अनेक रूप में अध्ययन सम्भव हैं जैसे पोषण विधियाँ, विकास अवस्थाओं का ज्ञान, व्यक्तित्व निर्माण, प्रशिक्षण सहायता, विकासात्मक क्रियाओं की जानकारी आदि। बाल विकास के विज्ञान को समझकर परिवार में कुछ प्रचलित भ्रान्तियों और परम्परागत विश्वास से भी बचा जा सकता है जो बालक के विकास पर बुरा प्रभाव डाल सकती हैं। माता-पिता को बालक के विकास के लिए हर रूप में तत्पर रहना चाहिए क्योंकि एक बालक ही परिवार, समाज व राष्ट्र का गौरव बढ़ाता है।

1.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. सही/गलत बताएं।
 - a. गलत
 - b. गलत
 - c. सही
 - d. सही
 - e. गलत

अभ्यास प्रश्न 2

1. सही/गलत बताएं।
 - a. गलत
 - b. सही
 - c. गलत
 - d. गलत
 - e. सही

1.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. एलीजाबेथ बी0 हरलॉक: चाइल्ड डवलपमेन्ट (तीसरा संस्करण) मैक ग्रो हिल बुक कम्पनी, टोक्यो जापान।
2. लौरा इ.बर्क (1989): चाइल्ड डवलपमेन्ट (छठा संस्करण), पियरसन हायर एजुकेशन पब्लिकेशन।
3. www.hi.vikaspedia.com

4. www.study.com
5. www.studylecturenates.com
6. www.unicef.org.
7. www.childencyclopedia.com
8. www.ecep.uark.edu
9. www.gradeup.co/studynotes:balvikas aur Adhyapankala

1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. बाल विकास की व्यापकता व विभिन्न रूपों का विस्तृत वर्णन करें।
2. बाल विकास की प्रकृति से आप क्या समझते हैं?
3. बाल विकास के अध्ययन का महत्व बताएं।
4. प्राणी के जीवन में प्रारम्भिक विकास अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस पर व्याख्या करें।
5. बाल विकास के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तियों एवं परम्पराओं की विस्तृत चर्चा करें।

इकाई 2 बाल विकास का आधार

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 बाल विकास के क्षेत्र
- 2.4 वंशानुक्रम व वातावरण का बाल विकास पर प्रभाव
 - 2.4.1 वंशानुक्रम का अर्थ
 - 2.4.2 वंशानुक्रम का महत्व
 - 2.4.3 वातावरण का अर्थ
 - 2.4.4 वातावरण का महत्व
- 2.5 परिपक्वता और अधिगम का विकास पर प्रभाव
 - 2.5.1 परिपक्वता का अर्थ
 - 2.5.2 परिपक्वता का महत्व
 - 2.5.3 अधिगम का अर्थ
 - 2.5.4 अधिगम का महत्व
- 2.6 बाल विकास की अवस्थाएं
- 2.7 सारांश
- 2.8 अभ्यास पत्रों के उत्तर
- 2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

बाल विकास सामान्य रूप से देखने में एक सरल व स्वाभाविक प्रक्रिया प्रतीत होती है। वास्तविकता में यह एक विस्तृत व जटिल प्रक्रिया है। प्राणी की लम्बाई- चौड़ाई ही नहीं, यह हर क्षेत्र को समान रूप से दर्शाती है जिससे बालक की प्रत्येक गतिविधि, भाषा, क्रिया, व्यवहार व व्यक्तित्व का ज्ञान होता है। बाल विकास के कुछ आधारभूत मूल्यों के बारे में इस इकाई में चर्चा की गई है जिससे इस विस्तृत प्रक्रिया के विभिन्न स्वरूपों व पहलुओं को जाना जा सकता है। बाल विकास हर आयु में भिन्न- भिन्न रूप में होता है तथा बालक को अनेक परिवर्तन श्रृंखला से गुजारता हुआ अंततः

वृद्धावस्था तक ले जाता है। बाल विकास इन परिवर्तनों का समुचित ज्ञान विस्तृत रूप से प्रदान करता है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जानेगें;

- बाल विकास के क्षेत्र;
- वंशानुक्रम व वातावरण का बाल विकास पर प्रभाव;
- परिपक्वता व अधिगम का बाल विकास पर प्रभाव; तथा
- बाल विकास की अवस्थाएं।

2.3 बाल विकास के क्षेत्र

बाल विकास के कई क्षेत्र होते हैं। केवल एक ही क्षेत्र का विकास होने पर बालक का सम्पूर्ण विकास असम्भव है। सभी क्षेत्रों में विकास लगातार एक साथ चलता रहता है। एक ही समय में बालक विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न गति से विकास को प्राप्त करता है। विकास के कई क्षेत्र हैं यथा- शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक तथा बौद्धिक। यह सभी क्षेत्र बालक के विकास में समान रूप से विशेषता रखते हैं। किसी भी एक क्षेत्र के विकास के रुक जाने से बालक के सर्वांगीण विकास पर असर पड़ता है। इन क्षेत्रों में मुख्यतः शारीरिक विकास को ही प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। बाकि सभी क्षेत्रों के विकास को केवल अनुभव किया जा सकता है। विकास के प्रमुख क्षेत्र निम्नलिखित हैं-

1. शारीरिक विकास- शारीरिक विकास से तात्पर्य शरीर के अंगों में होने वाले विकास से है। इस विकास के अन्तर्गत बाह्य शारीरिक विकास जैसे लम्बाई, वजन, शारीरिक गठन तथा आन्तरिक विकास जैसे माँसपेशियाँ, स्नायुमण्डल, अस्थियाँ तथा अन्य आन्तरिक अंगों से विकास का अध्ययन किया जाता है।

जन्म से पूर्व गर्भाधान के समय से ही शिशु का शारीरिक विकास शुरू हो जाता है। जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में यह भिन्न-भिन्न गतियों से चलता है। जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में यह विकास अत्यधिक तेजी से देखा जाता है।

शारीरिक विकास में बालक का सम्पूर्ण जैविक शरीर आता है। हर कोशिका का निर्माण व पुरानी का निष्कासन, सभी अन्तरिक अंगों की परिपक्वता तथा सभी बाह्य अंगों का विकास ही सम्पूर्ण शारीरिक विकास लाता है। परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि सभी अंगों का विकास समान गति से ही होगा। कुछ अंगों का विकास किसी विशिष्ट अवस्था में ही होता है। इससे पहले की आयुवस्था में यद्यपि लम्बाई, भार आदि तेजी से बढ़ते हैं, परन्तु जनन अंग किशोरावस्था में ही विकसित होते हैं।

2. संवेगात्मक विकास- बालक के विकास क्रम में संवेगात्मक विकास बहुत महत्वपूर्ण होता है। संवेगों के विकास की प्रक्रिया बेहद जटिल होती है। बालकों में संवेगों का विकास कब और कैसे होता है यह समझना बेहद कठिन है। विभिन्न वैज्ञानिकों ने अनेकों अध्ययनों द्वारा अलग-अलग मतों को रखा है, जिनमें यह बताया गया है कि किस प्रकार की परिस्थिति में बालक कौन सा संवेग किस प्रकार उत्पन्न करता है। संवेग कई प्रकार के होते हैं जिनमें हर्ष, प्रसन्नता, आनन्द, दया, सहानुभूति तथा प्रेम को शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। इन्हें सकारात्मक संवेग भी कहते हैं क्योंकि ये बालक पर अच्छा प्रभाव डालते हैं। इसके विपरीत क्रोध, भय, घृणा, ईर्ष्या तथा चिन्ता शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं तथा यह नकारात्मक संवेगों के अन्तर्गत आते हैं।

3. सामाजिक विकास- मानव सामाजिक प्राणी कहा जाता है अर्थात् समाज में जीवन जीने वाला। हमारे आस-पास का वातावरण दो प्रकार का होता है- भौतिक एवं सामाजिक। भौतिक वातावरण में हवा, रोशनी, पेड़-पौधे, वातावरण निहित हैं तथा सामाजिक वातावरण में आस-पास के लोग, समुदाय निहित हैं, वही हमारा सामाजिक वातावरण कहलाता है। इन्हीं व्यक्तियों से बने समाज के अन्तर्गत रहने से बालक में कुछ अभिरुचियों का निर्माण होता है जो उसके खान-पान, व्यवहार, बोलचाल, व्यक्तित्व व गुणों का निर्धारण करती हैं। यही सामाजिक विकास कहलाता है। अतः बालक के भीतर सामाजिक व्यवहारों की उत्पत्ति ही सामाजिक विकास होता है। जैसे-जैसे आयु बढ़ती है, सामाजिक विकास का विस्तार होता रहता है। शिशु अवस्था में ही वातावरण के प्रति विभिन्न प्रतिक्रियाएं देखने को मिलती हैं। शिशु प्रारम्भ में अपनी माता के ऊपर पूर्णतः आश्रित होता है। माता उसे पूर्ण लगाव के साथ प्रत्येक आवश्यकता का ध्यान रखते हुए पालती है जिससे बालक माता के प्रति स्नेह रखता है। धीरे-धीरे वह पूरे परिवार से परिचित हो उनके अनुरूप ढलने लगता है। परिवार की सोच व रहन-सहन अपने व्यक्तित्व में अपनाने लगता है। बाल्यावस्था में बालक विद्यालय तथा मित्र मण्डली से प्रभावित हो अपने सामाजिक विकास का विस्तार प्राप्त करता है।

आगे जाकर उच्चशिक्षा, नौकरी/व्यवसाय में अन्य व्यक्तियों का सानिध्य प्राप्त कर बालक विभिन्न मानसिकताओं व व्यवहारों की सीख कर धीरे-धीरे एक परिपक्व व्यक्तित्व को धारण करता है जैसे नेतृत्व, मित्रता, आत्मप्रदर्शन, सहकारिता आदि।

4. क्रियात्मक विकास- बालक के विकास के विभिन्न क्षेत्रों में सबसे तेजी से होने वाला विकास क्रियात्मक विकास है। क्रियात्मक विकास से तात्पर्य माँसपेशियों पर नियंत्रण कुशलता से है। प्रारम्भ में जो शिशु पूर्णतः असहाय होता है, अपनी हर आवश्यकता के लिए दूसरों पर आश्रित होता है व सिर्फ एक जगह लेटा रहता है, वह ही शिशु क्रियात्मक विकास द्वारा धीरे-धीरे पलटना, बैठना, खड़े होना सीखता है। यही बालक किशोरावस्था तक आते-आते विभिन्न कौशल प्राप्त कर एक सम्पूर्ण व्यक्ति में बदल जाता है। पैरों की माँसपेशीय कुशलता से धावक बन जाता है या हाथों की कुशलता द्वारा कलाकार बन जाता है। यह सब क्रियात्मक विकास के द्वारा ही सम्भव है।

बालक के उचित क्रियात्मक विकास के लिए वातावरण बहुत महत्वपूर्ण है। बालक के खेल व बाल-सुलभ जिज्ञासाएं उसे विभिन्न क्रियात्मक कार्यों के लिए प्रेरित करती हैं। इन्हीं क्रियाओं के माध्यम से बालक कई गतिविधियों व योग्यताओं को प्राप्त करता है। अतः उसे विभिन्न क्रियाओं एवं खेलकूद के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए एवं उचित सामग्री प्रदान करनी चाहिए।

5. मानसिक विकास- मानसिक विकास से तात्पर्य बौद्धिक क्षमताओं के विकास से है जिनके आधार पर कोई भी बालक आयु वृद्धि के साथ-साथ अपने नवीन वातावरण की वस्तुओं का बोध प्राप्त करता है और तदानुसार समायोजन का प्रयास करता है। बालक धीरे-धीरे अपने वातावरण व समाज से प्रभावित हो विभिन्न गतिविधियों में लिप्त होता है जिससे वह समाज में अपनाया जाता है। मानसिक विकास के अंतर्गत विभिन्न 'प्रत्ययों' (concepts) का अध्ययन किया जाता है। जीवन काल में जो भी क्रिया, प्रक्रिया बालक देखता है उसे अपने मस्तिष्क में स्थापित कर पहले से सीखी गई क्रियाओं में सम्मिलित कर संशोधन करता है। यह ही प्रत्यय कहलाते हैं। उदाहरण के लिए एक नन्हे बालक को उसकी दादी की मृत्यु का बोध नहीं होता। वह यह समझता है कि वह कहीं चली गई हैं। कुछ वर्ष बाद उसे पता चलता है कि वृद्धावस्था में जीवन समाप्ति हो जाती है। यहाँ वह मृत्यु प्रत्यय की समझ ग्रहण करता है। बाद में अपने आस-पास की घटनाओं व वृत्तान्तों के बारे में जानकर उसे यह ज्ञात होता है कि मृत्यु वृद्धावस्था से पहले भी हो सकती हैं। यहाँ वह अपने पुराने ज्ञान में संशोधन कर मृत्यु प्रत्यय को सम्पूर्णतः जान पाता है। अतः मानसिक विकास बालक को वह समझ व योग्यता प्रदान करता है जिससे वह शिक्षण, सामाजिक व व्यक्तिगत रूप से विकसित हो पाता है।

2.4 वंशानुक्रम व वातावरण का बाल विकास पर प्रभाव

वास्तव में मानव व्यक्तित्व दो प्रभावी तत्वों- वंशानुक्रम व वातावरण की देन है। बाल मनोवैज्ञानिक कोल तथा ब्रूस के अनुसार जीव गर्भधारण के समय से ही वंशानुगत क्षमता के अनुसार ही संवेदनशील, सक्रिय रहने वाला, प्रभावी व्यक्ति के रूप में विकसित होता है। परन्तु इस तरह विकसित होने के लिए मानव को आवश्यकतानुसार साधन वातावरण द्वारा मिलते हैं। अगर साधनों का उद्दीपन उचित प्रकार न हो तो विकास प्रभावित होता है।

2.4.1 वंशानुक्रम का अर्थ

प्राणी को स्वाभाविक तौर से कुछ गुण परम्परागत रूप से प्राप्त होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि बालक रूप, रंग, आकृति, विद्वता आदि में माता-पिता से मिलता है। दूसरे शब्दों में उसे अपने माता-पिता के शारीरिक एवं मानसिक गुण प्राप्त होते हैं। इसी को हम वंशानुक्रम कहते हैं।

2.4.2 वंशानुक्रम का महत्व

1. वंशानुक्रम के कारण ही बालकों में शारीरिक भिन्नता पायी जाती है। बालक के शारीरिक विकास का उसकी शिक्षा पर भी प्रभाव पड़ता है। इसलिए शारीरिक विकास और व्यक्तिगत भिन्नता का पूरा ध्यान रखते हुए शिक्षा व्यवस्था करनी चाहिए। इसे ध्यान में रखकर ही विभिन्न कक्षाओं में विषय वस्तु का निर्धारण किया जाता है।
2. वंशानुक्रम के कारण बालकों की जन्मजात क्षमताओं और योग्यताओं में अन्तर होता है जिससे सीखने की योग्यता में भी अन्तर आ जाता है। कुछ बालक किसी चीज को शीघ्र ही सीख लेते हैं और कुछ देर से सीख पाते हैं।
3. कुछ बालकों में वंशानुक्रम जनित विकार आ जाते हैं। ऐसे बालकों में अक्सर हीन भावना आ जाती है जिससे उनका मानसिक विकास प्रभावित होता है।
4. बालकों को वंशानुक्रम से कुछ प्रवृत्तियां प्राप्त होती हैं जो वांछनीय तथा अवांछनीय दोनों प्रकार की हो सकती हैं। वंशानुक्रम के ज्ञान से इन प्रवृत्तियों का अध्ययन करके वांछनीय प्रवृत्तियों का विकास और अवांछनीय प्रवृत्तियों का दमन या मार्गान्तरीकरण किया जा सकता है अर्थात् बालक के अभद्र स्वभाव को सुधारकर भद्र स्वभाव का विकास किया जा सकता है।

2.4.3 वातावरण का अर्थ

वातावरण के लिए पर्यावरण शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। पर्यावरण दो शब्दों से मिलकर बना है परि + आवरण। परि का अर्थ है चारों ओर एवं आवरण का अर्थ है ढकने वाला। इस प्रकार

वातावरण वह वस्तु है जो चारों ओर से ढके या घेरे हुए है। अतः व्यक्ति के चारों ओर जो कुछ है वह उसका वातावरण है। इसमें वे सब तत्व सम्मिलित किये जा सकते हैं जो व्यक्ति के जीवन और व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

2.4.4 वातावरण का महत्व

1. बालक अपना अधिकांश समय अपने परिवार, पड़ोस, मोहल्ले तथा खेल के मैदान में व्यतीत करता है, जिससे उसके विकास पर प्रभाव पड़ता है। इन स्थानों के वातावरण का ज्ञान होने पर बालक को उचित निर्देशन देकर उसके विकास को सही दिशा प्रदान की जा सकती है। इसके साथ ही विकास संबंधी समस्याओं का समाधान भी किया जाता है।
2. वातावरण से संबंधित परिक्षणों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि बालक के व्यवहार पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। शैक्षिक गतिविधियों खेलकूद, व्यायाम आदि द्वारा मानसिक क्षमता के निर्माण के साथ ही चरित्र निर्माण भी प्रभावित होता है।
3. बालक के विकास की दिशा को वातावरण निश्चित करता है। अनुकूल वातावरण मिलने पर बालक सदाचारी और चरित्रवान बनता है तथा प्रतिकूल वातावरण मिलने पर दुराचारी और चरित्रहीन हो सकता है।
4. बालक की अन्तर्निहित शक्तियों का विकास वातावरण द्वारा होता है। इन अन्तर्निहित शक्तियों का स्वाभाविक विकास उपयुक्त वातावरण में ही हो सकता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के मतों से यह स्पष्ट होता है कि मानव के विकास में वातावरण और वंशानुक्रम दोनों का ही महत्वपूर्ण योगदान है। विकास की दृष्टि से किसी एक के भी अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता है। मानव विकास क्रम में वंशानुक्रम और वातावरण की उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी कि एक पौधे के विकास के लिए बीज तथा भूमि, जल, वायु और खाद की। जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है उसी प्रकार उसके स्वस्थ विकास के लिए हवा, पानी, और प्रकाश और खाद की आवश्यकता होती है। अर्थात् अनुवांशिक क्षमताओं के विकास के लिए उपर्युक्त और सुन्दर वातावरण की आवश्यकता होती है। इन दोनों द्वारा ही मानव का सर्वांगीण विकास सम्भव है। एक का प्रभाव दूसरे से कम या अधिक कहना व्यर्थ है।

2.5 परिपक्वता और अधिगम का विकास पर प्रभाव

जिस प्रकार मानव विकास पर वंशानुक्रम और वातावरण का प्रभाव पड़ता है, ठीक उसी प्रकार परिपक्वता और अधिगम भी विकास को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। वैसे यदि देखा जाये तो परिपक्वता और अधिगम, वंशानुक्रम और वातावरण के ही प्रतिरूप हैं। परिपक्वता का सम्बन्ध आनुवांशिकता तथा वातावरण का सम्बन्ध अधिगम से होता है। परिपक्वता का तात्पर्य शरीर के आंतरिक अंगों में प्रौढ़ता आने से है तथा अधिगम से तात्पर्य व्यक्ति के सीखने और अनुभव प्राप्त करने से है। परिपक्वता तथा अधिगम भी एक-दूसरे के पूरक हैं क्योंकि जब तक शारीरिक अंगों का पूर्ण विकास नहीं होता और उनमें परिपक्वता नहीं आती है, तब तक अधिगम अप्रभावी रहता है।

2.5.1 परिपक्वता का अर्थ

विकास क्रम में परिपक्वता प्राणी में नित नये शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों का अविर्भाव करती है किन्तु इनकी उत्पत्ति एकाएक नहीं होती है अपितु इनकी उत्पत्ति जन्म पूर्व से ही हो जाती है, जो जन्म के बाद विभिन्न परिवर्तनों के रूप में प्रकट होती हैं। अतः परिपक्वता शरीर के अंगों की स्वाभाविक क्रियाशीलता है।

2.5.2 परिपक्वता का महत्व

1. परिपक्वता क्रियात्मक कौशलों के विकास में सहायक होती है। बालक के शारीरिक अंगों में परिपक्वता न आने के कारण वह विभिन्न प्रकार के कौशलों को विकसित करने में असमर्थ रहता है। जैसे-जैसे परिपक्वता आती है क्रियात्मक कौशल स्वतः ही विकसित होते जाते हैं। परिपक्वता के बिना कौशलों का विकास संभव नहीं है।
2. परिपक्वता प्राणी के विकास को निर्दिष्ट दिशा में पहुँचाती है। परिपक्वता के द्वारा जब प्राणी विभिन्न शारीरिक और मानसिक क्षमताएं प्राप्त करता है तो उसकी क्रियाएं और व्यवहार स्वतः ही कार्यात्मक तत्परता की अवस्था में पहुँच जाते हैं।
3. परिपक्वता बोध, संवेगात्मक विकास और समस्या समाधान में सहायक होती है। जब बालक विभिन्न आयु स्तरों पर विभिन्न शारीरिक योग्यताओं को प्राप्त करता है व आस-पास के वातावरण की विभिन्न वस्तुओं को समझने लगता है तो उससे प्राप्त मानसिक परिपक्वता ही उसके समुचित विकास का निर्धारण करती है।

2.5.3 अधिगम का अर्थ

अधिगम का अर्थ है सीखना। सीखना प्राणी के जीवन का आवश्यकता अंग है क्योंकि इसी प्रक्रिया के द्वारा प्राणी जीवन के प्रत्येक स्तर पर समायोजन प्राप्त करता है। वातावरण की अनुभूतियों में जो परिवर्तन आता है वह सब सीखने की क्रिया का ही परिणाम होते हैं। बाल विकास में अधिगम का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि अधिगम का प्रभाव व्यक्ति के विकास पर जीवनपर्यन्त पड़ता रहता है।

2.5.4 अधिगम का महत्व

1. अधिगम अविराम प्रक्रिया है। विकास की प्रत्येक अवस्था में परिस्थितियों से समायोजन करने कि लिए मानव निरंतर कुछ न कुछ सीखता रहता है और क्रियाशील बना रहता है।
2. अधिगम जीवन को प्रगतिशील व सफल बनाती है। अधिगम एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्राणी बहुत सा ज्ञान प्राप्त कर एक सफल व बुद्धिमान व्यक्तित्व को धारण करता है। अतः अधिगम मानसिक विकास के लिए अत्यावश्यक है।
3. अधिगम परिपक्वता तथा अनुभव का परिणाम होता है। विकास क्रम में प्राणी कोई भी व्यवहार अधिगम द्वारा एकाएक ग्रहण नहीं कर लेता है अपितु विकास के विभिन्न स्तरों पर अधिगम परिपक्वता का ही परिणाम होता है।
4. अधिगम एक संचयी प्रक्रिया है। इस जटिल मानसिक प्रक्रिया के दौरान प्राणी विभिन्न क्रियाओं, व्यवहारों, अभिवृत्तियों तथा आदतों को सीखता है और अपने कार्यों व व्यवहारों में स्थायी परिवर्तन कर इन सबका संचय करता है जिससे ज्ञान का विस्तार होता है।

अधिगम और परिपक्वता बाल विकास के महत्वपूर्ण कारक हैं। दोनों एक-दूसरे से इतने अधिक सम्बन्धित हैं कि एक के अभाव में दूसरा अपूर्ण रहता है। विकास क्रम में दोनों क्रियाएं साथ चलती हैं लेकिन फिर भी दोनों में अन्तर दिखाई देता है। अधिगम का आधार परिपक्वता है जो कि केवल शारीरिक क्षेत्र में ही नहीं मानसिक क्षेत्र में भी होता है। परिपक्वता सीखने की क्रिया में सहायता पहुँचाती है। जैसे-जैसे बालक की क्षमताओं में संतुलन व शक्ति आती है, शारीरिक व मानसिक अंग परिपक्व होकर अधिगम के लिए आधार का कार्य करने लगते हैं।

अभ्यास प्रश्न 1

1. सही/ गलत बताएं।
 - a. जन्म से दो वर्षों तक शारीरिक विकास की गति तीव्र रहती है।

- b. क्रोध एक सकारात्मक संवेग है।
- c. मानसिक विकास के अन्तर्गत विभिन्न प्रत्ययों का अध्ययन किया जाता है।
- d. बालक को रंग, रूप, आकृति व विद्वता वंशानुक्रम से मिलते हैं।
- e. परिपक्वता क्रियात्मक कौशलों के विकास में सहायक होती है।

2. निम्न वाक्यों हेतु एक शब्द में उत्तर दें।

- a. इस विकास क्षेत्र के अन्तर्गत लम्बाई व वजन बढ़ना आता है।
- b. “..... वह बाहरी शक्ति है जो हमें प्रभावित करती है।”
- c. यह एक नकारात्मक संवेग है।
- d. इस विकास द्वारा बालक माँसपेशियों पर नियंत्रण सीखता है।
- e. व्यक्ति को अपने माता-पिता से पूर्वजों की जो विशेषताएं प्राप्त होती हैं उसे कहते हैं।

2.6 बाल विकास की अवस्थाएं

विकास प्रक्रिया जीवन भर चलने वाली सतत् प्रक्रिया है। जीवन काल में हर आयु में यह भिन्न गति धारण करते हुए अनेक परिवर्तनों व गुणों को प्राप्त करती है। बाल विकास व बाल अध्ययन की दृष्टि से इसका वर्गीकरण विभिन्न अवस्थाओं के रूप में किया गया है। यह विभाजन उन अवस्थाओं की विशेषताओं के कारण है। विशेषताओं के कारण ही एक अवस्था दूसरी से पृथक दिखाई देती है। विकास की अवस्थाएं निम्नलिखित हैं:

1. गर्भकालीन अवस्था- यह अवस्था निषेचन अथवा गर्भाधान से जन्म तक मानी जाती है। अतः इसमें समस्त विकास माता के गर्भ में होता है। अन्य विकास अवस्थाओं की तुलना में इस अवस्था में विकास अत्यधिक तीव्र गति से होता है। शुक्राणु व अण्डे के मेल से समस्त मानव रचना, भार, आकार का निर्माण इसी अवस्था में होता है। इस अवस्था में मुख्यतः शारीरिक परिवर्तन ही देखे जाते हैं। सम्पूर्ण गर्भकालीन अवस्था की जटिलता को विकास अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया जाता है-

- **बीजावस्था-** गर्भाधान से दो सप्ताह तक की अवस्था को बीजावस्था कहते हैं। इस अवस्था में प्राणी एक कोशिका मात्र के आकार का होता है। उसके भीतर तीव्र गति से कोशिका विभाजन होता रहता है परन्तु ऊपर से कुछ दिखाई नहीं देता। लगभग एक सप्ताह तक वह गर्भाशय में तैरता

रहता है व अपना पोषण स्वयं करता है। उसके बाद यह गर्भाशय की भित्ति से चिपक जाता है व पोषण के लिए पूर्णतः माता पर आश्रित होता है। भ्रूण के गर्भाशय से जुड़ान बिन्दु पर एक संरचना विकसित होती है। इसे गर्भनाल कहते हैं। इस नाल के द्वारा भ्रूण सम्पूर्ण गर्भावस्था में माता द्वारा पोषण प्राप्त करता है। इसी कारण गर्भावस्था में माता का पोषण शिशु को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है।

- **भ्रूणावस्था-** यह अवस्था तीसरे सप्ताह से दूसरे माह के अन्त तक मानी जाती है। इस अवस्था में गर्भस्थ जीव को भ्रूण कहते हैं। तीव्र कोशिका विभाजन के फलस्वरूप भ्रूण की शारीरिक संरचना में त्वरित परिवर्तन होने लगते हैं। दूसरे माह के अन्त तक भ्रूण की लम्बाई लगभग दो इन्च तक व वजन लगभग दो ग्राम तक हो जाता है। शरीर के सभी प्रमुख अंगों का प्रारम्भिक विकास इसी अवस्था में होता है। इसी कारण इस अवस्था में अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता होती है। शारीरिक, मानसिक या रासायनिक आघात इस अवस्था में भ्रूण में विभिन्न विसंगतियाँ उत्पन्न कर सकता है। इस अवस्था में भ्रूण का स्वरूप स्पष्ट रूप से नहीं दिखता, न ही वह मानव आकृति से मेल खाता है। उसका सिर शरीर की तुलना में अत्यधिक बड़ा, कान काफी नीचे व नाक की जगह मात्र एक छेद दिखता है।

इस अवस्था में भ्रूण के शरीर का तीन परतों में विभाजन होता है।

- बाहरी परत (एक्टोडर्म): इससे शरीर की बाह्य संरचना जैसे त्वचा, रंग, बाल, नाखून, दाँत व नाड़ी मण्डल का निर्माण होता है।
- मध्य परत (मीजोडर्म): इससे शरीर की माँसपेशियों का निर्माण होता है।
- आतंरिक परत (एन्डोडर्म): आन्तरिक परत से समस्त आन्तरिक अंग जैसे फेफड़े, हृदय, यकृत, पाचन तन्त्र तथा समस्त ग्रन्थियों आदि का निर्माण होता है।

- **गर्भकालीन अवस्था-** यह अवस्था तीसरे माह से शिशु जन्म तक चलती है। इस अवस्था में केवल निर्माण ही नहीं अपितु विकास भी अत्यधिक तीव्र गति से होता है। भ्रूणावस्था में सभी अंगों का प्रारम्भिक निर्माण हो चुका होता है। इस अवस्था में भ्रूण के सभी अंग विकसित होते हैं। गर्भकालीन अवस्था के प्रारम्भ होने से प्रत्येक माह गर्भस्थ शिशु के आकार और भार में निरंतर वृद्धि होती रहती है। इस अवस्था में विभिन्न आन्तरिक अंग स्वतन्त्र रूप से कार्य करना भी प्रारम्भ कर देते हैं जैसे हृदय, फेफड़े आदि। यद्यपि भ्रूण की ज्ञानेन्द्रियाँ विकसित हो चुकी होती हैं परन्तु वास्तविक वातावरण के अभाव में ज्ञानेन्द्रित संवेदनाएं लगभग शून्य ही होती हैं।

2. शैशवावस्था- जन्म से लेकर दो सप्ताह की अवस्था को शैशवावस्था कहा जाता है। गर्भावस्था में शिशु अपने पोषण, शारीरिक आवश्यकताओं जैसे श्वास आदि के लिए पूर्णतः गर्भनाल पर आश्रित होता है। परन्तु जन्म के बाद शिशु को माँ के शरीर से अलग करने के लिए इस नाल को काट दिया जाता है। इससे शिशु एक पूर्ण स्वतन्त्र जीव की तरह बाहरी संसार में जीवन जीने लगता है। गर्भ का वातावरण व बाहरी वातावरण एक-दूसरे से अत्यधिक भिन्न होते हैं। अतः शिशु को बाहरी वातावरण में समायोजन करना पड़ता है। इस अवस्था को इसी कारण **‘समायोजन की अवस्था’** भी कहते हैं। शिशु बाहरी वातावरण में समायोजन होने की कठिन प्रक्रिया में आरम्भ के प्रथम सप्ताह में कुछ वजन कम करते हैं। परन्तु दूसरे सप्ताह से ही वह इस वजन को फिर से बढ़ा लेते हैं। शिशु का समायोजन उसके स्वास्थ्य पर पूर्णतः आश्रित होता है। अगर शिशु स्वस्थ है और एक सामान्य व सम्पूर्ण गर्भावस्था के बाद जन्मा है तो निश्चित तौर पर वह जन्म के बाद आसानी से समायोजन कर पाने में सफल होता है। वहीं दूसरी ओर अगर शिशु कमजोर है व समय से पहले जन्मा है तो समायोजन की प्रक्रिया उसके लिए काफी चुनौतीपूर्ण होती है।

सामान्यतः शैशवावस्था में शिशु को निम्न चार समायोजन करने होते हैं:

- **तापमान से समायोजन-** माता के गर्भ में शिशु द्रव में रहता है। इसका तापमान लगभग सामान्य शारीरिक तापमान से कुछ (ज्यादा लगभग 100° फेरेन्हाइट) होता है। परन्तु बाहरी तापमान लगभग $60-70^{\circ}$ फेरेन्हाइट होता है। अतः शिशु को इस तापमान से सामन्जस्य स्थापित करना होता है। इसी कारण शिशु को कपड़े से ढक कर रखा जाता है।
- **श्वासन से समायोजन-** गर्भकाल में शिशु के रक्त में ऑक्सीजन माता द्वारा गर्भनाल से पहुँचायी जाती है परन्तु जन्म से बाद शिशु को स्वतः श्वास लेनी होती है। जन्म लेने के तुरन्त बाद क्रन्दन की क्रिया द्वारा शिशु के फेफड़े काम करना शुरू कर देते हैं जिससे शिशु की श्वसन क्रिया भी आरम्भ हो जाती है।
- **पोषण से समायोजन-** जन्म के बाद गर्भनाल से अलग होकर शिशु को पोषण स्वयं ग्रहण करना होता है। वह अपनी स्वाभाविक क्रिया अर्थात् चूसने की क्रिया द्वारा माता का दूध ग्रहण करना सीखता है।
- **निष्कासन का समायोजन-** गर्भावस्था में शिशु अपशिष्ट पदार्थों का निष्कासन गर्भनाल द्वारा ही करता है। जन्म के बाद निष्कासन का प्रक्रिया भी उसे स्वयं करनी होती है।

अतः इस अवस्था में शिशु को अत्यधिक देखभाल की आवश्यकता होती है। उचित देखभाल के अभाव में वह रोगग्रस्त हो सकता है।

3. शैशवावस्था- यह अवस्था दो सप्ताह से दो वर्ष तक चलती है। इस अवस्था में शिशु अपनी शारीरिक आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर ही निर्भर रहता है क्योंकि वह काफी छोटा व अशक्त होता है। जन्म लेने के बाद 4 सप्ताह तक शिशु अपना सिर घुमाने लगता है। हाथ-पैरों की अनिश्चित स्वाभाविक गति प्रारम्भ हो जाती है। 1-3 माह की अवस्था में वह इधर-उधर देखना आरम्भ कर देता है। 4-6 माह में प्रत्येक वस्तु को छूना व मुँह में लेना आरम्भ करता है। 7-9 माह का बालक बिना सहारे से बैठने लगता है। इसी दौरान शिशु के दाँत भी निकलना आरम्भ हो जाते हैं। 12-15 माह का बालक आसानी से किसी सहारे से खड़ा होने लगता है। 15 से 18 माह में डगमगा कर चलना सीखता है। 2 वर्ष का होते-होते वह एक जगह पर दोनों पैरों से उछलना भी सीख जाता है।

इसी तरह मानसिक व संज्ञानात्मक विकास में भी शैशवावस्था में शिशु में कई विशेषताएं दिखाई देती हैं। 0-4 सप्ताह में ही शिशु माँ व अन्य व्यक्तियों में विभेद करना सीख जाता है। शिशु रो कर भूख, थकान व पीड़ा व्यक्त करने लगता है। 4-6 माह की अवस्था में शिशु हँसना सीखता है, वह मुस्कराते चेहरों व दर्पण में स्वयं को देखकर मुस्कराता है। 10-12 माह में पापा, मम्मी आदि शब्दों को स्पष्ट रूप से बोलने लगता है। 18 माह तक वह कई परिवार के सदस्यों से लगाव दिखाने लगता है। इस अवस्था में शिशु स्वकेन्द्रित होता है। वह प्रत्येक वस्तु जैसे खिलौने, माता-पिता तथा आसपास की चीजों पर अपना एकाधिकार समझता है। बालक 20 वर्ष तक कई शब्दों को जान लेता है। अपनी आवश्यकताओं को समझ कर उनको अभिव्यक्त करना सीख जाता है।

संवेगात्मक विकास की दृष्टि से बालक में लगभग सभी प्रमुख संवेग जैसे प्रसन्नता, क्रोध, हर्ष, भय, प्रेम आदि उदय हो जाते हैं। इस अवस्था में संवेगों का प्रकटीकरण तीव्र होता है किन्तु वे क्षणिक होते हैं।

4. बाल्यावस्था- विकास की दृष्टि से बाल्यावस्था एक महत्वपूर्ण अवस्था मानी जाती है क्योंकि इसमें अधिकाधिक रूप से शारीरिक व मानसिक विकास होता है। बाल्यावस्था दो वर्ष से बारह वर्ष तक चलती है लेकिन अध्ययन की दृष्टि से इसे दो भागों में बाँटा गया है-

- **पूर्व बाल्यावस्था-** यह अवस्था दो से छः वर्ष तक होती है। इस अवस्था में शैशवावस्था से प्रारम्भ हुए सभी विकास क्षेत्रों का विस्तार होता है। बालक के समाजीकरण का आरम्भ होता है। परिवार में माता-पिता, भाई-बहन तथा अन्य सदस्यों के साथ बालक अपनत्व महसूस करता है।

बालक का सामाजिक विकास उसकी परिवार में स्थिति, पालन-पोषण की शैली तथा सामाजिक समायोजन से निर्धारित होता है। पूर्व बाल्यावस्था को 'टोली पूर्व' अवस्था भी कहा जाता है। बालक इस अवस्था में स्वतन्त्र रूप से खेलते रहते हैं अर्थात् बालक अकेला होने पर भी प्रसन्न होकर खेलता रहता है। वे व्यस्कों के साथ अधिक सन्तुष्ट रहते हैं तथा उनके साथ सामाजिक सम्पर्क रखने के प्रति अधिक रुचि दर्शाते हैं। इस अवस्था में बालक अनुकरण, प्रतिस्पर्धा, सहयोग आदि गुणों को प्रदर्शित करता है। खेल तथा नाटक के माध्यम से सामाजिक व्यवहार सीखता है। खेल में उपयोग होने वाले निर्जीव खिलौनों को सजीव मानकर व्यवहार प्रदर्शित करता है। पूर्व बाल्यावस्था में संवेगों का भी विस्तार होता है। मुख्य रूप से उत्तेजना, भय, ईर्ष्या स्पष्ट रूप से व्यक्त होते हैं। इस अवस्था में बालक शारीरिक रूप से सबल होने लगता है। खेलने, दौड़ने, कूदने व उछलने की क्रियाओं द्वारा बालक अतिक्रियाशील हो जाता है। भाषा विकास में भी बालक काफी तेजी से आगे बढ़ते हैं। वह इस अवस्था में अपनी मातृभाषा पर अच्छी पकड़ बना लेता है।

- **उत्तर बाल्यावस्था-** यह अवस्था सात से बारह वर्ष तक होती है। इस अवस्था में बालक शारीरिक रूप से लगभग हर वह क्रिया कर पाने में सक्षम होता है जो व्यस्क कर सकते हैं। माँसपेशियाँ व हड्डियाँ तेजी से विकसित होती हैं। लचीलापन होने के कारण इस अवस्था में बालक काफी फुर्तीले व चपल होते हैं। भाषा विकास चरम पर होता है। वह एक या एक से अधिक भाषा में प्रखर होने की क्षमता रखता है।

जब बालक परिवार से निकलकर विद्यालय में प्रवेश करता है तो उसका सामाजिक दायरा काफी बड़ा हो जाता है। इससे उसके व्यक्तित्व की कई बातें प्रभावित होती हैं। वह अपने पूर्व में बनाए कई विचारों में बार-बार संशोधन करता है क्योंकि अधिगम की प्रक्रिया व मानसिक क्षमताओं का विस्तार दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है। बालक पर पड़ोसी, शिक्षक व सहपाठियों का प्रभाव पड़ने लगता है जिससे बालक स्वयं को नित नये व्यक्तित्व में ढालने लगता है। यह अवस्था 'टोली की अवस्था' भी कही जाती है क्योंकि बालक इस आयु में मित्र मण्डली को अत्यधिक महत्व देता है। इस अवस्था में बालक 'जिज्ञासु प्रवृत्ति' के हो जाते हैं। नये वातावरण में समायोजन के लिए वह उसके बारे में जानना चाहते हैं व अपने अभिभावक और शिक्षकों से तरह-तरह के सवाल पूछते रहते हैं। बाल्यावस्था बालक को जीवन की अनेक वास्तविकताओं से परिचित कराती है जिनके बीच रहकर बालक अपने जीवन की समस्याओं को हल करने का तरीका सीख लेता है। यह समायोजन किशोरावस्था का आधार होता है।

5. वयः सन्धि- वयः सन्धि बाल्यावस्था और किशोरावस्था को मिलाने में सेतु का कार्य करती है। यह अवस्था बहुत कम समय के लिए होती है परन्तु इसमें अतिमहत्वपूर्ण शारीरिक परिवर्तन होते हैं। इस अवस्था का कुछ भाग बाल्यावस्था तथा कुछ भाग किशोरावस्था से जुड़ा रहता है। इस अवस्था की प्रमुख विशेषता यौन अंगों की परिपक्वता तथा काम शक्ति का उदय होना है। यह अवस्था दोनों लिंगों में कुछ अन्तर दर्शाती है। बालिकाओं में यह अवस्था ग्यारह से तेरह वर्ष के बीच प्रारम्भ होती है और बालकों में बारह से चौदह वर्ष के बीच। इस अवस्था में बालिकाओं के यौन अंग जैसे वक्षस्थलों का विकास आरम्भ हो जाता है। गर्भाशय भी तेजी से परिपक्वता प्राप्त करता है। सामान्यतः बालिकाएं इस अवस्था में मासिक धर्म प्राप्त कर लेती हैं। बालकों में भी आवाज का भारी होना व शारीरिक बालों में वृद्धि देखी जाती है।

इस अवस्था में शारीरिक ही नहीं बल्कि मानसिक विकास की गति भी तीव्र होती है। शारीरिक विकास में परिवर्तन व शरीर में स्थित ग्रन्थियों के स्राव के कारण बालक संवेगात्मक व सामाजिक विकास की दृष्टि से भी काफी बदलाव प्रदर्शित करता है। यौन अंगों के विकास तथा आन्तरिक व बाह्य परिवर्तनों के कारण बालक कभी-कभी संवेगात्मक रूप से विचलित हो जाते हैं। वह इन परिवर्तनों को ले कर जिज्ञासा व झिझक महसूस करते हैं। अतः माता-पिता अथवा अभिभावकों को बालकों को इस अवस्था में होने वाले परिवर्तनों से भली भांति अवगत कराना चाहिए।

6. किशोरावस्था- किशोरावस्था मानव जीवन का बसंतकाल माना गया है। यह अवस्था बारह से इक्कीस वर्ष तक चलती है। यह अवस्था सभी प्रकार की मानसिक शक्तियों के विकास का समय होता है। इस अवस्था में भावों के विकास के साथ-साथ बालक की कल्पना का भी विकास होता है। उसमें सभी प्रकार के सौन्दर्य की रुचि उत्पन्न होती है और बालक इसी समय नए और ऊँचे आदर्शों को अपनाता है। बालक भविष्य में जो कुछ बनना है, उसकी पूरी रूपरेखा किशोरावस्था में ही निर्मित होती है। यह अवस्था बालकों को परिपक्वता की ओर ले जाती है। अध्ययन की दृष्टि से इस अवस्था को दो भागों में बाँटा गया है-

- **पूर्व किशोरावस्था-** यह अवस्था तेरह से सोलह वर्ष तक होती है। इस अवस्था में बालक व बालिकाएँ यौन परिपक्वता को प्राप्त करते हैं जिससे उनके शारीरिक आकार में व्यस्क रूपी परिवर्तन आने लगते हैं। सामान्यतः बालक अपनी लगभग लम्बाई इस अवस्था तक प्राप्त कर लेते हैं। हड्डियों में दृढ़ता आने लगती है व बालक को भूख बहुत लगती है। कामुकता का

अनुभव तेरह वर्ष से होने लगता है। इसके कारण वह विपरीत लिंग के प्रति प्रेम अनुभव करने लगता है।

- **उत्तर किशोरावस्था-** यह अवस्था सत्रह से इक्कीस वर्ष तक होती है। इस अवस्था में बालक शारीरिक रूप से सम्पूर्णतः परिपक्व हो जाते हैं। बनावट में व्यस्क व प्रजनन शक्ति धारण कर लेते हैं। बालक अपने भविष्य के सपने देखने लगते हैं। वह अपने जीवन के उद्देश्य के लिए गम्भीरता से सोचते हैं व अपने आदर्श की तरह बनने व दिखने की कोशिश करते हैं।

7. प्रौढ़ावस्था- यह अवस्था इक्कीस से चालीस वर्ष तक होती है। यह अवस्था कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों के निर्वाह की अवस्था है। इस अवस्था में व्यक्ति अपनी शिक्षा प्राप्ति की अवस्था समाप्त कर अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करता है। वह जो बनना चाहता है, उसके लिए हर प्रकार की चेष्टा करता है। विपरीत लिंग से प्रेम की उत्पत्ति को नया रूप देकर वह विवाह करता है व बच्चों को जन्म देता है। परिवार की जरूरतों को पूरा करने के लिए वह धन कमाने के लिए अधिकाधिक सोचता है। इस अवस्था में वह परिवार के दायित्वों को पूरा करने के लिए कई महत्वपूर्ण निर्णय लेता है।

व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों, परिवार के सदस्यों, सम्बन्धों, वैवाहिक जीवन, व्यवसाय व समाज के सदस्यों के साथ कई तरह के समायोजन करने पड़ते हैं। इनमें वह कई कठिनाइयों का भी अनुभव करता है। अगर यह समायोजन सफलतापूर्वक नहीं हो पाते हैं तो व्यक्ति निराशा व कुंठा का शिकार हो जाता है। इस अवस्था के अन्त तक व्यक्ति संवेगात्मक व सामाजिक रूप से भी परिपक्वता को प्राप्त कर लेता है। बच्चों की उचित परवरिश व संस्कारों के स्थानान्तरण को मुख्य रूप से उसके अभिभावक व्यवहार में देखा जाता है।

8. मध्यावस्था- यह अवस्था 41 से 60 वर्ष तक मानी जाती है। इस अवस्था में व्यक्ति में नकारात्मक विकास की शुरुआत होने लगती है। बालों का सफेद होना, झुर्रियाँ, काम शक्ति में हास, शारीरिक शक्तियों में कमी, महिलाओं में मासिक धर्म का बन्द होना आदि देखा जाता है। साथ ही आयु जनित कुछ रोग भी उभरने लगते हैं जैसे जोड़ों में दर्द, मधुमेह, पाचन तन्त्र का कमजोर होना, आंखों का कमजोर होना आदि। व्यक्ति की रुचियाँ बदलने लगती हैं। इस समय वह सुख-शान्ति और प्रतिष्ठा से जीने की कामना करने लगता है। उसका चिन्तन यथार्थवादी हो जाता है। इस समय व्यक्ति को अपनी सन्तान के साथ समायोजन करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है क्योंकि दोनों के विचारों, सोचने के तरीकों और मनोवृत्तियों में अन्तर होता है। इस अवस्था में पारिवारिक

जिम्मेदारियाँ जैसे सन्तान की शिक्षा, विवाह आदि चरम पर होती हैं। व्यक्ति सम्पूर्णतः परिवार को समर्पित होकर उनकी हर जरूरत के लिए सम्भव प्रयास करता है।

9. वृद्धावस्था- मानव जीवन की अन्तिम अवस्था वृद्धावस्था होती है। यह 60 वर्ष से जीवन के अन्तिम समय तक मानी जाती है। यह अवस्था 'हास की अवस्था' है। इस अवस्था में शारीरिक क्षमताओं में तेजी से कमी देखी जाती है। हड्डियों से सम्बन्धित कई रोग वृद्धावस्था में होने स्वाभाविक होते हैं। माँसपेशियाँ ढीली पड़ने लगती हैं जिसके कारण शारीरिक बनावट में पूर्व की भाँति कसाव नहीं रह जाता, आन्तरिक अंगों में भी शिथिलता आने लगती है, जिससे पाचन सम्बन्धी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इस अवस्था में मानसिक परिवर्तन भी तीव्र गति से होते हैं। व्यक्ति की रुचियों, मनोवृत्तियों व आदतों में परिवर्तन देखा जाता है। सेवानिवृत्ति हो जाने से व्यक्ति की साधारण दिनचर्या भी बदल जाती है। कई वृद्ध इस अवस्था में समायोजन नहीं कर पाते जिस कारण वह निराशावादी अवधारणा बना लेते हैं कि परिवार व समाज को उनकी जरूरत नहीं है। अतः इस अवस्था में व्यक्ति को उचित प्रेम व सहयोग देना चाहिए जिससे वह परिवार के साथ लगन व प्रसन्नता से जीवन व्यतीत कर सके।

अभ्यास प्रश्न 2

1. सही/ गलत बताएं।
 - a. बीजावस्था जन्म से दो वर्ष तक चलती है।
 - b. बाल्यावस्था में बालक जिज्ञासु प्रवृत्ति के होते हैं।
 - c. प्रौढ़ावस्था 40 से 60 वर्ष तक मानी जाती है।
2. निम्न वाक्यों हेतु एक पारिभाषिक शब्द बताएं।
 - a. इस विकास अवस्था को 'टोली पूर्व अवस्था' भी कहा जाता है।.....
 - b. मध्यावस्था इस आयु के मध्य मानी जाती है।.....
 - c. इस अवस्था को मानव जीवन का बसंत काल माना जाता है।.....

2.7 सारांश

बाल विकास एक विस्तृत प्रक्रिया है। विभिन्न क्षेत्रों द्वारा विकास ही व्यक्ति को सम्पूर्ण मानव में बदलता है। एक बालक शारीरिक, संवेगात्मक, सामाजिक, क्रियात्मक व मानसिक क्षेत्रों में विकास को प्राप्त कर समायोजन प्राप्त करता है। प्रत्येक अवस्था में इन क्षेत्रों के विकास की गति भिन्न-भिन्न होती है। इन्हीं क्षेत्रों के विकास द्वारा वह विभिन्न कौशल व व्यवहार सम्बन्धी परिपक्वता प्राप्त करता है। मानव जीवन आयु विशेष लक्षणों व विशेषताओं के आधार पर विभिन्न अवस्थाओं में बाँटा गया है। प्रत्येक अवस्था कुछ खास शारीरिक व मानसिक लक्षणों के माध्यम से मानव जीवन के रहस्य को विस्तृत रूप से समझने में सहायक है।

2.8 अभ्यास पश्चों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. सही/ गलत बताएं।
 - a. सही
 - b. गलत
 - c. सही
 - d. सही
 - e. सही
2. निम्न वाक्यों हेतु एक शब्द में उत्तर दें।
 - a. शारीरिक विकास
 - b. वातावरण
 - c. भय
 - d. क्रियात्मक विकास
 - e. वंशानुक्रम

अभ्यास प्रश्न 2

1. सही/ गलत बताएं।
 - a. गलत
 - b. सही

- c. गलत
2. निम्न वाक्यों हेतु एक पारिभाषिक शब्द बताएं।
- पूर्व बाल्यावस्था
 - 41 से 60 वर्ष
 - किशोरावस्था

2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- ऐलीजाबेथ बी0 हरलॉक: चाइल्ड डवलपमेन्ट (तीसरा संस्करण), मैक ग्रो हिल बुक कम्पनी, टोक्यो जापान।
- लौरा इ0 बर्क (1989): चाइल्ड डवलपमेन्ट (छठा संस्करण), पियरसन हायर एजुकेशन पब्लिकेशन।

इंटरनेट स्रोत

- www.basicshikha.com
- www.hind.oneindia.org
- www.simplypsychology.org
- ww.verywell.com
- www.studylecturenotes.com
- www.study.com
- www.pshivane.com
- www.hivikaspedia.com

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. बाल विकास के सभी क्षेत्रों का विस्तृत वर्णन करें।
2. वंशानुक्रम व वातावरण का विकास पर प्रभाव समझाइये।
3. परिपक्वता और अधिगम विकास को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, उल्लेख करें।
4. विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश डालें।

इकाई 3 वृद्धि और विकास

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 वृद्धि और विकास का अर्थ
 - 3.3.1 वृद्धि (Growth)
 - 3.3.2 विकास (Development)
- 3.4 वृद्धि और विकास को प्रभावित करने वाले तत्व
- 3.5 वृद्धि और विकास में अन्तर
- 3.6 विकास के नियम
- 3.7 सारांश
- 3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रत्येक प्राणी में जन्म से मृत्यु तक लगातार बदलाव आते रहते हैं। जीवन का प्रसार कभी भी स्थिर नहीं पाया गया है। व्यक्ति में बाल्यावस्था से युवावस्था तक अनेक प्रकार के शारीरिक व मानसिक बदलाव देखे जाते हैं जिनके कारण ही एक शिशु पूर्ण व्यस्क में बदल जाता है। इसके बाद भी बदलाव समाप्त नहीं होते, अपितु उनकी गति धीमी हो जाती है। जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में नये गुणों का उत्पन्न होना व पुरानी विशेषताओं का लोप होता रहता है। यह परिवर्तन जीवन में सक्रियता के लिए आवश्यक है। इन्हीं शारीरिक, मानसिक परिवर्तनों, गुणों तथा अनेक विशेषताओं की नियमित व क्रमिक उत्पत्ति को ही विकास कहा जाता है।

प्राणी के जीवन का आरम्भ उसके जन्म से पहले अर्थात् गर्भाधान से ही शुरू हो जाता है। जन्म तो विकास का एक परिवर्तन मात्र है, जिससे शिशु अन्तरिक वातावरण से निकलकर बाह्य वातावरण में आ जाता है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप जानेंगे;

- वृद्धि और विकास का अर्थ व परिभाषा;
- विकास को प्रभावित करने वाले तत्व;
- विकास के रूप;
- वृद्धि और विकास में अन्तर; तथा
- विकास के नियम।

3.3 वृद्धि और विकास का अर्थ

सामान्यतः बोलचाल की भाषा में वृद्धि और विकास शब्दों का प्रयोग एक ही अभिप्राय के लिए किया जाता है, परन्तु वास्तव में यह दोनों अपना अलग-अलग अर्थ व महत्व रखते हैं।

3.3.1 वृद्धि (Growth)

वृद्धि का अर्थ है “बढ़ना” या “फैलना”। प्राणी के अन्तरिक व बाह्य अंगों का बढ़ना वृद्धि कहलाता है। शरीर की रचना में परिवर्तन वृद्धि है। किसी भी प्राणी में विकास पहले व वृद्धि बाद में होती है। वृद्धि गर्भाधान के लगभग दो सप्ताह बाद प्रारम्भ होती है और बीस वर्ष की आयु के आसपास समाप्त हो जाती है अर्थात् वृद्धि परिपक्वास्था तक होती है जबकि विकास जीवनपर्यन्त तक चलता है।

3.3.2 विकास (Development)

विकास गर्भाधान से मृत्यु तक चलने वाली अविराम प्रक्रिया है। गर्भकाल से ही शिशु में असंख्य, अनगिनत परिवर्तनों की श्रृंखला चलती रहती है। यह परिवर्तन मात्र शारीरिक रूप में ही नहीं देखे जाते अपितु सम्पूर्ण व्यक्तित्व के क्षेत्रों में अपना असर दिखाते हैं अर्थात् मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक आदि प्रत्येक पहलू में परिवर्तन देखे जाते हैं। इसी सार्वभौमिक प्रक्रिया को विकास कहा जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा एक शिशु सम्पूर्ण रूप से विकसित होकर एक व्यस्क बनता है।

जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को पार कर के जिस प्रकार शिशु एक व्यस्क में परिवर्तित होता है उसी प्रकार आगे के परिवर्तनों से प्रभावित होकर व्यस्क एक वृद्ध में भी परिवर्तित होता है। अर्थात् हम यह भी कह सकते हैं कि विकास प्रक्रिया में सभी परिवर्तन समाप्त नहीं होते। जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में होने वाले परिवर्तन रचनात्मक और उत्तरार्द्ध में होने वाले परिवर्तन विनाशात्मक होते हैं। सामान्यतः प्राणी के जीवनकाल में होने वाले रचनात्मक परिवर्तन परिपक्वता लाते हैं जैसे लम्बाई का बढ़ना, हड्डियों का व माँसपेशियों का बढ़ना व मजबूत होना। विनाशात्मक परिवर्तन उसे

वृद्धावस्था की ओर ले जाते हैं जैसे बालों का सफेद होना, पाचनतन्त्र का शिथिल होना, दाँतों का कमजोर पड़ना आदि।

बाल मनोवैज्ञानिक मुनरो के अनुसार “परिवर्तन श्रृंखला की वह अवस्था जिसमें शिशु भ्रूणावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक गुजरता है, वह विकास कहलाती है”। मुनरो की परिभाषा में विकास को क्रमिक परिवर्तनों की श्रृंखला इसलिए कहा गया है क्योंकि इसी श्रृंखला के फलस्वरूप प्राणी में नवीन विशेषताओं का उदय होता है तथा पुरानी विशेषताओं की समाप्ति होती है। शिशु अवस्था से प्रौढ़ावस्था तक व्यक्ति जिन गुणों-अवगुणों, स्वभाव या व्यक्तित्व को प्राप्त करता है वह इसी विकास की प्रक्रिया का परिणाम होते हैं।

इस प्रकार परिभाषा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विकास एक अत्यन्त व्यापक शब्द है। बालक के गर्भ में आते ही विकास क्रिया प्रारम्भ हो जाती है जो मृत्यु तक चलती रहती है तथा व्यक्ति के पूरे जीवनकाल में अनेक प्रकार के बदलाव लाती है।

3.4 वृद्धि और विकास को प्रभावित करने वाले तत्व

बालक के वृद्धि और विकास का निर्धारण यद्यपि उसके वंशानुक्रम और वातावरण का गुणनफल होता है फिर भी कुछ तत्व इसके स्तर को प्रभावित करते हैं। यह तत्व व्यक्तिगत भी हो सकते हैं अथवा वातावरण में भी पाये जाते हैं। यह बालक के वृद्धि एवं विकास में सहायता प्रदान करते हैं जिससे वंशानुक्रम द्वारा प्रदान की गयी योग्यता अत्यन्त निखर जाती है परन्तु साथ ही कुछ तत्व ऐसे भी होते हैं जो विकास को अवरुद्ध करते हैं। ऐसे ही वृद्धि एवं विकास को प्रभावित करने वाले कुछ तत्व निम्नलिखित हैं:

1. प्रजाति: प्रजातीय भिन्नता से बालक का विकास प्रभावित होता है। अनेक वैज्ञानिकों के अनुसार एक प्रजाति के लोग दूसरी प्रजाति के लोगों से न केवल शारीरिक गठन, रंग, रूप आदि में भिन्न होते हैं बल्कि मानसिक योग्यताओं में भी पृथक होते हैं। जैसे श्वेत प्रजाति के लोग श्वेत त्वचा, भूरे बाल तथा भूरी आँखों वाले होते हैं किन्तु अश्वेत प्रजाति, जो मुख्यतः अफ्रीका में पायी जाती है, सभी लोग साँवले, काले बाल तथा काली आँखों वाले होते हैं। कई अध्ययनों में यह भी पुष्ट हुआ है कि अश्वेत प्रजाति के लोग सामान्य से अधिक लम्बाई व ज्यादा पुष्ट शारीरिक गठन के होते हैं।

2. घर का वातावरण: वृद्धि एवं विकास में घर के वातावरण का अत्यधिक योगदान देता है। पारिवारिक वातावरण कई रूपों में बालक के विकास पर प्रभाव डालता है। जैसे माता-पिता के

आपसी सम्बन्ध, बालक-अभिभावक सम्बन्ध, परिवार में बालक की स्थिति, परिवार का आकार, बाल-पोषण की विधियाँ आदि।

यदि परिवार का आन्तरिक वातावरण सौहार्दपूर्ण और अच्छा है, माता-पिता के आपसी सम्बन्ध प्रेमपूर्ण हैं, बालक को घर में प्यार एवं स्नेहपूर्ण व्यवहार मिलता हो, उसे सीखने, पढ़ने, लिखने के लिए उचित प्रोत्साहन व सामग्री मिलती हो, बालक को उचित पोषण दिया जाता हो, बालक-बालिका में अन्तर नहीं किया जाता हो, वहाँ बालक का सभी क्षेत्रों में सामान्य विकास देखा जाता है। इसके विपरीत अगर घर का वातावरण दूषित हो अर्थात् घर में माता-पिता में मतभेद तथा आपसी तनाव हो, परिवार का आकार अत्यधिक बड़ा होने के कारण बच्चों पर अभिभावक ध्यान न दे पाते हों, अत्यधिक आर्थिक तंगी के कारण बालकों को पढ़ाई-लिखाई के अवसर न मिल पायें, उचित पोषण न मिल पाये, स्नेहपूर्ण वातावरण के अभाव में उचित प्रोत्साहन की कमी हो तथा लालन-पालन में तनिक भी ध्यान न दिया जाये तो बालकों का विकास सामान्य प्रकार से नहीं हो पाता है। आनुवांशिक रूप से सक्षम होने पर भी बालक उचित रूप से उन गुणों को धारण नहीं कर पाता तथा शारीरिक एवं मानसिक रूप से पूर्ण योग्य नहीं हो पाता।

3. लिंग: लिंग भेद भी शारीरिक एवं मानसिक विकास को प्रभावित करता है। सामान्यतः यह देखा जाता है कि जन्म के समय लड़कों की लम्बाई लड़कियों से कुछ अधिक होती है परन्तु बाद की अवस्थाओं में लड़कियों का विकास बहुत तेजी से होता है। लड़कियाँ, लड़कों की तुलना में पहले ही शारीरिक परिपक्वता प्राप्त कर लेती हैं। किशोरावस्था में लड़कियाँ वयः सन्धि जल्दी प्राप्त कर लेती हैं परन्तु लड़के अपेक्षाकृत देर से परिपक्वता प्राप्त करते हैं। वृद्धि परिक्षणों में यह भी देखा गया है कि मानसिक विकास में भी लड़कियाँ जल्दी परिपक्वता प्राप्त कर लेती हैं।

4. पोषण: जिस प्रकार बीज को एक विशाल वृक्ष में परिवर्तित होने के लिए उचित उर्वरक (खाद) की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार एक बालक के विकास हेतु भी उचित खान-पान अर्थात् पोषण की अनिवार्यता होती है। उचित पोषण बालक को भली प्रकार से विकसित होने में सहायता करता है। शारीरिक सुदृढ़ता के साथ-साथ मानसिक योग्यता के लिए भी उचित विकास हेतु बालक को पौष्टिक भोजन की परम आवश्यकता होती है। गर्भकालीन अवस्था से लेकर जीवनपर्यन्त प्राणी को स्वस्थ एवं निरोग बने रहने के लिए पोषण की परम आवश्यकता होती है।

5. आसपास का वातावरण: घर के वातावरण के साथ-साथ अगर आसपास का वातावरण भी अच्छा हो तो बालक के विकास पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। पड़ोसी व मित्र अच्छे हों तो

बालक में अच्छी समाजिकता का विकास होता है। वह मिल-जुलकर रहना, खेलना सीखता है। दूसरों से भली प्रकार बोलने की आदत, दूसरों के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार, अपनी चीजें दूसरों से बाँटना व दूसरों को देखकर जल्दी सीखना जैसे अनेक लाभ बालक खेलकूद व मित्रमण्डली द्वारा प्राप्त करता है। परन्तु अगर इसके विपरीत आसपास का वातावरण खराब हो तो बालक बुरी संगत में पड़कर गलत व्यवहार करने लगते हैं। अगर समय पर उनको उचित मार्गदर्शन न दिया जाये तो वह बाल अपराधी भी बन जाते हैं।

6. संस्कृति वातावरण: प्रत्येक देश और समाज की एक अपनी संस्कृति होती है। इसी संस्कृति के अनुरूप ही हर परिवार अपने बालकों का लालन-पालन करता है अर्थात् हर बालक अपनी संस्कृति का ही अनुसरण करता है। जिस प्रकार के आचार-विचार संस्कृति में होते हैं उसकी प्रकार ही बालक की सोच व व्यवहार बन जाता है। जैसे पाश्चात्य संस्कृति और पारम्परिक संस्कृति के बालकों की सोच व व्यवहार में काफी अन्तर पाया जाता है। जहाँ पाश्चात्य संस्कृति के बालक काफी स्वच्छन्द व मुक्त सोच के होते हैं। वहीं पारम्परिक संस्कृति में पले बढ़े बालक अपने ज्यादातर फैसलों में अभिभावकों की सहायता लेते हैं। पश्चात्य संस्कृति में एकल परिवार का चलन होता है जिससे बालक कम सदस्यों के परिवार में रहने के कारण दादी-दादा आदि से ज्यादा स्नेह नहीं रख पाते। वहीं दूसरी ओर पारम्परिक संस्कृति के परिवारों के बालक दादा-दादी आदि का अधिक सानिध्य पाकर उनसे भी माता-पिता के समान ही स्नेह रखते हैं।

7. विद्यालय का वातावरण: विकास परिपक्वता के साथ-साथ शिक्षण का भी परिणाम होता है। प्रायः तीन वर्ष की आयु में बालक विद्यालय जाना आरम्भ कर देते हैं। बालक की सीखने-समझने की नींव विद्यालय में ही पड़ती है। पढ़ने लिखने के साथ-साथ आचार-व्यवहार भी काफी हद तक विद्यालय द्वारा प्रभावित होता है। यदि विद्यालय में अच्छा माहौल, अनुशासन, सीखने के लिए उचित प्रोत्साहन, उपयुक्त सामग्री, स्नेही शिक्षक तथा उचित वातावरण दिया जाता है, तो बालक का उचित विकास होता है। अच्छा व्यवहार व उचित शैक्षणिक योग्यता बालक की मानसिक योग्यताओं को ही नहीं निखारती बल्कि उसे एक अच्छा नागरिक बनने की ओर भी अग्रसर करती है।

8. बुद्धि: किसी भी बालक की बुद्धि या बौद्धिक क्षमतायें उसके विकास के विभिन्न पहलुओं को प्रभावित करती हैं। अनेक अध्ययनों में यह पाया गया है कि तीव्र बुद्धि के बालकों का विकास मन्द बुद्धि के बालकों की अपेक्षा तीव्रता से होता है। किसी भी काम को करने का कौशल, सोचने समझने की शक्ति, निर्णय लेने की क्षमता तथा चीजों को लम्बे समय तक याद रख पाना व पुरानी सीखी हुई

कलाओं में निरन्तर अभ्यास द्वारा सुधारीकरण करके बेहतर करना आदि कौशल तीव्र बुद्धि के बालक ज्यादा तेजी से और ज्यादा अच्छी तरीके से कर पाने में सक्षम देखे गये हैं। मन्द बुद्धि बालकों पर यदि उचित समय पर ध्यान न दिया जाये तो वे मानसिक परिवक्वता में सामान्य बालकों से पिछड़ जाते हैं। अतः बुद्धि एवं मानसिक स्तर भी बालकों के विकास को प्रभावित करता है।

9. अन्तः स्त्रावी ग्रन्थियाँ: मानव शरीर की वृद्धि एवं विकास के लिए कुछ अन्तरिक गतिविधियाँ जिम्मेदार होती हैं। यह मुख्यतः हारमोन होते हैं जो रासायनिक घटक होते हैं। यह हारमोन हमारे शरीर की कोशिकाओं आदि को हमारी उम्र के अनुसार परिपक्वता प्रदान करते हैं। इन रासायनिक घटकों को हमारे शरीर में उपस्थित ग्रन्थियाँ स्त्रावित करती हैं। अतः यह ग्रन्थियाँ बालक के शारीरिक एवं मानसिक विकास पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालती हैं। उदाहरण के लिए थायरॉइड ग्रन्थि थाइरॉक्सिन हारमोन को स्त्रावित करती है, जिससे अनेक शारीरिक व मानसिक गतिविधियाँ सुचारू रूप से चलती हैं। अगर किसी बालक की कोई अन्तः स्त्रावी ग्रन्थि सामान्य रूप से काम न करे तो बालक का विकास नकारात्मक रूप से प्रभावित होता है। यह असामान्य क्रियाशीलता अगर समय पर ठीक न की गई और लम्बे समय तक चलती रही तो बालक स्थायी रूप से सामान्य बालक की अपेक्षा विकासक्रम में पिछड़ जाता है।

10. रोग एवं चोट: बालक की शुरूआती विकासशील अवस्थाओं में चोट एवं रोग भी बालक की वृद्धि एवं विकास को बहुत प्रभावित करते हैं। बचपन की गम्भीर बीमारी या चोट अथवा मानसिक आघात बालक की विकासशीलता को काफी हद तक रोक देते हैं। बाल्यावस्था में किसी रोग जैसे टी.बी. या गम्भीर चोट के लगने से बालक अपने सहज व्यवहार, खेलकूद, पोषण इत्यादि से वंचित हो जाता है। फलस्वरूप वह सामान्य बालकों से विकासक्रम में पिछड़ने लगता है। अगर समय पर इलाज व ध्यान न दिया जाये तो वह कभी भी इस कमी को पूरा नहीं कर पाता और हीन रह जाता है। अतः बालकों के रोग व चोट उनके विकास को अत्यधिक प्रभावित करते हैं।

11. शुद्ध वायु एवं प्रकाश: मानव के उचित विकास हेतु शुद्ध वायु एवं प्रकाश भी अत्यन्त आवश्यक हैं। वायु जिसमें हम साँस लेते हैं, हमारे स्वास्थ्य को प्रभावित करने की क्षमता रखती है। वायु हमारे रक्त का शुद्धिकरण करती है, जिससे कोशिकाओं की कार्यक्षमता बनी रहती है। अगर वायु शुद्ध होती है तो यह कार्य भली-भांति होता है, परन्तु अगर वायु दूषित होती है तो हमारे फेफड़ों में वायु के साथ अन्य दूषित कण भी लगातार प्रवेश करते हैं व विभिन्न प्रभाव उत्पन्न करते हैं, जिससे शरीर की प्रतिरोधक क्षमता घटती है व विकास प्रभावित होता है। उदाहरण के लिए ग्रामीण

परिवेश में पले बालकों का शारीरिक विकास काफी अच्छा देखा जाता है जिसका कारण वहाँ की शुद्ध वायु व प्राकृतिक वातावरण होता है। इसके विपरीत बड़े शहरों में पलने वाले बालकों को वह शुद्ध हवा व वातावरण नहीं मिलता। भीड़-भाड़ व दूषित पर्यावरण से युक्त माहौल में बचपन से पलने के कारण अक्सर ऐसे बच्चों में रोग प्रतिरोधक क्षमता में कमी देखी जाती है। फलस्वरूप ऐसे बच्चे अक्सर बीमार पड़ते हैं व कई बालक अस्थमा या एलर्जी के शिकार हो जाते हैं। इससे केवल शारीरिक विकास ही नहीं मानसिक विकास पर भी आघात लगता है।

इसी प्रकार नेत्रों के स्वास्थ्य व उनकी ज्योति को बनाये रखने के लिए उचित प्रकाश की आवश्यकता होती है। अतः कार्य करने के लिए सभी स्थानों पर उचित प्रकाश की व्यवस्था होनी चाहिए। प्राकृतिक प्रकाश के अभाव में कृत्रिम प्रकाश की व्यवस्था की जाती है। यदि प्रकाश पर्याप्त न हो तो बालकों की नेत्र ज्योति प्रभावित होती है।

3.5 वृद्धि और विकास में अन्तर

वृद्धि और विकास में निम्न परिवर्तन देखे जाते हैं।

वृद्धि	विकास
1. वृद्धि एक संकीर्ण क्रिया है जो गर्भाधान से प्रौढ़ावस्था तक चलती है।	1. विकास एक व्यापक क्रिया है जो गर्भाधान से जीवन पर्यन्त चलती है।
2. वृद्धि में होने वाले परिवर्तन शारीरिक होते हैं।	2. विकास में होने वाले परिवर्तन विभिन्न क्षेत्रों में होते हैं। जैसे मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक आदि।
3. प्राणी में वृद्धि बाद में होती है।	3. विकास वृद्धि से पहले प्रारम्भ होता है।
4. वृद्धि एक साधारण प्रक्रिया है, इसमें केवल शारीरिक परिवर्तन ही सम्मिलित होते हैं।	4. विकास एक जटिल प्रक्रिया है। इसमें वृद्धि और परिपक्वता दोनों सम्मिलित होते हैं।
5. वृद्धि का क्रम प्राणी को वृद्धावस्था तक ले जाता है।	5. विकास क्रम प्राणी को परिपक्वता प्रदान करता है।
6. वृद्धि में होने वाले परिवर्तन रचनात्मक होते हैं।	6. विकास में होने वाले परिवर्तन रचनात्मक व विनाशात्मक दोनों प्रकार के होते हैं।
7. वृद्धि में कोशिकीय अभिवृद्धि होती है।	7. विकास परिपक्वता की ओर व्यवस्थित परिवर्तनों की श्रृंखला है।
8. वृद्धि के दौरान होने वाले परिवर्तन मात्रात्मक होते हैं।	8. विकास के दौरान होने वाले परिवर्तन गुणात्मक होते हैं।

9. वृद्धि के परिवर्तनों को मापा जा सकता है।	9. विकास के परिवर्तनों की माप नहीं की जा सकती है।
---	---

अभ्यास प्रश्न 1

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।
 - a. शरीर के आकार का बढ़ना कहलता है।
 - b. विकास गर्भाधान से तक चलने वाली अविराम प्रक्रिया है।
 - c. विनाशात्मक परिवर्तन व्यक्ति को अवस्था की ओर ले जाते हैं।
 - d. सामान्यतः लड़कों की शारीरिक वृद्धि लड़कियों से होती है।
2. सही/ गलत बताइए।
 - a. किसी भी प्राणी में वृद्धि पहले व विकास बाद में होता है।
 - b. विकास परिवर्तनों की एक श्रृंखला है।
 - c. मानव के उचित विकास हेतु शुद्ध हवा व प्रकाश अत्यन्त आवश्यक है।
 - d. विकास क्रमों में शारीरिक अनुपात में परिवर्तन नहीं होता।

3.6 विकास के नियम

प्राणी का विकास जीवनपर्यन्त चलता रहता है। गर्भाधान से मृत्यु तक विभिन्न क्षेत्रों में विकास होता ही रहता है, हालांकि इसकी गति बदलती रहती है। जैसा कि हम जानते हैं, विकास को कई कारक प्रभावित करते हैं परन्तु फिर भी प्रत्येक व्यक्ति में विकास कुछ विशिष्ट नियमों के आधार पर ही शारीरिक व मानसिक रूप से परिवर्तन दर्शाता है। अर्थात् सामान्य रूप से विकास कुछ नियमों पर आधारित होता है जो कि निम्नलिखित हैं:

1. विकास का एक निश्चित प्रतिरूप होता है: हर प्रजाति चाहे जानवर हो या मानव, विकास का एक निश्चित प्रतिरूप का पालन करता है। इसकी गति एवं सीमा हर प्रजाति में अलग-अलग होती है। मानव में विकास एक व्यस्थित ढंग से हर आयु वर्ग में प्रगति करता है जैसे बालक में पहले अस्थायी दाँतों का विकास होता है, फिर उनके टूटने पर स्थायी दाँत निकलते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक विकास एक अनुक्रम को दर्शाता है। हालांकि प्रत्येक बालक व्यक्तिगत रूप से भिन्न होता है, परन्तु यह अनुक्रम सभी में समान होते हैं। बालक का शारीरिक विकास दो दिशाओं में होता है:

- **मस्तकाधोमुखी दिशा-** जन्म से पहले अर्थात् भ्रूणावस्था और जन्म के बाद दोनों ही अवस्थाओं में बालक का विकास मस्तकाधोमुखी होता है जिसका अर्थ है कि शारीरिक नियंत्रण, साथ ही संरचना में सुधार सिर में पहले विकसित होता है और बाद में सिर से आगे क्षेत्रों में बढ़ता है। जिस प्रकार भ्रूणावस्था में पहले भ्रूण के सिर का विकास होता है, फिर धड़ और पैर विकसित होते हैं, उसी प्रकार जन्म के बाद भी शिशु का सिर पहले विकसित होता है और धड़ बाद में। उदाहरण के लिए शिशु पहले सिर घुमाना सीखता है, फिर गर्दन पर नियंत्रण करता है, इसके बाद ही धड़ पर नियंत्रण अर्थात् बैठना तथा चलना सीखता है। अतः यह स्पष्ट होता है कि विकास पहले सिर तथा उसके आसपास के अंगों में होता है, फिर धीरे-धीरे पैरों की ओर बढ़ता है।
- **निकट से दूर दिशा-** विकास की यह दूसरी दिशा निकट से दूर की है। अर्थात् शरीर के मध्य से बाहर की तरफ की दिशा में बालक का विकास देखा जाता है। उदाहरण के लिए शिशु पहले आँखें घुमाता है, फिर गर्दन हिलाना सीखता है, तत्पश्चात् कंधों का चलना व कलाई घुमाना व अंगुलियों का नियंत्रण प्राप्त करता है। अतः यह देखा जाता है कि मध्य भाग में क्रियाशीलता पहले आती है।

2. विकास सामान्य से विशेष की ओर होता है: विकास के सभी क्रमों में चाहे वह क्रियात्मक हो या मानसिक, प्रत्येक बालक का विकास सामान्य से विशेष की ओर होता है। जन्म से पहले व बाद दोनों ही अवस्थाओं में इस नियम का सम्पूर्णतः पालन होता है। प्रथम दृष्टया यह क्रियात्मक विकास क्रम में देखने को मिलता है। शिशु पहले अपने पूरे शरीर को एक साथ हिलाता है, फिर सिर्फ किसी एक अंग को हिलाना सीखता है। अर्थात् शिशु अव्यवस्थित क्रिया पहले सीखते हैं, उसके बाद ही विशिष्ट क्रियाएं प्रदर्शित करते हैं। विकास का यह क्रम हमेशा हर आयु में इसी क्रम में चलता है। जैसे शिशु पहले हाथ घुमाना सीखता है, बाद में किसी चीज को पकड़ना और अन्ततः अंगुलियों की विशिष्ट क्रियाएं जैसे लिखना, कलम उठाना आदि सीखता है। उसी प्रकार पहले पैर मारना, फिर घुटने से चलना, सहारे से खड़े होना, चलना तथा अन्ततः दौड़ना सीखता है। यह क्रम प्रत्येक शिशु समान रूप से प्रदर्शित करता है।

3. विकास एक अविराम प्रक्रिया है: बालक की वृद्धि उसके व्यस्क होने तक देखी जाती है परन्तु विकास गर्भाधान से मृत्युपर्यन्त चलता ही रहता है। जीवनकाल की विभिन्न आयु व अवस्थाओं में इसकी गति तीव्र या धीमी अवश्य हो जाती है परन्तु कभी भी रुकती नहीं है। किशोरावस्था में अत्यन्त तेजी से अनेक प्रकार के परिवर्तन एवं विकास देखा जाता है परन्तु यह सब अचानक नहीं

होता है। इसकी नींव भ्रूणावस्था से ही रख दी जाती है। उसी के फलस्वरूप यह सम्भव होता है। उदाहरण के लिए बालकों के शारीरिक विकास में जीवन के प्रथम वर्ष में दाँतों की उत्पत्ति अत्यन्त तीव्रता से देखी जाती है, परन्तु असल में उनका विकास गर्भावस्था से पाँचवें महीने से ही प्रारम्भ हो जाता है, पर मसूढ़ों से बाहर वह जन्म के पाँच महीनों के बाद ही आते हैं। इसी तरह से बालकों का अचानक किसी शब्द का बोल पड़ना अचानक हुआ विकास नहीं होता। शैशवावस्था में चीखना-चिल्लाना व अस्पष्ट आवाजों को निकालते रहने से ही आगे जाकर वह भाषा विकास में परिवर्तित होता है। बालक के सामाजिक विकास में भी अविराम परिवर्तन देखा जाता है। प्रारम्भ में माँ, परिवार, फिर विद्यालय के शिक्षक, मित्रगण तथा बाद में सहकर्मी आदि द्वारा सामाजिक विकास होता ही रहता है, जिसके द्वारा बालक बड़ा होकर एक व्यस्क स्वभाव को प्रदर्शित कर पाता है व विभिन्न परिस्थियों में समायोजन व अधिगम प्राप्त कर पाता है।

4. विकास में व्यक्तिगत विभेद रहते हैं: यह सामान्य धारणा होती है कि शारीरिक व मानसिक विकास क्षेत्रों में पीछे रहने वाले बालक एक समय पर आकर सामान्य प्रतिमान प्राप्त कर लेंगे। कई अध्ययनों में देखा गया है कि अगर बालक किसी एक विकास दर में अग्रणी होता है तो वह आगे आने वाले प्रत्येक विकास क्षेत्र में तीव्र गति रखते हैं। वह आगे भी अन्य बालकों से आगे रहते हैं। उदाहरण के लिए जिन बालकों में शारीरिक क्रियायें जल्दी उत्पन्न होती हैं, वह जल्दी बोलना सीखते हैं। इस प्रकार उनमें सामाजिकता का विकास तेजी से होता है। इसके विपरीत जिन बालकों की शारीरिक विकास गति मंद होती है, वह मानसिक व अन्य प्रकार के विकास विलम्ब से प्राप्त कर पाते हैं।

प्रत्येक बालक के विकास का अपना एक निजी स्वरूप होता है। सामान्यतः यह देखा गया है कि जो बालक आरम्भ में लम्बे होते हैं वह आगे की अवस्थाओं में भी अपनी आयु के बालकों की तुलना में लम्बे ही रहते हैं। इसी तरह से बालकों की क्रियात्मक क्षेत्र में अधिक कुशलता होने से वह हाथों-पैरों पर जल्दी नियंत्रण और संतुलन सीखते हैं। ऐसे बालक मुख्यतः नृत्य कलाओं में आसानी से दक्षता प्राप्त कर लेते हैं। वह अन्य बालकों की तुलना में शारीरिक संतुलन ज्यादा होने के कारण अधिगम प्रक्रिया भी तीव्र रूप से दर्शाते हैं। अतः सामान्य रूप से देखने में ऐसा लगता है कि सभी बालकों के विकास में पर्याप्त समानता है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। प्रत्येक बालक की विकास दर तथा प्रतिमानों में व्यक्तिगत भिन्नता पायी जाती है।

विकास में व्यक्तिगत विभेद के अनेक कारण हो सकते हैं। यह वंशानुक्रम, आहार, स्वास्थ्य तथा वातावरण सम्बन्धी होते हैं। शारीरिक एवं मानसिक दोनों ही विकासक्रम इन कारकों से प्रभावित होते

हैं। कुछ कारकों को व्यवस्थित करके बालक के विकासक्रम को सुधारा या निखारा जा सकता है परन्तु कुछ कारक प्राकृतिक रूप से बालक को मिलते हैं, इन्हें बदला नहीं जा सकता, जैसे अनुवांशिकता। बालक अनुवांशिक रूप से जिन गुणों को प्राप्त करता है वह उन्हें सामान्यतः प्राप्त कर ही लेता है जैसे लम्बाई, सुरीली आवाज आदि।

5. विभिन्न अंगों के विकास की गति भिन्न-भिन्न होती है: बालक के विभिन्न अंगों का विकास समान गति से नहीं होता। सभी अंगों का विकास एवं विभिन्न क्षेत्रों का विकास भिन्न-भिन्न तीव्रता से होता है। जन्म के समय शिशु के शरीर के सभी अंग अलग-अलग अनुपात में होते हैं। अगर सभी अंग एक ही तीव्रता से वृद्धि प्राप्त करें तो वह सामान्य व्यस्क का रूप नहीं ले सकता। शारीरिक व मानसिक वृद्धि एवं विकास की व्यक्तिगत भिन्नता भी होती है। यह विभिन्न अवस्थाओं में तीव्रता एवं मन्दता प्रदर्शित करके हर व्यक्ति में अलग प्रतिरूप स्थापित करता है। विकास अवस्थाओं में कभी शारीरिक वृद्धि में तीव्रता देखी जाती है, कभी मानसिक वृद्धि में। अतः यह गति समय के साथ बदलती रहती है।

मस्तिष्क का विकास छः से आठ वर्षों में हो जाता है, परन्तु सम्पूर्णतः व्यवस्थित रूप से यह काफी बाद में कार्य कर पाता है। इसी तरह पैर, हाथ व नाक का अधिकतम विकास किशोरावस्था तक होता है, जिसके कारण ही किशोर इस अवस्था में कई बार असामान्य व भद्दे भी दिखने लगते हैं। हृदय, यकृत व पाचन तन्त्र का विकास भी मुख्यतः किशोरावस्था में ही होता है। अतः विकास की गति बदलती रहती है।

6. विकास में विभिन्न स्वरूप परस्पर सम्बन्धित होते हैं: विकास क्रम में विभिन्न स्वरूपों में परस्पर सम्बन्ध पाया गया है। एक क्षेत्र में होने वाला विकास दूसरे क्षेत्र से सम्बन्धित होने के कारण उस पर प्रभाव भी डालता है। वह बालक जिनमें मानसिक विकास सामान्य से जल्दी होता है, वह अधिकतर शारीरिक रूप से भी ज्यादा लम्बे-चौड़े होते हैं। मानसिक रूप से ज्यादा प्रबल होने के कारण वह बोलने व शब्दों पर पकड़ आसानी से सीख लेते हैं और जल्दी सामाजिक ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम होते हैं। बुद्धि कुशल होने के कारण ऐसे बालकों में विशिष्ट योग्यताएं पायी जाती हैं। वहीं दूसरी तरफ मानसिक विकास सामान्य से देर से प्राप्त करने वाले बालक शारीरिक रूप से भी कमजोर व जल्दी बीमार पड़ने वाले होते हैं। भाषा विकास पर भी प्रभाव पड़ने के कारण वह सामाजिक समायोजन देर से कर पाते हैं। ऐसे बालक दूसरे से देर से घुलते-मिलते हैं तथा अक्सर हीन भावना का शिकार भी देखे जाते हैं।

किसी एक विकास क्षेत्र में अच्छा प्रदर्शन बाकी के क्षेत्रों में भी परस्पर सम्बन्ध होने के कारण क्षमता में वृद्धि कारक होता है। उदाहरण के लिए ऐसे बालक जिनका शारीरिक विकास सामान्य से अच्छा होता है, वह व्यक्तिगत स्वास्थ्य में भी ज्यादा स्वस्थ होते हैं। कम बीमार पड़ने, जल्दी बढ़ने से, भूख में वृद्धि होने से वह शारीरिक मजबूती भी ग्रहण करते हैं। ऐसे बालक खेल-कूद, व्यायाम द्वारा सक्रिय एवं क्रियाशील दिनचर्या व्यतीत करता है। स्वस्थ रहने से प्रसन्नचित मानसिक स्थिति बनी रहती है। अतः वह सकारात्मक व्यक्तित्व धारण करते हैं। इसी तरह जो बालक शारीरिक रूप से कमजोर होते हैं वह बीमार जल्दी पड़ते हैं। इससे वह न पढ़ाई में अच्छा प्रदर्शन कर पाते हैं न ही खेलकूद आदि में। ऐसे बालक स्वस्थ महसूस न करने के कारण चिड़चिड़े स्वभाव के हो जाते हैं जिससे उनका मानसिक स्वभाव भी प्रभावित होता है। अतः विकास का एक क्षेत्र सकारात्मक या नकारात्मक रूप से विकसित होने पर वह दूसरे क्षेत्रों को भी उसी दिशा में प्रभावित करता है। हालांकि अनुवांशिकता, उचित खान-पान का भी इससे काफी सम्बन्ध है परन्तु फिर भी कई बालक उचित रूप से अभिभावकों के ध्यान न देने पर किसी एक विकास क्षेत्र में अगर पिछड़ जाता है तो निश्चित रूप से वह बाकी क्षेत्रों में भी इसका नुकसान उठाता है।

7. विकास के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सकती है: जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है विकास की प्रत्येक अवस्था की कुछ प्रमुख विशेषताएं होती हैं। सभी सामान्य बालकों में यह विशेषताएं अवश्य ही प्रकट होती हैं। अतः विकास की भविष्यवाणी सम्भव है। उदाहरण के लिए शिशु का बैठना छः महीने में तथा खड़े होना एक वर्ष की उम्र में देखा जाता है। इसी तरह शिशु पहले क्रन्दन, फिर अस्पष्ट आवाजें निकालना, अन्ततः शब्दों व वाक्यों को बोलना सीखता है। बोलना शुरू करने की उम्र एक से डेढ़ वर्ष होती है। सामाजिक विकास भी प्रत्येक अवस्था में परिवर्तित देखा जाता है। प्रत्येक अवस्था में कुछ विशेषताओं को प्राप्त करना उस अवस्था के मील के पत्थर होते हैं। इनके आधार पर विकास क्रम की भविष्यवाणी की जा सकती है। अगर अवस्था अनुरूप विशेषताएं या गुण प्राप्त कर सकने में बालक असमर्थ होता है या विलम्ब दिखाता है तो यह अभिभावकों तथा माता-पिता को उसके अनुरूप साधन व सुविधायें प्रदान करने की ओर इशारा करता है। इससे बालक की कई विकास प्रभावी समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। समय पर इस तरह ध्यान देने से बालक विकास में पिछड़ता नहीं है।

इसके अलावा विकास के सम्बन्ध में भविष्यवाणी बालकों के लिए अन्य रूप में भी काफी लाभकारी होती है। जैसे अगर बालक किसी विकास क्षेत्र में सामान्य से अधिक गति रखता है तो वह उस क्षेत्र से सम्बन्धित किसी योग्यता में भी समय से पहले निपुणता प्राप्त करता है। अगर इस पर

ध्यान दिया जाये तो ऐसे बालकों के अभिभावक तथा माता-पिता उसी समय से बालक के कौशल को पहचानकर उसको भविष्य के लिए तैयार कर सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि बालक शारीरिक विकास में आगे है और अपने साथ के बालकों से काफी तेज दौड़ लेता है तो ऐसे बालक उचित ध्यान देने पर आगे जाकर अच्छे धावक बन सकते हैं। अतः विकास क्रम की विशेषताओं के आधार पर बालक की विकास दर की व्यक्तिगत भविष्यवाणी काफी मददगार साबित हो सकती है जिससे बालक कई समस्याओं का समाधान उचित समय पर प्राप्त कर लेता है।

8. विकास परिपक्वता और शिक्षण का परिणाम है: बालक का विकास चाहे जिस भी क्षेत्र में हो वह परिपक्वता व शिक्षण दोनों का परिणाम होता है। इन दोनों में किसी एक का भी अभाव बालक के विकास को अवरूद्ध कर देता है। परिपक्वता व शिक्षण बालक के विकास में उतनी ही महत्ता रखते हैं जितना पोषण। एक स्वस्थ जीवन के लिए दोनों की ही अनिवार्यता होनी चाहिए। परिपक्वता से तात्पर्य व्यक्ति के वंशानुक्रम द्वारा शारीरिक गुणों का विकास है। बालक के भीतर स्वतंत्र रूप से एक ऐसी क्रिया चलती रहती है जिसके कारण उसका शारीरिक अवयव अपने आप परिपक्व हो जाता है। उसके लिए वातावरण की सहायता नहीं लेनी होती है। परिपक्वता के कारण ही बालक के भीतर अनेक शारीरिक व मानसिक गुण एकाएक उत्पन्न हो जाते हैं। अतः परिपक्वता द्वारा शारीरिक गुणों व क्रियाओं में प्रौढ़ता आती है। इसी तरह शिक्षण बालक की विभिन्न योग्यताओं को निखारने में मदद करता है। परिपक्वता शिक्षण के लिए नींव तैयार करती है। उदाहरण के लिए बालक की शारीरिक परिपक्वता उसकी हड्डियों व माँसपेशियों में मजबूती लाती है और शिक्षण व अभ्यास उसे तैराकी में उपयोग करने में सहयोग प्रदान करते हैं। यहाँ बालक की शारीरिक योग्यता शिक्षण से विकसित होकर उसे एक सफल तैराक बनाने में सहायता प्रदान करती है। अतः विकास में परिपक्वता व शिक्षण का अहम योगदान है। अगर बालक परिपक्वता प्राप्त कर ले परन्तु उचित शिक्षण न मिले तो वह उसे उपयोग नहीं कर पाता है। जैसे बालक बोलने में सक्षम हो मगर उसे भाषा ज्ञान न दिया जाये तो वह कभी भी सामान्य भाषा में नहीं बोल पाता। इसी तरह छोटे बालक जो बोलने में सक्षम नहीं है उन्हें कितना भी भाषा शिक्षण दिया जाये, उचित परिपक्वता न होने पर वह सामान्य रूप से बोल पाने में अक्षम ही रहेंगे। परिपक्वता व शिक्षण दोनों परस्पर प्रभाव डालने के कारण विकास क्रम की प्रत्येक अवस्था में बेहद महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसी कारण बालक के जीवन में शिक्षण का विशेष महत्व भी माना गया है। प्रारम्भिक उचित शिक्षण बालक के भविष्य में निर्धारण में अत्यधिक महत्व रखता है। यहीं से बालक का व्यक्तित्व विकसित होता है।

9. विकास की प्रत्येक अवस्था की अपनी कुछ प्रमुख विशेषताएं होती हैं: विकास की प्रत्येक अवस्था अपने कुछ गुणों के लिए प्रसिद्ध होती है। इन विशेषताओं की उपस्थिति होना ही उस अवस्था का सामान्य होना कहलाता है। अतः प्रत्येक विकास अवस्था के लिए उसकी कुछ विशेषताओं की अनिवार्यता होती है। इन विशेषताओं या गुणों को देखकर बालक के विकास के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

उदाहरण के लिए शिशु के दाँतों का विकास पाँच माह की आयु से प्रारम्भ हो जाता है। अगर प्रथम के एक वर्ष में दाँतों का विकास नहीं होता है तो यह असामान्य विकास कहलाता है। इसी प्रकार बाल्यावस्था तीव्र शारीरिक विकास दर्शाती है। अगर इस अवस्था में बालक का विकास कम है तो इसके कारकों की जाँच की जा सकती है। किशोरावस्था काम प्रवृत्ति का उदय, वयः सन्धि तथा सामाजिकता के विकास के लिए प्रसिद्ध है। अगर इनमें से किसी भी एक विशेषता का कम या लुप्त होना देखा जाए तो यह बालक के सम्पूर्ण जीवन पर गहरा प्रभाव डाल सकता है। इन विशेषताओं के कारण ही मानव जीवन को अलग-अलग अवस्थाओं में बाँटा गया है।

10. तथाकथित समस्या व्यवहार कई उम्र में सामान्य व्यवहार होते हैं: विकासक्रम की प्रत्येक अवस्था में बालक के कुछ व्यवहार देखे जाते हैं जो आगे की अवस्था में या तो संशोधित हो जाते हैं या पूर्णतः विलुप्त हो जाते हैं। ये व्यवहार उस अवस्था के लिए तो सामान्य होते हैं किन्तु किसी अन्य अवस्था में इनकी उपस्थिति असामान्य मानी जाती है।

उदाहरण के लिए एक छोटा बालक गिलास दो हाथों से पकड़ ही दूध पीता है। यह पूर्णतः सामान्य है, परन्तु व्यस्क अवस्था में यही क्रिया असामान्य मानी जाती है। एक तीन वर्षीय बालक चीखता चिल्लाता है, आँखें झपकाता है, संवेगों को तीव्रता से प्रकट करता है, सबका ध्यान अपनी तरफ आकर्षित करना चाहता है व अल्प भाषा ज्ञान रखता है। यह सारी विशेषताएं इस आयु वर्ग के लिए सामान्य हैं परन्तु यह व्यवहार बीस वर्षीय बालक द्वारा प्रदर्शित करने पर उसे असामान्य कहा जाएगा।

11. सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति हर विकास अवस्था से गुजरता है: प्रत्येक अवस्था की गति व्यक्तिगत होती है परन्तु हर मानव अपने जीवनकाल में लगभग हर विकास अवस्था को प्राप्त करता है। शैशवावस्था से वृद्धावस्था तक सभी स्त्री पुरुषों को गुजरना ही होता है। केवल लिंग व व्यक्तिगत अन्तर के कारण कुछ भिन्नतायें पायी जाती हैं। किसी अवस्था का देर से आना कई कारकों जैसे अनुवांशिकता, वातावरण या खान-पान में अन्तर के कारण देखा जाता है, परन्तु विकास अवस्था

का सम्पूर्णतः विलुप्त होना असम्भव है। गर्भावस्था सिर्फ स्त्रियों में सम्भव है। यह अवस्था इस नियम का अपवाद है। बाकि सारी अवस्थायें स्त्री-पुरुष दोनों में अनिवार्य रूप से देखी जाती हैं।

कोई भी देश, जाति, आर्थिक स्थिति, सामाजिक स्थिति हो, विकास की प्रक्रिया के सारे नियम दर्शाती है। इन्हीं नियमों के आधार पर ही बाल विकास के विज्ञान को समझा व परखा जा सकता है। प्रत्येक नियम विकास के एक अलग ही गुण को प्रदर्शित करता है। मानव के उचित व सामान्य विकास के लिए प्रत्येक नियम महत्व रखता है।

अभ्यास प्रश्न 2

1. सही विकल्प चुनें।

- (वृद्धि/विकास) के परिवर्तनों को मापा जा सकता है।
- विकास परिपक्वता व (शिक्षण/खेल-कूद) का परिणाम है।
- (विकास/शिक्षण) सामान्य से विशेष को ओर होता है।
- किशोरावस्था में शारीरिक विकास अत्यन्त (तेज/मन्द) गति से होता है।

2. सही/गलत बताएं।

- विकास के दौरान होने वाले परिवर्तन गुणात्मक होते हैं।
- मस्तकाधोमुखी दिशा विकास पैरों से मस्तिष्क की ओर होता है।
- प्रत्येक बालक के विकास का अपना एक निजी स्वरूप होता है।
- विकास के विभिन्न क्षेत्र एक दूसरे से सम्बन्धित नहीं होते हैं।

3.7 सारांश

मानव जीवन वृद्धि और विकास पर आधारित है। व्यस्क अवस्था तक वृद्धि तथा मृत्युपरान्त तक विकास प्रक्रिया द्वारा ही मानव जीवन सम्भव है। वृद्धि व विकास दोनों ही एक दूसरे से परस्पर सम्बन्धित होते हैं। वयस्क अवस्था तक वृद्धि समाप्त हो जाती है परन्तु विकास की जटिल प्रक्रिया निरन्तर भाव से चलती रहती है। वृद्धि व विकास को कई कारक प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। इन कारकों से बालक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रभावित होता है। विकास कई क्षेत्रों में होता है। सभी क्षेत्र परस्पर सम्बन्धित होते हैं। विकास की प्रक्रिया विभिन्न नियमों का पालन करती है। इन

नियमों द्वारा मानव विकास की जटिल प्रक्रिया को समझा जा सकता है, साथ ही उसे प्रभावित करने वाली समस्याओं का भी निवारण किया जा सकता है जिससे एक सम्पूर्ण, स्वस्थ व सकारात्मक व्यक्तित्व का विकास हो सके।

3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।
 - a. वृद्धि
 - b. मृत्यु
 - c. वृद्ध
 - d. तेज
2. सही/ गलत बताइए।
 - a. गलत
 - b. सही
 - c. सही
 - d. गलत

अभ्यास प्रश्न 2

1. सही विकल्प चुनें।
 - a. वृद्धि
 - b. शिक्षण
 - c. विकास
 - d. तेज
2. सही/गलत बताएं।
 - a. सही
 - b. गलत
 - c. सही

d. गलत

3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. एलीजाबेथ बी. हरलॉक : चाइल्ड डवलपेमेन्ट (तीसरा संस्करण), मैक ग्री हिल बुक कम्पनी, टोक्यो, जापान।
2. लौरा ई. बर्क (1989) : चाइल्ड डवलमेन्ट (छठा संस्करण) पियरसन हायर एजुकेशन पब्लिकेशन।
2. www.teachinginmalasia.blogspot.in
3. www.study.com
4. www.gradeup.com
5. www.ctectstudymaterial.blogspot.in

3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. वृद्धि व विकास को परिभाषित करते हुए अन्तर बताएं।
2. विकास के विभिन्न रूपों का विस्तृत वर्णन करें।
3. विकास को प्रभावित करने वाले तत्वों का उल्लेख करें।
4. विकास के नियमों को समझाइए।

खण्ड 2: बाल विकास एवं मनोविज्ञान

इकाई 4: बाल विकास का अध्ययन- इतिहास और विधियाँ

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 उद्देश्य
- 4.3 जीवनकाल के दौरान विकास का अध्ययन
- 4.4 मानव विकास क्षेत्र का उद्देश्य
 - 4.4.1 यूरो-अमेरिकी ऐतिहासिक अवलोकन
 - 4.4.2 प्राचीन भारत में मानव विकास
- 4.5 मानव विकास के अध्ययन हेतु अनुसंधान डिजाइन और विधियाँ
 - 4.5.1 सामान्य अनुसंधान डिजाइन
 - 4.5.2 अध्ययन विकास के लिए अनुसंधान डिजाइन
 - 4.5.3 आंकड़े एकत्र करने के लिए अनुसंधान की विधियाँ
 - 4.5.4 विकासात्मक अनुसंधान में नैतिक विचार
- 4.6 सारांश
- 4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 4.8 पारिभाषिक शब्दावली
- 4.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

4.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आप जीवन के विकास से सम्बंधित विभिन्न विषयों के बारे में पढ़ेंगे। आप जानेंगे कि ये विषय कैसे एक दूसरे के समान और अलग हैं। मानव विकास के एक छात्र के रूप में आपको यह समझने की आवश्यकता है कि यह समय के साथ कैसे विकसित हुआ। इस इकाई में, आप पश्चिमी दुनिया और प्राचीन भारत के संदर्भ में मानव विकास के क्षेत्र की एक ऐतिहासिक समझ को प्राप्त करेंगे। आप समझेंगे कि वैज्ञानिक विचारों ने इस क्षेत्र के विस्तार और उसकी वैधता को बनाने में कैसे मदद की। अंत में, यह इकाई मानव विकास के अध्ययन में उपयोग की जाने वाली अनुसंधान विधियों और डिजाइनों का वर्णन करती है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत शिक्षार्थी;

- विभिन्न शैक्षणिक विषयों के बारे में जानेंगे जो मानव जीवन के दौरान विकास का अध्ययन करते हैं;
- यूरोपियन-अमेरिकी और प्राचीन भारतीय संदर्भों में मानव विकास के क्षेत्र के उद्भव का पता लगाने में सक्षम होंगे;
- जीवन के विकास का अध्ययन करने के लिए अनुसंधान विधियों, उपकरणों और डिजाइनों के बारे में जानेंगे; तथा
- मानव जीवन के अध्ययन के दौरान ध्यान में रखे जाने वाले नैतिक विचारों को समझेंगे।

4.3 जीवनकाल के दौरान विकास का अध्ययन

लोग हमेशा स्वयं को समझने में रुचि रखते हैं जैसे कि हम कैसे बढ़ते हैं और विकसित होते हैं और हम विभिन्न आयु और स्थितियों में एक विशिष्ट व्यवहार क्यों करते हैं, आदि। इन सवालों के जवाब देने के लिए, विभिन्न क्षेत्रों और शैक्षणिक विषयों जैसे मानव विकास, विकासात्मक मनोविज्ञान, बाल विकास और बाल मनोविज्ञान का पिछले कुछ वर्षों में विकास हुआ है। आपने अपने रोजमर्रा के जीवन में या अपने अकादमिक पठन में इनमें से कुछ के नाम अवश्य सुने होंगे।

जबकि इस पाठ्यक्रम में आप मुख्य रूप से मानव विकास के क्षेत्र का अध्ययन कर रहे हैं, यह आपको इस बात को समझने में भी लाभान्वित करेगा कि मानव विकास अन्य क्षेत्रों के समान या अलग कैसे है। आप पाएंगे कि ये विषय एक दूसरे के साथ काफी अधिक समानता लिए हुए हैं। एक-दूसरे से इतनी दृढ़ समानता का कारण यह है कि वे एक ही इतिहास को साझा करते हैं, एक ही सिद्धांत का उल्लेख करते हैं और मानव का अध्ययन करने के लिए समान विधियों का उपयोग करते हैं। हालाँकि, इन विषयों में कुछ असमानताएं भी हैं; विशेष रूप से कि वे किस आयु वर्ग पर ध्यान केंद्रित करते हैं और वे किस पद्धति के दृष्टिकोण का उपयोग करते हैं।

आइए उनके बारे में अधिक जानें।

विकासात्मक मनोविज्ञान

अमेरिकन साइकोलॉजिकल एसोसिएशन, विकासात्मक मनोविज्ञान को वृहद विषय मनोविज्ञान के उप-क्षेत्र के रूप में परिभाषित करता है कि “विकासात्मक मनोविज्ञान शारीरिक, मानसिक और

व्यवहारिक परिवर्तनों का अध्ययन करता है, जो गर्भाधान से वृद्धावस्था तक होते हैं और यह विभिन्न जैविक, तंत्रिकाजैविक, आनुवांशिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और पर्यावरणीय कारकों की भी जाँच करता है जो जीवन पर्यन्त विकास को प्रभावित करते हैं।¹ पूर्व में यह क्षेत्र शिशु, बच्चों और किशोरों के विकास पर केंद्रित था, हाल के दिनों में ही इसे प्रसव पूर्व विकास, वयस्कता और वृद्धावस्था के अध्ययन हेतु केंद्रित किया गया है। विकासात्मक मनोविज्ञान जीवन के विकास का अध्ययन करने के लिए एक मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य का उपयोग करता है।

बाल मनोविज्ञान

यह भी मनोविज्ञान का एक उप-क्षेत्र है। विकासात्मक मनोविज्ञान की तरह यह भी एक मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य का उपयोग करता है। हालाँकि, आज के समय में जहाँ विकासात्मक मनोविज्ञान पूरे जीवनकाल का अध्ययन करता है, बाल मनोविज्ञान केवल कम उम्र का अध्ययन करता है। अमेरिकन साइकोलॉजिकल एसोसिएशन (2018) के अनुसार बाल मनोविज्ञान “जन्म से किशोरावस्था के दौरान व्यक्तियों के व्यवहार, समायोजन और विकास के व्यवस्थित अध्ययन तथा साथ-साथ उनके व्यवहार, मानसिक और भावनात्मक विकारों के उपचार से संबंधित है”।

मानव विकास

मानव विकास अध्ययन का वह क्षेत्र है जो गर्भाधान से मृत्यु तक मानव जीवन के दौरान होने वाली जटिलताओं और परिवर्तनों को समझने के लिए समर्पित है। मानव विकास एक वैज्ञानिक, बहु-विषयक क्षेत्र है क्योंकि यह मनोविज्ञान, नृविज्ञान (anthropology), समाजशास्त्र, जीव विज्ञान, शिक्षा आदि कई क्षेत्रों के शोधकर्ताओं के संयुक्त प्रयासों के कारण विकसित हुआ है। जहाँ विकासात्मक मनोविज्ञान जीवन विकास का अध्ययन करने के लिए केवल एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का उपयोग करता है, मानव विकास के अध्ययन में उपयोग की जाने वाली विधियाँ किसी एक विषय तक सीमित नहीं हैं, यह बहु-विषयक है। इसलिए मानव विकास का दायरा विकासात्मक मनोविज्ञान, बाल मनोविज्ञान या बाल विकास की तुलना में व्यापक है। समकालीन समय में, मानव विकास के अध्ययन में शामिल किसी भी विद्वान को एक विकासवादी के रूप में जाना जाता है, चाहे वे जिस भी मूल विषय से सम्बंधित हों।

बाल विकास

बाल विकास मानव विकास के क्षेत्र का एक हिस्सा है। यह एक अध्ययन क्षेत्र है जो गर्भाधान से किशोरावस्था तक निरंतरता और परिवर्तन को समझने के लिए समर्पित है। मानव विकास की तरह, बाल विकास भी बहुआयामी है।

एक सामान्य इतिहास होने के बावजूद, विभिन्न नामों वाले क्षेत्र विद्वानों की इस समझ में बदलाव के कारण उभरे हैं कि आजीवन विकास के अध्ययन को कैसे परिभाषित और अंकित किया जाना चाहिए और साथ ही कि दृष्टिकोण में अंतर के कारण मनुष्यों का अध्ययन कैसे किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, लगभग दो-तीन दशक पहले, जीवन काल में विकास का अध्ययन करने वाले अधिकांश विद्वानों ने इस क्षेत्र को 'विकासात्मक मनोविज्ञान' के रूप में चिह्नित किया था, क्योंकि उस समय के शोध मुख्य रूप से एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किए गए थे। हालाँकि, आज के जीवनकाल के अध्ययन में मनोविज्ञान से इतर धाराओं के शोधकर्ताओं और दृष्टिकोणों को शामिल किया गया है जैसे कि समाजशास्त्र, नृविज्ञान, शिक्षाशास्त्र आदि। विभिन्न रूप से अंकित होने के बावजूद, मानव विकास और विकासात्मक मनोविज्ञान के विषयों के बीच की सीमाओं को आमतौर पर स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया गया है। आमतौर पर ये दोनों उन परिवर्तनों को देखते हैं जो पूरे मानव जीवन काल में होते हैं।

4.4 मानव विकास क्षेत्र का उद्देश्य

इस खंड में आप मानव विकास क्षेत्र की शुरुआत का पता लगाएंगे। प्राचीन काल से ही मानव को खुद को समझने में दिलचस्पी रही है- वे कैसे बढ़ते हैं, सोचते हैं और व्यवहार करते हैं। मानव विकास के शुरुआती विचारों का बच्चों को कैसे देखा जाता है, मानव के मन और भावनाओं को कैसे समझा जाता है और जीवन काल में विकास को कैसे समझा जाता है, में योगदान होता है। मानव विकास के बारे में इन शुरुआती विचारों में से कई प्राचीन ग्रंथों, प्रारंभिक दार्शनिकों के काम और कहानियों, कला आदि में पाए जा सकते हैं जो मनोविज्ञान या मानव विकास के औपचारिक विषय होने से पहले ही विद्यमान थे। बहरहाल, आप पाएंगे कि इन शुरुआती विचारों का प्रभाव आज भी मानव विकास के अध्ययन में बना हुआ है।

आइए पहले हम इस क्षेत्र में कुछ शुरुआती यूरो-अमेरिकी दृष्टिकोणों के बारे में जानें।

4.4.1 यूरो-अमेरिकी ऐतिहासिक अवलोकन प्राचीन दृष्टिकोण

यूरोप और उत्तरी अमेरिका के महाद्वीपों में, मानव विकास और मनोविज्ञान के शुरुआती विचारों में प्राचीन ग्रीस का पता लगाया जा सकता है। दार्शनिक प्लेटो (427- 347 ई.पू.) ने मनुष्य की मानसिकता के बारे में लिखा था जिसे वह मानव नैतिकता का स्रोत मानता था और सीखने के माध्यम से मानसिकता को कैसे बेहतर बनाया जा सकता है। दार्शनिक अरस्तू (384-322 ई.पू.) ने 'आत्मा' और 'शरीर' के बीच संबंध का पता लगाया। यूनानी चिकित्सक हिप्पोक्रेट्स (460-377 ई.पू.), जिन्हें आधुनिक चिकित्सा का संस्थापक माना जाता है, ने निष्कर्ष निकाला कि मानव मस्तिष्क कई मानवीय भावनाओं का स्रोत है।

बच्चे के बारे में शुरुआती विचार

मध्य युग (5 वीं से 15 वीं शताब्दी) में, पश्चिमी विद्वानों ने मानवीय व्यवहार को बहुत धार्मिक दृष्टिकोण से देखा। इस समय के दौरान 'मूल दोष दृश्य' की हिमायत की गई थी, जो माना जाता है कि बच्चों का जन्म स्वाभाविक रूप से 'बुराई' के रूप में होता है। इस दृष्टिकोण का मानना था कि बच्चे के पालन-पोषण का लक्ष्य बच्चे से इस जन्मजात 'दोष' को हटाना और उसे सभ्य बनाना है। इस तरह के दृष्टिकोण के साथ आत्मनिर्भरता और आत्म-नियंत्रण को विकसित करना महत्वपूर्ण माना जाता था; और बच्चे के पालन-पोषण की प्रथाओं में उसे सजा देना एक महत्वपूर्ण पहलू था।

सत्रहवीं शताब्दी में, अंग्रेजी दार्शनिक जॉन लोके (1632- 1704) ने इस विचार को प्रस्तावित किया कि बच्चे बुरे पैदा नहीं होते हैं, बल्कि जन्म के समय वे एक 'खाली स्लेट' की भाँति होते हैं। उनका मानना था कि एक बच्चा पूरी तरह से एक खाली स्लेट की तरह पैदा होता है जिसे माता-पिता किसी भी तरह ढाल सकते हैं। इस प्रकार, उन्होंने पालन-पोषण के दर्शन का समर्थन किया अर्थात् बच्चे को आकार देने के लिए बाहरी पर्यावरणीय कारक अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं। लोके बच्चों की शारीरिक सजा के खिलाफ थे।

अठारहवीं शताब्दी में, जीन-जैक्स रूसो (1712-1778) नामक एक स्विस दार्शनिक ने एक 'जन्मजात अच्छाई दृष्टिकोण' का प्रस्ताव रखा था, जो लॉक के विपरीत इस विचार पर केंद्रित था कि बच्चे की प्रकृति उसके विकास का मुख्य कारक है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, बच्चों को 'कुलीन लोगों' के रूप में देखा गया, जो सही और गलत के सहज ज्ञान के साथ पैदा होते हैं। रूसो का मानना था कि बच्चों को न्यूनतम वयस्क हस्तक्षेप के साथ स्वाभाविक रूप से बढ़ने की अनुमति दी जानी चाहिए। उनके दर्शन ने बाल्यावस्था के चार चरणों- शैशवावस्था, बाल्यावस्था, उत्तर बाल्यावस्था और किशोरावस्था की भी पहचान की।

एक वैज्ञानिक अनुशासन की शुरुआत

मानव विकास के दृष्टिकोणों पर अभी तक की गई चर्चा वैज्ञानिक प्रक्रियाओं और अनुभवजन्य साक्ष्यों पर पूर्ण रूप से आधारित नहीं है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के शुरुआती समय से ही मानव विकास के वैज्ञानिक अध्ययन में वृद्धि हुई थी और उस क्षेत्र को आकार दिया गया जिसे आज हम जानते हैं। (आप अगले खंड में मानव विकास के अध्ययन के विज्ञान के बारे में पढ़ेंगे)।

चार्ल्स डार्विन (1809- 1882) को 'वैज्ञानिक बाल अध्ययन के पूर्वज' के रूप में जाना जाता है। विकासवाद के उनके प्रसिद्ध सिद्धांत ने इस बात पर बल दिया कि कैसे मनुष्य की क्रमागत उन्नति और विकास अन्य प्रजातियों के समान या अलग है। यह बच्चों के विकास को वैज्ञानिक रूप से रिकॉर्ड करने के पहले प्रयासों में से एक था। विकास का अध्ययन करने के लिए वैज्ञानिक तरीकों का इस्तेमाल किया जा सकता है, इस विचार को प्रस्तुत करने के अलावा, डार्विन के विकासवादी सिद्धांत ने यह विचार भी पैदा किया कि विकास तब होता है जब बच्चा स्वयं को पर्यावरण के अनुकूल ढालता है। डार्विन और अन्य जैसे विल्हेम प्रीयर (1841- 1897), जो एक जर्मन फिजियोलॉजिस्ट थे, ने अपने स्वयं के बच्चों का विस्तृत अवलोकन रिकॉर्ड बनाया। वर्तमान में शोधकर्ताओं के लिए अवलोकन एक महत्वपूर्ण वैज्ञानिक उपकरण है।

आधुनिक मनोविज्ञान की शुरुआत का श्रेय विल्हेम वुंडट नामक एक जर्मन भौतिक विज्ञानी को दिया जाता है, जिन्होंने 1879 में मानव को समझने के लिए वैज्ञानिक सिद्धांतों को अपनी प्रयोगशाला में लागू किया था।

डार्विन के काम से प्रेरित होकर, जी० स्टेनली हॉल (1844-1924) और अर्नोल्ड गेसेल (1880-1961) नाम के दो अमेरिकी मनोवैज्ञानिकों ने एक तरीका विकसित किया, जिसे बच्चों के विकास के सभी पहलुओं का अध्ययन करने के लिए 'मानक दृष्टिकोण' के रूप में जाना जाता है ताकि यह पता चले कि कैसे एक बच्चे का सामान्य विकास कैसे होता है। इसमें, उन्होंने विस्तृत प्रश्नावली का उपयोग करते हुए बड़ी संख्या में व्यक्तियों के व्यवहार के उपायों को एकत्र किया और फिर विशिष्ट विकास की विशेषता के लिए आयु-संबंधित औसत की गणना की।

1900 के दशक में, फ्रांसीसी मनोवैज्ञानिक अल्फ्रेड बिनेट (1857- 1911) ने अपने सहयोगी थियोडोर साइमन के साथ मिलकर पहला बुद्धि परीक्षण विकसित किया, जिसे आज के 'बिनेट-साइमन स्केल' के रूप में संदर्भित किया जाता है। उन्होंने इस पैमाने को बच्चों की सीखने की समस्याओं की पहचान करने के उद्देश्य से विकसित किया था ताकि उन्हें एक शैक्षिक व्यवस्था में

विशेष कक्षाओं में रखा जा सके। यह मानसिक परीक्षण आंदोलन की एक शुरुआत थी। यह स्केल स्कूली उपलब्धि की भविष्यवाणी करने के तरीके के रूप में लोकप्रिय हो गया और साथ ही इस स्केल के कारण विकास में व्यक्तिगत भिन्नता के प्रति रुचि पैदा हुई।

मानव विकास की समकालीन समझ

बीसवीं सदी के मध्य में, मानव विकास एक वैध विषय के रूप में उभरा। इस समय और बाद के दशकों के दौरान, मानव विकास के बारे में व्याख्या करने वाले कई सिद्धांत उभरे, जैसे फ्रायड का मनोवैज्ञानिक सिद्धांत, पियाजे का संज्ञानात्मक विकास का सिद्धांत, एरिकसन का मनोवैज्ञानिक-सामाजिक सिद्धांत, सामाजिक शिक्षण सिद्धांत, सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत और अवधारणात्मक विकास का पारिस्थितिक सिद्धांत। ये सिद्धांत आज भी प्रासंगिक हैं। आप इनके बारे में विस्तार से ब्लॉक 3 और 4 की इकाइयों में पढ़ेंगे।

4.4.2 प्राचीन भारत में मानव विकास

भारत में आधुनिक वैज्ञानिक विषय के रूप में मानव विकास का क्षेत्र बहुत नया है, परंतु मानव को समझने की उत्सुकता प्राचीन काल से ही मौजूद है। प्राचीन भारत के कई साहित्यिक स्रोत हैं, जिन्होंने मानव विकास, मनोविज्ञान, नैतिकता और स्वास्थ्य की प्रकृति का पता लगाया है, जैसे विभिन्न वेद, स्मृति-ग्रंथ, उपनिषद ग्रंथ, महाकाव्य जैसे रामायण, महाभारत आदि। जहाँ इनमें से कई कार्यों में प्रस्तुत विचार प्रतिबिंब और अनुभवों पर आधारित हैं, इनमें अनुभवजन्य विश्लेषण का भी उपयोग किया गया है।

आइए हम भारत के इन प्राचीन ग्रंथों में वर्णित मानव विकास और मनोविज्ञान के बारे में कुछ विचारों को देखें।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने जीवन और ब्रह्मांड को देखने का एक समग्र तरीका प्रदान किया है जो धर्म और कर्म के सिद्धांतों का पालन करता है जो नैतिक कर्तव्य और पुनर्जन्म की मान्यताओं पर आधारित हैं। वेदों में हिंदू जीवनचक्र के चार चरणों का वर्णन है। ये जीवन चरणों या 'आश्रमों' का संबंध सामाजिक भूमिकाओं और जिम्मेदारियों से होता है जो व्यक्ति अपने जीवन के विभिन्न अवस्थाओं में करते हैं। ये चार आश्रम हैं:

1. ब्रह्मचर्य: यह अवस्था दस वर्ष की आयु से शुरू होती है और मानव जीवन के बीसवें वर्ष तक चलती है। दस साल से पहले कोई चरण नहीं है, क्योंकि यह माना जाता है कि बच्चा इस आयु से

पूर्व पूर्ण रूप से गठित नहीं हुआ है। यह तैयारी का एक चरण है, जब बच्चे से ब्रह्मचर्य का पालन करने तथा शिक्षा प्राप्त करने की अपेक्षा की जाती है।

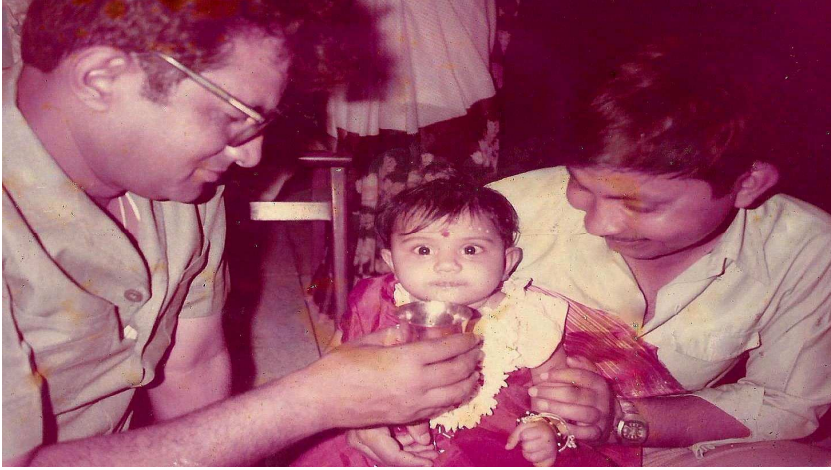
2. गृहस्थाश्रम: इस अवस्था में, व्यक्ति अपने आर्थिक, प्रजनन और सामाजिक कर्तव्यों पर ध्यान केंद्रित करता है जो एक 'गृहस्थ' होने का भाग हैं। यह वह समय होता है जब उन्हें रोजगार मिलता है, शादी होती है, बच्चे होते हैं और उनका पालन पोषण होता है।

3. वानप्रस्थ: वानप्रस्थ का शाब्दिक अर्थ है 'जंगल में जाना'। यह जीवन का वह चरण होता है जब व्यक्ति की संतान वयस्क होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती है। व्यक्ति धार्मिक अनुष्ठानों पर अधिक ध्यान केंद्रित करता है। वे धीरे-धीरे अपने परिवारों से खुद को अलग करना शुरू करते हैं और अगले चरण की तैयारी में अपनी भौतिक संपत्ति भी छोड़ना प्रारम्भ करते हैं।

4. संन्यास: यह वैराग्य का वह चरण है जब व्यक्ति अपने परिवारों से दूर चले जाते हैं और सन्यासी की भाँति जीवन यापन करते हैं।

भारतीय धर्मग्रंथ (जैसे ऋग्वेद जो 1500 और 1200 ईसा पूर्व के बीच बनाया गया था) कुछ संस्कारों का भी वर्णन करते हैं, जो एक सामाजिक उत्सव के रूप में किसी व्यक्ति के जीवन में प्रमुख बदलावों को चिह्नित करते हैं। ऋग्वेद में वर्णित कई संस्कारों का आज भी अभ्यास किया जाता है (चित्र 4.1)। बचपन के शुरुआती वर्षों के संस्कारों का संक्षिप्त वर्णन निम्न तालिका में दिया गया है:

संस्कार	आयु	विवरण
जातकर्म	जन्म के समय	मंत्रोच्चारण के साथ शिशु के होठों पर पिता द्वारा घी और शहद का स्पर्श कराया जाता है।
नामकरण	11 दिन से 1 वर्ष के मध्य	शिशु का नामकरण संस्कार
अन्नप्राशन	5-6 माह	शिशु को प्रथम बार अर्ध-ठोस खाद्य पदार्थ (मूलतः अनाज) खिलाया जाता है।
चूड़ाकर्म अथवा मुण्डन संस्कार	1- 3 years	शिशु के प्रथम बार बाल कटवाना, मूलतः सम्पूर्ण बाल निकलना।
उपनयन संस्कार	5 वर्ष	जनेऊ समारोह जो यह चिह्नित करता है कि बालक शिक्षा हेतु तैयार है।



चित्र 4.1: छह महीने की बच्ची का अन्नप्राशन संस्कार

प्राचीन ग्रंथ मानव मनोविज्ञान के विभिन्न पहलुओं पर भी चर्चा करते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद (600 ई.पू.) मानव व्यक्तित्व का वर्णन करता है जिसमें अलग परंतु अन्योन्याश्रित ढाँचे शामिल हैं। व्यक्तित्व का वर्णन करने के लिए तीन गुणों - सत्व (शुद्धता), रजस (क्रिया) और तमस (जड़ता) का उपयोग किया जाता है।

अभ्यास प्रश्न 1

1. कॉलम A के साथ कॉलम B का मिलान करें।

कॉलम A	कॉलम B
1. रूसो	a. बुद्धि परीक्षण
2. विल्हेम प्रीयर	b. पालन-पोषण
3. बिनेट-साइमन स्केल	c. कुलीन लोग
4. संस्कार	d. बच्चे का विस्तृत अवलोकन
5. आश्रम	e. धार्मिक अनुष्ठान
6. जॉन लोके	f. ब्रह्मचर्य

2. रिक्त स्थान भरें।

- विकासात्मक मनोविज्ञान और बाल मनोविज्ञान दोनों क्षेत्र की शाखाएँ हैं।
- मानव विकास और बाल विकास, विकास को समझने के लिए एक दृष्टिकोण का उपयोग करते हैं।
- मानव विकास और दोनों उन परिवर्तनों पर ध्यान देते हैं जो पूरे मानव जीवन काल में होते हैं।

3. इस कथन पर चर्चा करें, "प्राचीन भारतीय ग्रंथ मानव जीवन-काल के चरणों का वर्णन करते हैं"।

4.5 मानव विकास के अध्ययन हेतु अनुसंधान डिजाइन और विधियाँ

पूर्व के खंड में आपने पढ़ा कि आधुनिक मानव विकास का विषय वैज्ञानिक प्रक्रियाओं के सिद्धांतों पर स्थापित किया गया था। वैज्ञानिक प्रक्रिया यह सुनिश्चित करती है कि हमारे द्वारा प्राप्त की गई जानकारी वैध, भरोसेमंद और विश्वसनीय हो। यह हमें दावों को साबित करने या खण्डन करने, अंतराल की पहचान करने और क्षेत्र के ज्ञान का विस्तार करने में मदद करता है। इस खंड में आप जीवन के विकास के अध्ययन हेतु उपयोग किए जाने वाले वैज्ञानिक तरीकों के बारे में पढ़ेंगे।

मोटे तौर पर, वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग करते हुए एक शोध समस्या कई अवधारणा या शोध प्रश्न और उद्देश्यों के साथ शुरू होता है। इसमें एक परिकल्पना शामिल है। परिकल्पना एक पूर्वकथन या एक धारणा है। फिर शोधकर्ता यह तय करता है कि अनुसंधान कैसे किया जाएगा यानी एक शोध डिजाइन, नमूना का चयन करता है और आंकड़े एकत्र करता है। परिकल्पना का परीक्षण करने में मदद करने वाले आंकड़े विभिन्न तरीकों से एकत्र किए जाते हैं। अंत में, एकत्रित आंकड़ों के विश्लेषण के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं, और परिकल्पना या तो सही या गलत साबित होती है।

4.5.1 सामान्य अनुसंधान डिजाइन

अनुसंधान डिजाइन एक पूर्ण रणनीति है जो शोधकर्ता को शोध समस्याओं का समाधान करने की अनुमति देती है। शोधकर्ता विभिन्न प्रकार के डिजाइनों में से चुन सकता है। मानव विकास के क्षेत्र में सबसे आम शोध डिजाइन निम्न वर्णित हैं।

I. सहसंबंधी अनुसंधान

इस शोध डिजाइन में लक्ष्य दो या दो से अधिक घटनाओं या प्रतिभागियों के बीच संबंधों की ताकत का वर्णन करना होता है। उदाहरण के लिए, इसका उपयोग माता-पिता की अनुशासनात्मक तकनीकों और स्कूल में बच्चे के शैक्षणिक प्रदर्शन के बीच संबंधों की ताकत या परिवार में तलाक और बच्चे की भावनात्मक भलाई के बीच संबंध का अध्ययन करने के लिए किया जा सकता है। विचार यह है कि जितनी अधिक मजबूती से हम दो विशेषताओं के बीच संबंध को साबित कर सकते हैं, उतने ही अधिक प्रभावी रूप से हम एक घटना की दूसरे से भविष्यवाणी कर सकते हैं। कुछ घटनाओं या विशेषताओं के बीच संबंध की यह ताकत सांख्यिकीय विश्लेषण में एक संख्या के माध्यम से वर्णित की जाती है जिसे **सहसंबंध गुणांक** कहा जाता है। इस डिजाइन की खामी यह है कि जहाँ यह दो विशेषताओं के बीच के बल का वर्णन करता है, यह डिजाइन यह नहीं कह सकता है कि एक विशेषता दूसरे के होने का कारण बनती है। उदाहरण के लिए, यदि एक सहसंबंध अध्ययन माता-पिता की अनुशासनात्मक तकनीकों और स्कूल में बच्चों के अकादमिक प्रदर्शन के बीच एक उच्च संबंध को दर्शाता है, यह वास्तव में यह नहीं कह सकता है कि एक बात दूसरे का कारण बनती है। यह केवल यह दर्शाता है कि दोनों स्थितियों के होने या मौजूद रहने की संभावना अधिक है।

II. प्रायोगिक अनुसंधान

यह डिजाइन शोधकर्ता को कारण और प्रभाव के बारे में निष्कर्ष निकालने की अनुमति देता है। यह अध्ययन किए गए एक (या अधिक) कारक में बदलाव कर किया जाता है जो कि विशेषताओं को प्रभावित करता है जबकि अन्य सभी कारकों को स्थिर रखा जाता है। इस अनुसंधान डिजाइन का पारंपरिक रूप प्रयोगशाला प्रयोगों के रूप में किया जाता था। चूंकि प्रयोगशाला के प्रयोगों के निष्कर्ष हमेशा वास्तविक दुनिया पर लागू नहीं होते हैं, इसलिए विकासवादी क्षेत्र प्रयोग भी करते हैं। प्रायोगिक डिजाइन के ये रूप प्रयोगशाला प्रयोग की तरह कठिन नहीं होते हैं, लेकिन फिर भी ये कारण और प्रभाव संबंधों के बारे में अनुमान लगाते हैं।

उदाहरण के लिए, यह जानने के लिए एक अध्ययन किया गया था कि क्या गर्भवती महिलाओं के लिए योग कार्यक्रम का बच्चे के जन्म और प्रसव के बाद के स्वास्थ्य पर कोई प्रभाव पड़ता है। इसके लिए शोधकर्ता ने गर्भवती महिलाओं के दो समूह बनाए जो गर्भावस्था, उम्र, जीवन शैली, वजन, सामान्य स्वास्थ्य, खाने की आदतों, सामाजिक-आर्थिक वर्ग और भावनात्मक स्थितियों में समान थे। इनमें से एक समूह ने विशिष्ट समय अवधि के लिए योग कार्यक्रम में भाग लिया, जबकि दूसरे ने नहीं। बच्चे के जन्म के बाद इन समूहों की तुलना यह देखने के लिए की गई कि क्या वे दोनों समूहों

में बच्चे के जन्म के अनुभव और प्रसव के बाद के स्वास्थ्य के मामले में कोई अंतर देखे गए हैं। इस अध्ययन में, सभी कारक जो संभवतः दो समूहों के लिए बच्चे के जन्म के अनुभव और प्रसव के बाद के स्वास्थ्य को प्रभावित कर सकते हैं (जैसे गर्भावस्था के चरण, आयु, वजन आदि); योग कार्यक्रम को छोड़कर; को नियंत्रित किया गया था। इस प्रकार, दोनों समूहों के बीच बच्चे के जन्म के अनुभव और प्रसव के बाद के स्वास्थ्य के बारे में किसी भी अंतर को योग कार्यक्रम के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है।

III. वर्णनात्मक अनुसंधान

वर्णनात्मक अनुसंधान लोगों की विशेषताओं या घटनाओं के अवलोकन या व्यवहार की रिकॉर्डिंग के माध्यम से अध्ययन का वर्णन करता है। इस प्रकार के अनुसंधान द्वारा विशेषताओं / घटनाओं के बीच संबंध या कारण और प्रभाव को साबित नहीं किया जा सकता है, परंतु यह लोगों के व्यवहार की महत्वपूर्ण जानकारी दे सकता है।

4.5.2 अध्ययन विकास के लिए अनुसंधान डिजाइन

उपरोक्त खंड में आपके द्वारा पढ़े गए अनुसंधान डिजाइन सामान्य मनोवैज्ञानिक अध्ययन में उपयोग किए जाने वाले सामान्य डिजाइन हैं। इस खंड में, आप उन डिजाइनों के बारे में पढ़ेंगे जो जीवन विकास पर अध्ययन के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

समय के साथ इंसानों के बदलने के तरीके के बारे में विकासवादी जानकारी लेते हैं। इस प्रकार, उम्र के आधार पर की गई तुलना विकासात्मक अनुसंधानों में अनुसंधान डिजाइनों का आधार बनती है। यह चार दृष्टिकोणों के माध्यम से किया जाता है: क्रॉस-अनुभागीय डिजाइन, अनुदैर्घ्य डिजाइन, अनुक्रमिक डिजाइन और सूक्ष्म आनुवंशिक डिजाइन। इन डिजाइनों को ऊपर वर्णित सामान्य डिजाइनों के साथ जोड़ा जा सकता है।

I. क्रॉस-अनुभागीय डिजाइन

इस डिजाइन में, जो लोग उम्र में भिन्न होते हैं, उनका अध्ययन एक ही समय पर किया जाता है। यह आयु संबंधित प्रवृत्तियों का वर्णन करने का एक उपयोगी तरीका है। इस डिजाइन का एक उदाहरण है-

अलग-अलग उम्र के बच्चों के तीन समूहों; 5 साल के बच्चों का समूह, 8 साल के बच्चों का समूह और 11 साल के बच्चों के समूह में उनके माता-पिता के प्रति लगाव की तुलना की गई। विभिन्न

आयु समूहों की तुलना करके, शोधकर्ताओं ने बच्चों के माता-पिता के प्रति लगाव के आयु सम्बंधित स्वरूप में परिवर्तनों की पहचान की।

क्रॉस-अनुभागीय डिजाइन का लाभ: चूंकि आंकड़े केवल एक बार एकत्र किया जाते हैं, इसलिए शोध कम समय में पूरा किया जा सकता है।

क्रॉस-अनुभागीय डिजाइन के नुकसान: यह शोध इस बात की जानकारी नहीं देता है कि व्यक्तिगत रूप से बच्चे में समय के साथ कैसे बदलाव होते हैं या समान रहते हैं। इस डिजाइन की एक और सीमा है; 'सह-सम्बंध प्रभाव'। अर्थात् चूंकि एक ही समय अवधि में पैदा हुए लोग ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की विशिष्ट स्थितियों से प्रभावित होते हैं, इसलिए किसी विशेष समय के दौरान पैदा हुए लोगों के लिए परिणाम अन्य समय में पैदा हुए लोगों के लिए पूर्णतः सही नहीं हो सकते हैं।

II. अनुदैर्घ्य डिजाइन

अनुदैर्घ्य दृष्टिकोण एक अनुसंधान रणनीति है, जिसमें समान व्यक्तियों का एक समय अवधि में अध्ययन किया जाता है। इस शोध के लिए समय अवधि कुछ महीने, कुछ साल से लेकर दशकों लंबी हो सकती है। इस डिजाइन का एक उदाहरण है-

आत्म-सम्मान के विकास का आकलन करने के लिए 4 वर्षीय बच्चों के समूह को नमूने के रूप में चुना गया। इन बच्चों के आत्मसम्मान का मूल्यांकन अगले 6 वर्षों में तीन बार किया गया। पहला अध्ययन की शुरुआत में यानी जब वे 4 साल के थे, फिर से जब वे 6 साल के हुए और आखिर में 8 साल की उम्र में।

अनुदैर्घ्य डिजाइन के लाभ: ये अध्ययन सामान्य पैटर्न के साथ-साथ विकास में व्यक्तिगत संदर्भों के बारे में गहराई से जानकारी प्रदान करते हैं। लोगों के पहले और बाद के लक्षणों / व्यवहारों के बीच के संबंधों का भी अध्ययन किया जा सकता है।

अनुदैर्घ्य डिजाइन के नुकसान: ये अध्ययन महंगे और समय लेने वाले हो सकते हैं। चूंकि अनुदैर्घ्य अध्ययन लंबे समय तक जारी रहता है, यह संभावना अधिक होती है कि प्रतिभागी परिवार के दूसरी जगह स्थानांतरित होने, अध्ययन में रुचि खोने या प्रतिभागी के बीमार होने आदि कारणों से अध्ययन से बाहर निकल जाते हैं। इसके अलावा प्रतिभागी अध्ययन के मूल्यांकन पैमानों पर वास्तविक

विकासात्मक कारणों के बजाय शोध के दौरान पुनः-पुनः परीक्षणों के अभ्यास के कारण बेहतर परिणाम दे सकते हैं। अनुदैर्घ्य डिजाइन सह-सम्बंध प्रभाव भी दर्शाते हैं।

III. अनुक्रमिक डिजाइन

यह डिजाइन क्रॉस-अनुभागीय और अनुदैर्घ्य डिजाइन के सर्वोत्तम पहलुओं को जोड़ता है। इस डिजाइन में विभिन्न आयु समूहों के प्रतिभागियों का महीनों या वर्षों की अवधि में बार-बार अध्ययन किया जाता है। इस डिजाइन में समय क्रॉस-अनुभागीय अध्ययन से अधिक लंबा होता है, परंतु आमतौर पर अनुदैर्घ्य अध्ययन से छोटा होता है। इस डिजाइन का एक उदाहरण है-

3 से 9 वर्ष के बच्चों में संवेदना के विकास का अध्ययन अनुक्रमिक डिजाइन के माध्यम से किया जा सकता है। हम अध्ययन की शुरुआत वर्ष 2019 में 3 वर्षीय बच्चों (वर्ष 2016 में पैदा हुए बच्चे) और 6 वर्षीय बच्चों (वर्ष 2013 में पैदा हुए बच्चे) में संवेदना के विकास से कर सकते हैं। हम 2020 और 2022 में इन समूहों का पुनः अध्ययन कर सकते हैं।

अनुक्रमिक डिजाइन के लाभ: यह डिजाइन दोनों अनुदैर्घ्य और क्रॉस-अनुभागीय तुलना एक ही अध्ययन में करने की अनुमति देता है। यह हमें यह निर्धारित करने की अनुमति भी देता है कि क्या अध्ययन के परिणामों सह-सम्बंध प्रभाव प्रभावित कर रहे हैं या नहीं।

IV. सूक्ष्मजैविक डिजाइन

इस डिजाइन में, बच्चों को एक विशिष्ट समय अवधि में देखा जाता है जब एक विकासात्मक परिवर्तन होता है। प्रतिभागियों के व्यवहार के अध्ययन में उसमें बदलाव होने पर यह डिजाइन यह पता लगाने में मदद करता है कि परिवर्तन कैसे और क्यों होते हैं।

4.5.3 आंकड़े एकत्र करने के लिए अनुसंधान की विधियाँ

एक बार शोधकर्ता द्वारा अध्ययन का एक डिजाइन चुन लिया जाता है, तत्पश्चात उसे उन तरीकों का पता लगाना होगा जिनके द्वारा वे प्रतिभागियों से आंकड़े एकत्र करेंगे। आंकड़े एकत्र करने की विभिन्न विधियाँ हैं। शोधकर्ता उस विधि का चयन करते हैं जो अध्ययन के क्षेत्र में और इसमें शामिल प्रतिभागियों के लिए सबसे उपयुक्त है। आंकड़े एकत्र करने के सबसे आम तरीकों को उनकी ताकत और सीमाओं के साथ वर्णित किया जाता है।

I. अवलोकन

अवलोकन एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जहां हम व्यवस्थित रूप से मानव व्यवहार को देखते हैं और देखी तथा सुनी स्थिति को रिकॉर्ड करते हैं। जो पर्यवेक्षक आंकड़े एकत्र करता है, उसे इस बारे में स्पष्ट विचार करने की आवश्यकता होती है कि अवलोकन विधि में शोध प्रश्न, प्रतिभागी और संदर्भ क्या हैं। अवलोकन लोगों के व्यवहार के बारे में उपयोगी आंकड़े प्रदान करता है, हालांकि यह विधि समय लेने वाली होती है।

अवलोकन विधियों के विभिन्न प्रकार हैं। निम्न आधार पर अवलोकन को वर्गीकृत किया जा सकता है:

1. वह व्यवस्था जहां अवलोकन किया जा रहा हो; तथा,

2. शोधकर्ता द्वारा भागीदारी का प्रकार

आइए इस बारे में विस्तार से जानें।

1. अवलोकन का प्रकार: वह व्यवस्था जहां अवलोकन किया जा रहा हो

व्यवस्था के आधार पर दो प्रकार के व्यवस्थित अवलोकन के तरीके हैं-

प्राकृतिक अवलोकन और संरचित अवलोकन

क) प्राकृतिक अवलोकन: इस अवलोकन विधि में वास्तविक दुनिया में व्यवहार का अवलोकन करना शामिल है। उदाहरण के लिए, एक माँ और एक बच्चे के बीच के लगाव का अध्ययन करने के लिए, शोधकर्ता अपने ही घर में माँ और बच्चे के मध्य बातचीत का निरीक्षण करते हैं। इस प्रकार के अवलोकन का एक लाभ यह होता है कि यह प्रतिभागियों के रोजमर्रा के जीवन और व्यवहार को दर्शाता है। हालाँकि, इस पद्धति का दोष यह है कि शोधकर्ता का ऐसी प्राकृतिक व्यवस्था पर कोई नियंत्रण नहीं होता है। कुछ व्यवहार जो अध्ययन के लिए प्रासंगिक होते हैं, उन सभी पर ध्यान नहीं दिया जा सकता है क्योंकि कुछ प्रतिभागियों को अवलोकन अवधि के दौरान स्वाभाविक रूप से इन व्यवहारों को व्यक्त करने का मौका नहीं मिल पाता है।

ख) संरचित अवलोकन: यह एक प्रयोगशाला व्यवस्था में व्यवहार का अवलोकन है, जहां शोधकर्ता द्वारा स्थितियों को नियंत्रित किया जाता है। कुछ कारकों को नियंत्रित करना शोधकर्ता को यह सुनिश्चित करने की अनुमति देता है कि प्रतिभागी द्वारा कुछ निश्चित व्यवहार प्रकट हो सकेंगे। उदाहरण के लिए, दूसरों के दुखी होने पर बच्चों की प्रतिक्रिया पर अध्ययन में शोधकर्ता प्रयोगशाला

व्यवस्था में यह सुनिश्चित करने में सक्षम होता है कि अध्ययन में भाग लेने वाले सभी बच्चों ने दुख व्यक्त करने वाले व्यक्ति की एक ही स्थिति को देखा। यह बच्चों की घर या स्कूल की प्राकृतिक व्यवस्था में संभव नहीं होता है, जहाँ प्रतिभागी बच्चे दुख की विभिन्न प्रकार की स्थितियाँ देख सकते हैं और भावनाओं की अलग-अलग तीव्रता व्यक्त की जाती है। इस प्रकार प्रयोगशाला व्यवस्था शोधकर्ता को अवलोकन की व्याख्या करने में अधिक आश्वस्त होने की अनुमति देती है। हालांकि, इस पद्धति का दोष यह है कि चूंकि प्रयोगशाला व्यवस्था अपरिचित और अप्राकृतिक होती है, इसलिए प्रतिभागियों ऐसा व्यवहार किया जा सकता है जो उनके दैनिक जीवन के लिए विशिष्ट नहीं होते हैं।

2. शोधकर्ता द्वारा भागीदारी के प्रकार के आधार पर अवलोकन प्रकार

भागीदारी के प्रकार के आधार पर अवलोकन दो प्रकार के होते हैं-

प्रतिभागी और गैर-प्रतिभागी अवलोकन

क) गैर-प्रतिभागी अवलोकन: इस प्रकार का अवलोकन तब होता है जब शोधकर्ता या पर्यवेक्षक अवलोकित स्थिति में किसी भी तरह से खुद को शामिल किए बिना अवलोकन करता है। जबकि प्रतिभागियों को पता होता है कि उन्हें अवलोकित किया जा रहा है, वे पर्यवेक्षक के साथ बातचीत नहीं करते हैं। एक विशुद्ध रूप से गैर-प्रतिभागी अवलोकन बहुत मुश्किल है, खासकर जब बच्चों का अवलोकन किया जा रहा हो। वर्तमान समय में, वीडियो-कैमरा जैसी तकनीक का उपयोग कर इस पद्धति को आसान बनाया जा सकता है। जहाँ इस पद्धति में मौजूद प्रतिभागी और शोधकर्ता के अलग होने से शोधकर्ता को निष्पक्षता की भावना बनाए रखने में मदद मिलती है, वहीं प्रतिभागी की तुलना में शोधकर्ता अवलोकन की जा रही स्थिति की गहराई को तुलनात्मक रूप से कम समझ पाता है।

ख) प्रतिभागी अवलोकन: इस प्रकार का अवलोकन तब होता है जब पर्यवेक्षक उस स्थिति में भाग लेता है जो अवलोकित की जा रही हो। यहां पर्यवेक्षक गतिविधियों के अवलोकन के दौरान प्रतिभागियों के साथ बातचीत करता है। इस विधि का उपयोग अक्सर गुणात्मक शोधों में किया जाता है। नृवंशविज्ञान एक प्रकार की प्रतिभागी अवलोकन विधि है जो मानव विज्ञान के क्षेत्र से उभरी है। नृवंशविज्ञान में अवलोकन किसी एक व्यक्ति पर केंद्रित नहीं होता है, अपितु प्रतिभागी अवलोकन के माध्यम से एक संस्कृति या समुदाय को समझने की दिशा में निर्देशित होता है।

हालांकि इस पद्धति से किसी स्थिति या संस्कृति को गहराई से समझा जा सकता है, परंतु शोधकर्ता के अपने व्यक्तिपरक परिप्रेक्ष्य से निष्कर्ष प्रभावित हो सकते हैं।

II. स्व-रिपोर्ट

स्वयं रिपोर्ट में साक्षात्कार और प्रश्नावली जैसी विधियाँ शामिल हैं जो प्रतिभागियों से उनके अनुभवों, धारणाओं, विचारों, दृष्टिकोणों, क्षमताओं और भावनाओं के बारे में पूछती हैं।

1. साक्षात्कार

साक्षात्कार एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा शोधकर्ता प्रतिभागी से अध्ययन के क्षेत्र से सम्बंधित सवाल पूछते हैं और फिर इन वार्तालापों से निष्कर्ष निकालते हैं। अध्ययन के प्रकार के आधार पर, साक्षात्कार बहुत ही संरचित (जहां शोधकर्ता द्वारा उन प्रश्नों को एक पूर्व निर्धारित क्रम में सूचीबद्ध किया जाता है जो वे पूछना चाहते हैं), असंरचित और अनौपचारिक चर्चा प्रकार के हो सकते हैं।

हालांकि साक्षात्कार आम तौर पर व्यक्तिगत रूप से किए जाते हैं, परंतु आजकल साक्षात्कार टेलीफोन और इंटरनेट पर भी आयोजित किए जाते हैं। आमने-सामने किए गए साक्षात्कार गहनतम आंकड़े प्रदान करते हैं क्योंकि शोधकर्ता के पास न केवल उनके द्वारा बोले गए शब्दों को लिखने का मौका होता है, बल्कि वे प्रतिभागी के हावभाव और चेहरे के भाव का भी निरीक्षण कर सकते हैं। इसके अलावा आमने-सामने के साक्षात्कार, तालमेल-गठन के लिए एक बेहतर अवसर पैदा करते हैं। वे प्रतिभागी जो नई तकनीक के साथ असहज होते हैं, वे व्यक्तिगत साक्षात्कार के दौरान अधिक सहज रूप से उत्तर देते हैं। हालांकि, ऐसी स्थितियों में जहां आमने-सामने साक्षात्कार संभव नहीं होते हैं, टेलीफोन और इंटरनेट माध्यम अत्यंत उपयोगी हो सकते हैं।

इस पद्धति का लाभ यह है कि इसमें प्रतिभागी के दृष्टिकोण को जाना जा सकता है। यदि कोई संदेह उत्पन्न होता है, तो उसे भी स्पष्ट किया जा सकता है। इस पद्धति की सीमा यह है कि शोधकर्ता को खुश करने के लिए अथवा सामाजिक रूप से उचित उत्तर देने के कारण प्रतिभागी अपने विचारों, भावनाओं और अनुभवों की सही-सही जानकारी नहीं देते हैं। कभी-कभी साक्षात्कार को रिकॉर्ड करने के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले उपकरण जैसे रिकॉर्डर आदि उत्तरदाताओं को सचेत और असहज बना सकते हैं।

2. प्रश्नावली

प्रश्नावली वह विधि है जहां प्रतिभागियों से एक लिखित प्रारूप के माध्यम से पूछताछ की जाती है। प्रश्नावली पद्धति को कभी-कभी सर्वेक्षण के रूप में भी जाना जाता है। प्रभावी होने के लिए एक प्रश्नावली भाषा में स्पष्ट होनी चाहिए। इस पद्धति का लाभ यह है कि इसे प्रबंधित करना आसान है और थोड़े समय में बड़ी संख्या में लोगों से आंकड़े एकत्र किए जा सकते हैं। चूंकि सभी प्रतिभागियों को समान प्रश्न मिलते हैं, इसलिए विश्लेषण प्रक्रिया आसान होती है। इस पद्धति की सीमा यह है कि इसे केवल साक्षर लोगों पर ही प्रयोग किया जा सकता है और अनुवर्ती प्रश्नों के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती है। साक्षात्कार विधि की तरह, यहाँ भी उत्तरदाता अपने विचारों और भावनाओं को सटीक रूप से व्यक्त नहीं करता है।

III. मानकीकृत परीक्षण

यह लागू करने, स्कोरिंग और व्याख्या करने की समान प्रक्रियाओं वाला परीक्षण है। यह सुनिश्चित करने के लिए कि ये विश्वसनीय, मान्य और मानदंडों पर आधारित हैं, ये परीक्षण एक परीक्षण प्रक्रिया से गुजरते हैं। कुछ लोकप्रिय मानकीकृत परीक्षणों में स्टैनफोर्ड-बिनेट इंटेलिजेंस टेस्ट, बच्चों का मूल्यांकन परीक्षण आदि शामिल हैं। पश्चिमी संदर्भ में विकसित किए गए परीक्षण आम तौर पर भारतीय संदर्भ के लिए सांस्कृतिक रूप से उपयुक्त नहीं होते हैं, अतः भारतीय संदर्भ में उपयोग हेतु इनमें बदलाव और अनुकूलन की आवश्यकता होती है।

IV. केस स्टडी

केस स्टडी विधि का उद्देश्य किसी व्यक्ति के बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त करना है। इसे करने के लिए कई तरीकों जैसे साक्षात्कार, अवलोकन और मानकीकृत परीक्षण आदि का उपयोग किया जाता है। केस स्टडी विधि का उद्गम मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत से हुआ है। केस स्टडी विधि लोगों के जीवन का गहराई से वर्णन प्रदान करती है। इस पद्धति की सीमा यह है कि शोधकर्ता की सैद्धांतिक प्राथमिकताएं पूर्वाग्रहित निष्कर्षों को जन्म दे सकती हैं। इसके अलावा, निष्कर्ष विशेष रूप से एक व्यक्ति के बारे में होते हैं, इसलिए इसे सामान्यीकृत नहीं किया जा सकता है।

V. साइकोफिजियोलॉजिकल विधि

साइकोफिजियोलॉजिकल विधियाँ ऐसी तकनीकें हैं जो मनुष्यों में शारीरिक प्रतिक्रियाओं और व्यवहार के बीच संबंध को मापती हैं। इनमें वे अध्ययन शामिल हैं जो लोगों के हृदय गति में बदलाव, हार्मोन स्तर में बदलाव आदि को मापते हैं। इसमें मस्तिष्क का अध्ययन करने वाली

तकनीकों जैसे न्यूरोइमेजिंग का भी उपयोग किया जाता है। ये विधियाँ विकास को समझने के लिए एक जैविक दृष्टिकोण प्रदान करती हैं और विशेष रूप से शिशुओं और बच्चों के अध्ययन में उपयोगी होती हैं। हालाँकि, ये विधियाँ पूर्ण रूप से प्रतिभागी की भावनाओं को व्यक्त नहीं कर सकती हैं।

इस खंड में वर्णित विभिन्न विधियाँ मानव विकास और विकासात्मक मनोविज्ञान के क्षेत्र में उपयोग की जाने वाली विधियों की एक विस्तृत सूची का प्रतिनिधित्व नहीं करती हैं। हालाँकि उपरोक्त विधियाँ सर्वाधिक प्रयोग किए जाने वाले तरीके हैं।

4.5.4 विकासात्मक अनुसंधान में नैतिक विचार

मनुष्यों के साथ अनुसंधान करते समय, शोधकर्ताओं को यह सुनिश्चित करने की आवश्यकता होती है कि उनके अनुसंधान अभ्यास नैतिक हैं। इसका अर्थ है कि;

- शोध द्वारा शोधार्थी के अनुसंधान प्रतिभागियों को कोई शारीरिक या मनोवैज्ञानिक नुकसान नहीं होना चाहिए।
- सभी प्रतिभागियों को अध्ययन में भाग लेने के लिए तैयार होना चाहिए। शोध में क्या होगा, इसकी जानकारी देने के बाद उनकी सहमति लेना आवश्यक है। छोटे बच्चों के मामले में, बच्चे के माता-पिता या उनकी संरक्षक संस्था जैसे स्कूल से सूचित सहमति ली जानी चाहिए।
- सभी प्रतिभागियों को किसी भी समय अनुसंधान में भागीदारी से बाहर होने का अधिकार होना चाहिए।
- प्रतिभागियों को गोपनीयता की गारंटी दी जानी चाहिए। उनके नाम और संबंधित व्यक्तिगत जानकारी को छुपाया जाना चाहिए।
- प्रतिभागियों को अनुसंधान के परिणामों से अवगत होने का अधिकार होना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न 2

1. अंतर स्पष्ट कीजिए।
 - a. प्रतिभागी और गैर-प्रतिभागी अवलोकन
 - b. क्रॉस-अनुभागीय और अनुदैर्घ्य शोध डिजाइन
2. सही अथवा गलत बताइए। गलत वाक्यों को सही कीजिए।

a. प्रश्नावली का उपयोग जनसंख्या में सभी लोगों के साथ किया जा सकता है, चाहे वह साक्षर हों या न हों।

.....

b. आमने-सामने वाले साक्षात्कार गहन आंकड़े प्रदान करते हैं क्योंकि शोधकर्ता के पास प्रतिभागियों के हावभाव और चेहरे के भाव के साथ-साथ बोले गए शब्दों पर ध्यान देने का मौका होता है।

.....

c. अनुक्रमिक डिजाइन क्रॉस-अनुभागीय और अनुदैर्घ्य डिजाइन का एक संयोजन है।

.....

d. प्राकृतिक अवलोकन में प्रयोगशाला व्यवस्था में व्यवहार का अवलोकन करना शामिल है।

.....

3. शोधकर्ता यह कैसे सुनिश्चित कर सकते हैं कि उनके अनुसंधान अभ्यास नैतिक हैं?

.....

4.6 सारांश

यह इकाई विभिन्न विषयों के बारे में जानकारी देती है जो मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में विकास संबंधी परिवर्तनों का अध्ययन करते हैं। मानव विकास, विकासात्मक मनोविज्ञान, बाल विकास और बाल मनोविज्ञान विषय एक-दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं, वहीं इनमें निम्न के संदर्भ में मतभेद हैं;

- कार्यप्रणाली दृष्टिकोण: विकासात्मक मनोविज्ञान और बाल मनोविज्ञान दोनों मनोविज्ञान के क्षेत्र की शाखाएं हैं, जो विकास को समझने के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का उपयोग करते हैं। दूसरी ओर, मानव विकास और बाल विकास एक बहु-विषयक दृष्टिकोण का उपयोग करते हैं।

- आयु का अध्ययन: मानव विकास और विकासात्मक मनोविज्ञान पूरे जीवन काल में विकास पर केंद्रित है, अर्थात गर्भाधान से मृत्यु तक। दूसरी ओर बाल विकास और बाल मनोविज्ञान जन्मपूर्व विकास, शैशवावस्था, बचपन और किशोरावस्था पर केंद्रित है।

फिर इकाई में हमने अध्ययन किया कैसे मानव विकास एक अध्ययन के क्षेत्र के रूप में उभरा। यूरो-अमेरिकी संदर्भ में, इस क्षेत्र की प्रारंभिक उत्पत्ति प्राचीन यूनानी दार्शनिक प्लेटो और अरस्तू के साथ-साथ चिकित्सक हिप्पोक्रेट्स की कृतियों में देखी जा सकती है। मध्यम आयु के दौरान, बच्चे के 'मूल दोष दृश्य' की वकालत की गई थी। बाद में रूसो के 'जन्मजात अच्छाई' के दृश्य ने बचपन को वैकल्पिक दृष्टिकोणों से समझने की प्रस्तुति की। फिर उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में चार्ल्स डार्विन, विल्हेम प्रीयर, विल्हेम वुंड्ट, स्टेनली हॉल, अर्नोल्ड गेसेल, अल्फ्रेड बिनेट्टेड थियोडोर साइमन आदि के कार्यों से प्रेरित होकर इस क्षेत्र में वैज्ञानिक अध्ययन की शुरुआत की गई। बीसवीं सदी के मध्य में मानव विकास एक वैध विषय के रूप में विकसित हुआ।

प्राचीन भारतीय संदर्भ में, साहित्यिक स्रोतों जैसे- वेद, स्मृतिशोध, उपनिषद् आदि ने मानव विकास, मनोविज्ञान, नैतिकता और स्वास्थ्य की प्रकृति का पता लगाया। आश्रम और संस्कार जैसे विचार, मानव जीवन के विभिन्न चरणों के बारे में बताते हैं। ये प्राचीन ग्रंथ मानव मनोविज्ञान के विभिन्न पहलुओं पर भी चर्चा करते हैं।

अंत में इस इकाई में की जीवन के विकास के अध्ययन में उपयोग किए जाने वाले शोध के तरीके, डिजाइन और उपकरणों की चर्चा की गई। एक शोधकर्ता को ध्यान में रखने के लिए नैतिक विचारों के बारे में भी इस इकाई में बताया गया।

4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. कॉलम A के साथ कॉलम B का मिलान करें।

1-c, 2-d, 3-a, 4-e, 5-f, 6- b

2. रिक्त स्थान भरें।

- मनोविज्ञान
- बहुविषयक

c. विकासात्मक मनोविज्ञान

3. खण्ड 4.4.2 देखें।

अभ्यास प्रश्न 2

1. अंतर स्पष्ट कीजिए।

a. खण्ड 4.5.3 देखें।

b. खण्ड 4.5.2 देखें।

2. सही अथवा गलत बताइए। गलत वाक्यों को सही कीजिए।

a. गलत। प्रश्नावली का उपयोग केवल साक्षर लोगों पर किया जा सकता है।

b. सही

c. सही

d. गलत। प्राकृतिक अवलोकन में वास्तविक दुनिया में व्यवहार का अवलोकन करना शामिल है।

3. खण्ड 4.5.4 देखें।

4.8 पारिभाषिक शब्दावली

- **प्रतिभागी:** अध्ययन का नमूना यानी वे लोग जिन पर शोध अध्ययन किया जा रहा हो।
- **शोधकर्ता:** शोध करने वाला व्यक्ति।
- **तालमेल-गठन:** साक्षात्कार से पूर्व प्रतिभागियों को सहज बनाने के लिए उनकी साक्षात्कारकर्ता के साथ बातचीत करने की प्रक्रिया।

4.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

- American Psychological Association. (2018). Child psychology. Retrieved on 2nd February 2018 from <https://dictionary.apa.org/child-psychology>
- American Psychological Association. (2018). Developmental psychology. Retrieved on 2nd February 2018 from <https://dictionary.apa.org/developmental-psychology>
- Berk, L.E. (2003). *Childdevelopment (6th Ed.)*. Pearson Education, Inc.: India.

-
- Berk, L.E. (2014). *Development through the lifespan (6th Ed.)*. Pearson Education, Inc.: United States of America.
 - Ciccarelli, S. K. & Meyer, G. E. (2009). *Psychology: South Asian edition*. New Delhi: Dorling Kindersley (India) Pvt. Ltd.
 - Green, D.C. (2002). Ancient Greek thought. In B. Giles (Ed.), *Introducing psychology: History of psychology*. (pp. 10-15) London: The Brown reference Group
 - Khalakdina, M. (2008). *Human development in the Indian context: a socio-cultural focus (volume 1)*. New Delhi: Sage Publications
 - Kelly, E. B. (2002). Early psychology. In B. Giles (Ed.), *Introducing psychology: History of psychology*. (pp. 16-21) London: The Brown reference Group
 - Lerner, R. M. (2006). Developmental science, developmental systems, and contemporary theories of human development. In Lerner, R. M. (Ed.), *Handbook of Child psychology (6th Ed.), Volume One: Theoretical Models of Human Development* (pp. 1-17). USA: John Wiley & Sons, Inc.
 - Santrock, J.W. (2011). *Child Development (13th ed.)*. McGraw-Hill: New York.
 - Shaffer, D. R., & Kipp, K. (2014). *Developmental psychology: Childhood and adolescence (9th Ed.)*. Cengage Learning: Canada
 - Rangila, D. & Sagar, S. (2015). Adulthood: Transitional roles and responsibilities. In Asha Singh (Ed.), *Foundations of Human Development: A life Span Approach* (pp. 123-139). Orient Blackswan Pvt. Ltd.: New Delhi
 - Singh, A. (2015). Basic ideas in human development. In Asha Singh (Ed.), *Foundations of Human Development: A life Span Approach* (pp. 1-24). Orient Blackswan Pvt. Ltd.: New Delhi

इकाई 5: परिपक्वता व अधिगम: विकास के प्रतिमान

- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 उद्देश्य
- 5.3 परिपक्वता का अर्थ तथा परिभाषाएं
- 5.4 बालकों में परिपक्वता व विकास के क्षेत्र
 - 5.4.1 परिपक्वता तथा शारीरिक/गत्यात्मक विकास
 - 5.4.2 परिपक्वता तथा संवेगात्मक विकास
 - 5.4.3 परिपक्वता तथा संज्ञानात्मक विकास
 - 5.4.4. परिपक्वता तथा भाषा विकास
 - 5.4.5 परिपक्वता तथा सामाजिक विकास
- 5.5 परिपक्वता की विशेषताएं
- 5.6 अधिगम का अर्थ तथा परिभाषाएं
- 5.7 अधिगम की विशेषताएं
- 5.8 अधिगम के प्रकार
- 5.9 अधिगम के सिद्धान्त
- 5.10 अधिगम (सीखने) के नियम
- 5.11 अधिगम के आधार
- 5.12 अधिगम को प्रभावित करने वाले कारक
- 5.13 बालक के विकास में परिपक्वता तथा अधिगम का महत्व
- 5.14 सारांश
- 5.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 5.16 निबंधात्मक प्रश्न
- 5.17 संदर्भ ग्रंथ सूची

5.1 प्रस्तावना

जैसा की आप ब्लॉक 1 की इकाई 2 में अध्ययन कर चुके हैं कि किस प्रकार मानव विकास में वंशानुक्रम और वातावरण महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वैसे ही परिपक्वता और अधिगम भी एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और मानव विकास में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

इस इकाई में हम परिपक्वता व अधिगम के विषय में जानेंगे। परिपक्वता और अधिगम विकास के बुनियादी तत्व हैं।

आप ने पूर्व में पढ़ा है कि वंशानुक्रम बालक को जन्मजात गुण प्रदान करता है तथा बालक के आस-पास का वातावरण इन गुणों को विकसित करने में सहायता प्रदान करता है परन्तु परिपक्वता तथा अधिगम के अभाव में यह गुण पूर्णतः विकसित नहीं हो पाते हैं। बालक के सम्पूर्ण विकास के लिए पूर्ण परिपक्वता और उपयुक्त अधिगम की आवश्यकता होती है। यदि समयानुसार बालक में किसी भी कारण से परिपक्वता और अधिगम का अभाव होता है तो ऐसा बालक सामान्य बालक की अपेक्षा अविकसित रह जाता है। अतः हमें परिपक्वता और अधिगम को समझने की आवश्यकता है।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप;

- परिपक्वता को परिभाषित कर पाएंगे;
- परिपक्वता का विकास के विभिन्न क्षेत्रों से संबन्ध जान सकेंगे तथा परिपक्वता की विशेषताओं से परिचित हो पाएंगे;
- अधिगम की विशेषताएं जान पाएंगे;
- अधिगम के प्रकार, सिद्धांत तथा नियम से परिचित हो पाएंगे;
- अधिगम को प्रभावित करने वाले कारकों को समझेंगे; तथा
- बालक के विकास में परिपक्वता तथा अधिगम के महत्व को जानेंगे।

5.3 परिपक्वता का अर्थ तथा परिभाषाएं

बाल विकास में परिपक्वता का सिद्धान्त सर्वप्रथम **अरनॉल्ड गीसेल** ने दिया था। उनका मानना था कि परिपक्वता वह प्रक्रिया है जिसमें विकास आंतरिक कारकों के कारण होता है। गीसेल के अनुसार बच्चों में विकास की गति उनके स्नायु तन्त्र की वृद्धि पर निर्भर करती है। जैसे-जैसे स्नायु तन्त्र

विकसित होता है, बालकों का मस्तिष्क विकसित होता है और वैसे-वैसे बालक के व्यवहार में परिवर्तन आता है। गीसेल का विचार था कि विकास की निश्चित अवस्थाओं में निश्चित स्नायुविक तथा मांसपेशीय परिवर्तन होते हैं जो इन विकास की अवस्थाओं के अनुसार परिपक्वता प्रदान करते हैं। परिपक्वता सम्बन्धी परिवर्तन इन निश्चित अवस्थाओं से पूर्व नहीं हो सकते हैं।

आईजनेक व उनके साथियों ने भी परिपक्वता को परिभाषित किया है। आईजनेक व उनके साथियों के अनुसार “परिपक्वता शारीरिक, मानसिक और मनोवैज्ञानिक विभेदीकरण और एकता की वह स्वतंत्र प्रक्रिया है जो विकासात्मक अवस्थाओं में फैली हुई है। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप ही शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक और सामाजिक रूप से जीव की वृद्धि पूर्ण रूप से सुदृढ़ होती है तथा इस प्रकार जीव अपने जीवन में अनुकूलन करता है”।

जरसील्ड व अन्य के अनुसार “परिपक्वता एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा जीव की अन्तर्निहित सामान्य क्षमताएं कार्यात्मक तत्परता की अवस्था तक पहुँच जाती हैं। इस प्रक्रिया में संरचना में होने वाले वह परिवर्तन भी सम्मिलित हैं जो विकास के साथ होते हैं। कार्य निष्पादन के लिए पृष्ठभूमि निर्मित करने वाली संरचना का प्रगतिपूर्ण अभ्यास भी इस प्रक्रिया में सम्मिलित है”।

शिशु के पूर्ण विकास के लिए परिपक्वता का महत्व है। परिपक्वता का प्रभाव गर्भस्थ शिशु में होने वाले विकास से ही दिखाई देने लगता है। प्रत्येक अवस्था में, विशेषकर शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था में परिपक्वता विकास को प्रभावित करती है। जैसे- जैसे बालक की आयु बढ़ने लगती है और वह प्रौढ़ावस्था की ओर अग्रसर होता है, वैसे- वैसे विकास में परिपक्वता का महत्व कम होने लगता है अर्थात् हम कह सकते हैं कि प्रारम्भिक वर्षों में परिपक्वता का कार्य और महत्व अधिक होता है। जब बालक स्नायुविक और मांसपेशीय प्रौढ़ता प्राप्त कर लेता है तब परिपक्वता की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है।

परिपक्वता को अधिक अच्छे ढंग से समझने के लिए हम एक उदाहरण लेते हैं। आपने पूर्व की इकाई में पढ़ा भी होगा या अनेक बार अपने आसपास किसी शिशु को बढ़ते या विकसित होते हुए देखा होगा। नवजात शिशु प्रारम्भ में केवल लेटा रहता है और फिर कुछ समय बाद, धीरे-धीरे वह सिर उठाना सीखता है। फिर धड़ को खिसकाना सीखता है। 6 माह का शिशु बैठने लगता है, फिर घुटने के बल चलने की प्रक्रिया करता है, उसके बाद वह आयुनुसार खड़ा होने, चलने, दौड़ने की क्रिया करने लगता है। ये सभी क्रियाएं धीरे-धीरे शिशु की परिपक्वता के कारण होती हैं। उसकी स्नायुविक तथा मांसपेशीय प्रौढ़ता उसे परिपक्वता प्रदान करने में सहायक होते हैं।

5.4 बालकों में परिपक्वता व विकास के क्षेत्र

मनोवैज्ञानिकों ने अध्ययन करके यह पाया कि परिपक्वता मानव के सम्पूर्ण विकास में योगदान देती है। परिपक्वता मानव विकास के अनेक आयाम जैसे शारीरिक, गत्यात्मक, संवेदनात्मक, मानसिक, भाषा विकास से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है। इस सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने अनेक शोध किए जिन्हें हम निम्न प्रकार से समझ सकते हैं:

5.4.1 परिपक्वता तथा शारीरिक/गत्यात्मक विकास

परिपक्वता का शारीरिक तथा गत्यात्मक विकास में प्रभाव पड़ता है। जैसे-जैसे बालक की मांसपेशियाँ तथा अस्थियाँ परिपक्व होती हैं, वैसे-वैसे उसका शारीरिक तथा क्रियात्मक/गत्यात्मक विकास भी होता है।

आइए यह हम उदाहरण से समझते हैं। प्रारम्भ में नवजात शिशु गेंद पकड़ना, गेंद फेंकना, सीढ़ियाँ चढ़ना, दौड़ना जैसी शारीरिक क्रियाएँ नहीं कर सकता है परन्तु जैसे-जैसे बालक की नाड़ियों, मांसपेशियों तथा अस्थियों में परिपक्वता आती है वो यह क्रियाएँ आसानी से करने लगता है अर्थात् बालक का शारीरिक विकास उसकी परिपक्वता पर निर्भर करता है। परिपक्वता के ही कारण बालक के सूक्ष्म क्रियात्मक कौशल भी विकसित होने लगते हैं।

उदाहरण: लगभग 3-4 वर्ष का बालक छोटी तथा सूक्ष्म मांसपेशियों का प्रयोग करने लगता है। जैसे पेंसिल पकड़कर लिखना, चित्र बनाना, चित्र में रंग भरना, कैंची की सहायता से कागज काटना आदि क्रियाएँ करने लगता है जो उसकी सूक्ष्म मांसपेशियों की परिपक्वता के फलस्वरूप सम्भव होती हैं।

5.4.2 परिपक्वता तथा संवेगात्मक विकास

परिपक्वता तथा संवेगात्मक विकास के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए गैसेल ने अध्ययन किया। उन्होंने आयु के आधार पर बालकों के तीन वर्ग बनाए। पहला वर्ग दस सप्ताह के बालकों का, दूसरा वर्ग बीस सप्ताह के बालकों का तथा तीसरा वर्ग तीस सप्ताह के बालकों का। इन तीनों वर्गों के बालकों को भय की परिस्थिति में रखा गया और यह पाया गया कि प्रथम वर्ग के बालकों में किसी प्रकार का भय नहीं था। दूसरे वर्ग के बालकों ने बेचैनी व घबराहट प्रदर्शित किया तथा तीसरे वर्ग के बालकों में व्याकुलता, रोना- चिल्लाना पाया गया। इस आधार पर गैसेल ने निष्कर्ष निकाला कि आयु बढ़ने के साथ-साथ बालकों में परिपक्वता आने लगती है। शारीरिक तथा मानसिक परिपक्वता के साथ-साथ संवेगात्मक व्यवहार भी बढ़ जाता है। अन्तः स्त्रावी ग्रन्थियों की परिपक्वता पर ही बालकों का संवेगात्मक विकास तथा व्यवहार निर्भर करता है।

गुडनाइक ने भी इस संदर्भ में अध्ययन किया। उन्होंने एक दस साल की बच्ची जो बहरी तथा अन्धी थी उसके संवेगात्मक व्यवहार पर शोध किया तथा सामान्य बच्चे (जो अन्धे व बहरे नहीं थे) से तुलना करने पर पाया कि उसके दोनों संवेगात्मक व्यवहारों में कोई अन्तर नहीं था। इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला कि संवेगात्मक व्यवहार परिपक्वता पर निर्भर करता है तथा परिवेश और परिस्थिति का परिपक्वता पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता है।

ऑरबिसन तथा हिक्स के अध्ययन के अनुसार ऐड्रीनल ग्रंथि की परिपक्वता पर संवेगों का विकास निर्भर करता है। यह ग्रन्थि जन्म के कुछ समय बाद आकार में छोटी हो जाती है, लगभग 5 वर्ष में इसका विकास तीव्र गति से होता है, 5-11 वर्ष में फिर से इसका विकास धीमा पड़ जाता है, 11-16 वर्ष की आयु में इसका विकास पुनः तीव्र गति से होता है। अतः हम कह सकते हैं कि जैसे-जैसे ग्रंथियों में आयु के अनुसार परिपक्वता आती है वैसे-वैसे बालकों में संवेगात्मक विकास होता है।

5.4.3 परिपक्वता तथा संज्ञानात्मक विकास

परिपक्वता संज्ञानात्मक (मानसिक) विकास को भी प्रभावित करती है। यह “पियाजे के संज्ञान सिद्धान्त” के आधार पर भी कहा जा सकता है। पियाजे के अनुसार संवेगात्मक विकास की चार अवस्थाएं होती हैं, जो निम्न हैं:

- **संवेदी-पेशीय अवस्था (Sensorimotor stage)**

यह अवस्था जन्म से 2 वर्ष तक रहती है। इस अवस्था में बालक केवल संवेदनाओं तथा शारीरिक क्रियाओं की सहायता से ज्ञान अर्जित करता है। वह केवल सहज क्रियाओं तथा ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से अनुभव प्राप्त करता है। इन सहज क्रियाओं और ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से बच्चा वस्तुओं, ध्वनिओं, स्पर्श, रसों एवं गंधों का अनुभव प्राप्त करता है और इन अनुभवों की पुनरावृत्ति के कारण वातावरण में उपस्थित उद्दीपकों की कुछ विशेषताओं से परिचित होता है।

- **पूर्व संक्रियात्मक अवस्था (Preoperational stage)**

यह 2-7 वर्ष तक होती है। इस अवस्था में बालक स्वकेन्द्रित व स्वार्थी न होकर दूसरों के सम्पर्क से ज्ञान अर्जित करता है। वह खेल, अनुकरण, चित्र निर्माण तथा भाषा के माध्यम से वस्तुओं के संबंध में अपनी जानकारी अधिकाधिक बढ़ाता है।

- **मूर्त संक्रियात्मक अवस्था (Concrete operational stage)**

यह अवस्था 7-12 वर्ष तक चलती है। इस अवस्था में बालक विद्यालय जाना प्रारंभ कर लेता है एवं उसमें वस्तुओं एवं घटनाओं के बीच समानता, भिन्नता समझने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। इस

अवस्था में बालकों में संख्या बोध, वर्गीकरण, किसी भी वस्तु, व्यक्ति की क्रमानुसार व्यवस्था तथा पारस्परिक संबंध का ज्ञान हो जाता है। वह तर्क कर सकता है।

● औपचारिक या अमूर्त सक्रियात्मक अवस्था (Formal operational stage)

यह अवस्था 12 वर्ष से प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में बालक तर्किक चिन्तन के साथ-साथ समस्या का समाधान करने लगता है। वह वास्तविकता तथा अवास्तविकता में अन्तर कर सकता है। इस अवस्था में बालक में परिकल्पना का विकास होने लगता है तथा वह विचारों में सम्बन्ध समझने लगता है। बालक में विसंगतियों के संबंध में विचार करने की क्षमता का विकास हो जाता है।

उपरोक्त अवस्थाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि जैसे-जैसे बालक में मानसिक परिपक्वता आती है, वैसे-वैसे उसका संज्ञानात्मक विकास होता है।

पियाजे के अनुसार बालक विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में अपरिपक्व होने के कारण तार्किक चिन्तन नहीं कर पाता परन्तु धीरे-धीरे वह वस्तुओं को समझने लगता है तथा समस्या का समाधान कर पाता है। विभिन्न वस्तुओं को समझने और विभिन्न स्तर की समस्याओं को सुलझाने की योग्यता का विकास मानव के उपयुक्त नाड़ी संस्थान, मस्तिष्क तथा ज्ञानेन्द्रियों के परिपक्व होने पर ही सम्भव है।

5.4.4. परिपक्वता तथा भाषा विकास

ध्वनियों की उत्पत्ति या शब्दोच्चारण में शरीर के कई अंगों का योगदान होता है। गला, फेफड़ा, जीभ, तालू, होंठ, मुँह, नाक, दाँत, स्वरयन्त्र तथा मस्तिष्क में वाणी केन्द्र- ये सभी अंग वाणी के विकास से सम्बन्धित हैं। भाषा के विकास के लिए इन शारीरिक अवयवों का पूर्ण रूप से परिपक्व होना आवश्यक है। यदि इन अंगों में समय के अनुसार परिपक्वता नहीं आयेगी तो भाषा के विकास में बाधा आयेगी। अतः परिपक्वता सिद्धान्त के अनुसार भाषा विकास के लिए भाषा से सम्बन्धित शारीरिक अवयवों का परिपक्व होना आवश्यक है। मिलर ने भी इस सिद्धान्त पर जोर दिया है कि मस्तिष्क परिपक्वता के साथ-साथ भाषा क्षमता में बढ़ोतरी होती है।

5.4.5 परिपक्वता तथा सामाजिक विकास

जैसा की हम जानते हैं कि बालक के शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक तथा भाषा के विकास का उसके सामाजिक विकास से घनिष्ठ संबंध होता है। बालक अपनी मानसिक क्षमता के आधार पर यह समझता है कि उसकी शारीरिक आवश्यकताओं के प्रति अन्य लोगों का क्या दृष्टिकोण होगा

और इसी के आधार पर वह अपना सामाजिकरण करता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के अनुसार वह संवेगात्मक प्रतिक्रियाएं करता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बालक के शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य, संवेगात्मक स्थिरता का प्रभाव उसके सामाजिक व्यवहार पर पड़ता है। अर्थात् शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक परिपक्वता बालक के सामाजिक विकास में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ छोटा बालक अपनी इच्छा पूर्ति ना होने पर रोता चिल्लाता है, हाथ पैर पटकता है परन्तु आयु बढ़ने के साथ जब उसमें परिपक्वता आने लगती है तब वह समझने लगता है कि इस तरह का प्रदर्शन सामाजिक रूप से अस्वीकार्य है और वह अपने संवेगों पर नियंत्रण कर उपयुक्त सामाजिक व्यवहार करने लगता है।

5.5 परिपक्वता की विशेषताएं

परिपक्वता की कई विशेषताएं हैं जो निम्नलिखित हैं:

1. परिपक्वता शरीर की रचना, मांसपेशियों तथा स्नायुओं में अभिवृद्धि के फलस्वरूप होती है।
2. परिपक्वता के कारण व्यवहार परिवर्तन प्राकृतिक और स्वाभाविक होता है।
3. परिपक्वता लाने के लिए किसी प्रकार के अभ्यास या शिक्षण की आवश्यकता नहीं होती है।
4. परिपक्वता जन्मजात क्रिया है। यह प्रक्रिया गर्भधारण से ही प्रारंभ हो जाती है।
5. परिपक्वता की प्रक्रिया लगभग 25 वर्ष की आयु तक चलती है।
6. परिपक्वता पर प्रेरणा या उद्दीपन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।
7. परिपक्वता की प्रक्रिया अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों में होती है।
8. परिपक्वता के कारण व्यवहार - परिवर्तन प्रजातीय होता है।

5.6 अधिगम का अर्थ तथा परिभाषाएं

अभी तक आपने जाना कि बालक के विकास में परिपक्वता महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यदि परिपक्वता का सही बोध होने पर बालक को उचित अधिगम के अवसर प्रदान किए जाएं तो बालक का पूर्ण रूप से विकास होता है। यहाँ कहने का तात्पर्य है कि परिपक्वता के साथ-साथ अधिगम भी बालक के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देता है।

हिलगार्ड व एटकिन्सन के अनुसार “सीखने या अधिगम को अभ्यास के परिणामस्वरूप व्यवहार में सापेक्ष स्थायी परिवर्तन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है”।

अण्डरवुड के अनुसार, “सीखना नई प्रतिक्रियाओं को प्राप्त करना या पुरानी प्रतिक्रियाओं की क्रियाशीलता को बढ़ाना है”।

मैक्गाश तथा ईरियन के अनुसार, “अधिगम अभ्यास के फलस्वरूप व्यक्ति की क्रियाओं में आने वाला परिवर्तन है। अधिकांश स्थितियों में इस परिवर्तन के फलस्वरूप व्यक्ति की प्रेरणापद स्थितियों को सन्तुष्टि प्राप्त होती है”।

बर्नहर्ट ने सीखने की प्रक्रिया को परिभाषित करते हुए कहा, “सीखने की प्रक्रिया का अभिप्राय है- व्यक्तियों की क्रियाओं में एक स्थायी परिवर्तन लाना”। यह परिवर्तन अभ्यास के द्वारा लाया जाता है। इस परिवर्तन का उद्देश्य होता है- निश्चित परिस्थितियों में किसी उद्देश्य को प्राप्त करना तथा किसी समस्या को सुलझाना।

गेट्स, जर्सील्ड तथा चालमन ने कहा है कि “अनुभव तथा प्रशिक्षण द्वारा व्यवहार में परिवर्तन होने की अवस्था को अधिगम कहते हैं”।

क्रॉनबैक के अनुसार, “अनुभव के कारण व्यवहार में जो परिवर्तन परिलक्षित होता है, वही अधिगम है”।

क्रो एवं क्रो के अनुसार, “आदतों, ज्ञान व अभिवृत्तियों का अर्जन ही अधिगम है”।

स्किनर के अनुसार, “व्यवहार में उत्तरोत्तर अनुकूलन की प्रक्रिया ही अधिगम है”।

मनोवैज्ञानिकों द्वारा दी गई उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि अभ्यास, प्रशिक्षण तथा अनुभवों द्वारा जब हमारे व्यवहार में स्थायी परिवर्तन होता है, वह अधिगम कहलाता है।

5.7 अधिगम की विशेषताएं

अधिगम की निम्न विशेषताएं हैं:

1. अधिगम या सीखने के लिए व्यक्ति अनेक क्रियाएं करता है ताकि व्यवहार में संशोधन हो सके।
2. अधिगम की प्रक्रिया जीवनपर्यन्त चलती है। व्यक्ति अपने जीवन काल में हमेशा कुछ ना कुछ सीखता है।
3. अधिगम के लिए उचित अभ्यास तथा प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है।
4. अधिगम के कारण व्यवहार परिवर्तन केवल उसी व्यक्ति में होता है जो सीखता है, अन्य में नहीं।

5. अधिगम बालक के शारीरिक, मानसिक परिपक्वता पर निर्भर करता है।
6. अधिगम एक अर्जित क्रिया है जो वातावरण से प्रभावित होती है।
7. अधिगम की प्रक्रिया प्रेरणा तथा उद्दीपन से प्रभावित होती है।
8. अधिगम केवल अनुकूल परिस्थितियों में ही सम्भव होता है।

5.8 अधिगम के प्रकार

अधिगम के प्रकार निम्नालिखित हैं:

- **पेशीय कौशल अधिगम:** जैसा कि नाम से विदित होता है, जब हम कौशल सीखने में मांसपेशियों का उपयोग मुख्य रूप से करते हैं, उसे पेशीय कौशल अधिगम कहते हैं। उदाहरण: बालक का दौड़ना, तैरना, जूते का फीता बांधना आदि।
- **वाचिक अधिगम:** वाचिक अधिगम में अधिगम सामाग्री के रूप में वाचिक पदों, शब्दों, अंकों इत्यादि का उपयोग कर इनका अर्जन किया जाता है।
- **अनुबन्धन अधिगम:** यह सीखने का सरलतम रूप है। इसमें एक नवीन उद्दीपक का सम्बन्ध या सहचर्य किसी अनुक्रिया से स्थापित किया जाता है। उदाहरण: आग के सम्पर्क पर आने पर जल जाते हैं, यह सीख जाने पर बालक आग से दूरी बनाता है। यहाँ आग उद्दीपक है और उससे दूर हटना अनुक्रिया।
- **सम्प्रत्यय अधिगम:** इस प्रकार के अधिगम में हम विभिन्न वस्तुओं को उनमें मिलने वाली समानता अथवा सम्बद्धता के आधार पर वर्गीकृत करते हैं। ऐसे चिन्तन के प्रकार को सम्प्रत्यय अधिगम कहते हैं। जैसे गाय, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़ा को अलग-अलग ना कह कर एक साथ जानवर की संज्ञा देना।
- **अन्तर्दृष्टि अधिगम:** इस प्रकार के अधिगम में सीखने वाला परिस्थिति को भली-भांति समझकर परिस्थिति पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है और समस्या का हल ढूँढ लेता है।

5.9 अधिगम के सिद्धान्त

मनोवैज्ञानिकों ने अधिगम के अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं जो निम्न हैं:

1. **प्रयत्न एवं भूल का सिद्धान्त (Theory of Trial and error):** यह सिद्धान्त थॉर्नडाइक द्वारा दिया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार जब व्यक्ति को नवीन परिस्थिति में रखा जाता है तो वह

बिना समझे अनेक क्रमहीन क्रियाएं करता है। यदि इन क्रियाओं में त्रुटि होती है तो वह दूसरी क्रिया करता है और वह तब तक प्रयत्न करता है जब तक कि वह उचित क्रिया ना कर ले। इस सिद्धान्तको प्रतिपादित करने के लिये थॉर्नडाइक ने सफेद चूहों पर शोध किया। उन्होंने भूखे चूहों को एक ऐसी भूल-भुलैया में रखा था जिसमें सही रास्ते पर जाने पर भोजन प्राप्त होता था और गलत रास्ते पर जाने पर बिजली का झटका लगता था। शुरू-शुरू में चूहे अनायास ही दौड़ने लगे और बिजली के झटके खाते रहे परन्तु धीरे-धीरे वो अपना सही रास्ता खोजने का प्रयास करना सीखने लगे और अन्त में सही मार्ग खोजने में सफल हो गये।

थॉर्नडाइक के अनुसार शुरु में बालक भी किसी भी नवीन कार्य को करने में समय भी अधिक लेते हैं और गलतियां भी अधिक करते हैं। धीरे-धीरे गलतियां कम होती जाती हैं और बालक सही क्रिया करना सीख जाते हैं।

2. अन्तर्दृष्टि या सूझ का सिद्धान्त (Theory of Insight): आपने उपरोक्त खंड 6.8 में पांचवे अधिगम का प्रकार पढ़ा। इस सिद्धान्त को कॉफका व उनके साथियों द्वारा प्रतिपादित किया गया। उनके अनुसार व्यक्ति असंगत या क्रमहीन क्रिया ना करके परिस्थिति को भली प्रकार समझकर समस्या का समाधान करता है।

इस प्रकार के अधिगम में समझ तथा सूझ-बूझ की आवश्यकता होती है। मनुष्य अपनी कल्पना शक्ति का प्रयोग करता है और जब उसको पूर्ण परिस्थिति समझ में आ जाती है, तब अपने सूझबूझ के प्रयोग से समस्या का समाधान करता है। इस सिद्धान्तको प्रतिपादित करने के लिये बन्दर पर परीक्षण किया गया। बन्दर को पिंजरे में बन्द कर दिया गया तथा कुछ दूरी पर केले टाँगे गये, साथ ही पिंजरे में दो बांस डाल दिये गये। कोई भी बांस अकेला केलों तक नहीं पहुँच सकता था परन्तु बांसों को एक-दूसरे में डालकर बड़ा किया जा सकता था। प्रारम्भ में बन्दर प्रत्येक बांस से केले तक पहुँचने की कोशिश करने लगा, परन्तु असफल हो गया। असफल होने पर वह चुपचाप बैठ गया और दोनों बांसों से खेलने लगा। खेलते-खेलते एक बांस दूसरे बांस में फँस गया और बड़ा हो गया। जैसे ही वह केले खींचने लगा दोनों बांस अलग हो गये परन्तु अब वह परिस्थिति को अच्छी तरह से समझ गया था। उसने दोनों बांसों को पुनः मिलाया और केलों को खींचकर खा गया। यहाँ समस्या के समाधान के लिए बन्दर ने अपनी सूझ-बूझ का प्रयोग किया।

3. अनुकरण का सिद्धान्त (Theory of imitation): इस सिद्धान्त के अनुसार बालक दूसरों को देखकर व अनुकरण करके सीखता है। बालकों में अनुकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है। इस सिद्धान्त

को प्रतिपादित करने के लिये हेगार्टी ने परीक्षण किया। उन्होंने एक भूखे बन्दर को कमरे में बन्द किया और लोहे की एक नली में एक केला ठूसकर बन्दर के सामने डाल दिया। बन्दर ने केले को निकालने के लिये नली को अनेक बार पटका परन्तु असफल रहा। अन्त में कुछ समय के उपरान्त उसने समीप पड़ी एक छड़ को नली के भीतर डालकर केला निकाल लिया। बन्दर के इन प्रयासों को अन्य बन्दर भी देख रहे थे। जब उनके सामने भी इसी प्रकार से नली में केला डालकर रखा तो उन्होंने बिना देरी किए पहले वाले बन्दर का अनुकरण करते हुए छड़ डालकर केला निकाल लिया।

4. अनुबन्ध अनुक्रिया का सिद्धान्त (Theory of conditioned response): यह सिद्धान्त पेवलोव द्वारा प्रतिपादित किया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति उद्दीपक के आधार पर अनुक्रिया करके सीखता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब किसी परिस्थिति के साथ किसी प्रतिक्रिया को जिनका आपस में पहले कोई सम्बन्ध ना हो, सम्बन्धित किया जाये, तो उसे सम्बन्धीकरण कहते हैं। सम्बन्धीकरण के द्वारा बालकों में अच्छी आदतों का विकास किया जा सकता है।

इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिये पैवलोव ने कुत्ते पर परीक्षण किया। वह एक कुत्ते को प्रतिदिन एक निश्चित समय पर भोजन देते थे। भोजन को देखते ही कुत्ते की लार टपकने लगती थी। एक बार उन्होंने देखा कि भोजन खाने से कुछ समय पूर्व, उन्हें देखते ही कुत्ते की लार टपकने लगी। इस सम्बन्धीकरण की पुष्टि करने के लिये उन्होंने भोजन देने के साथ घण्टी भी बजानी शुरू की। कुछ समय बाद उन्होंने देखा कि निश्चित समय पर भोजन नहीं मिलने पर भी परन्तु केवल घण्टी बजने पर ही कुत्ते की लार टपकने लगती थी। अर्थात् कुत्ते ने घण्टी की आवाज का सम्बन्ध भोजन मिलने से किया।

5.10 अधिगम (सीखने) के नियम

थॉर्नडाइक ने अधिगम के मुख्य रूप से तीन नियम बताये हैं:

1. तत्परता का नियम (Law of Readiness): जैसा कि नाम से ही विदित है जो बालक कुछ भी सीखने को तैयार रहता है वह आसानी तथा शीघ्रता से सीखता है। तत्परता के पीछे कोई न कोई प्रेरक कार्य करता है। बालक जब मस्तिष्क से सीखने को तैयार होता है तथा उसमें उस कार्य को करने के लिए रुचि भी होती है तब वह आसानी से सीखता है। उदाहरण: जब तक बालक ट्राइसाइकिल चलाने के लिये स्वयं तैयार नहीं होगा, उसे चलाने में रुचि नहीं लेगा तब तक आपकी लाख कोशिश करने के बावजूद भी वह साइकिल चलाना नहीं सीख सकता है।

2. अभ्यास का नियम (Law of Exercise): कुछ भी नया सीखने पर जब हम उस क्रिया को बार-बार दोहराते हैं या अभ्यास करते हैं, तब वह क्रिया को हम स्थायी रूप से सीख जाते हैं। हमारे द्वारा किसी भी कार्य को जितनी बार दोहराया जाएगा हम उस कार्य में उतने ही अधिक दक्ष होते जाएंगे। उदाहरण: आपने ध्यान दिया होगा छोटे बालक को कविता सिखाने के लिये तब तक बार-बार दोहराया जाता है जब तक वह बच्चा कविता सीख नहीं लेता है। दोहराने या अभ्यास की प्रक्रिया से सीखने की क्रिया शीघ्र व स्थाई हो जाती है।

अभ्यास के नियम के दो भाग हैं:

- **उपयोग के नियम (Law of use):** इस नियम के अनुसार मनुष्य उसी कार्य को बार-बार दोहराते हैं जिन्हें वह उपयोगी समझते हैं।
- **अनुपयोग का नियम (Law of disuse):** इस नियम के अनुसार जब कोई क्रिया अनुपयोगी होती है तो वह क्रिया का अभ्यास नहीं होने से वह क्रिया क्षीण हो जाती है।

अभ्यास करने के लिये मौखिक अभ्यास, पुनर्निरीक्षण तथा वाद विवाद की प्रक्रिया को महत्व दिया गया है।

3. प्रभाव का नियम (Law of Effect): इस नियम के अनुसार हमारे लिये जो अनुक्रिया सन्तोषजनक होती है या हमें सुख प्रदान करती है हम उस अनुक्रिया को बार-बार दोहराते हैं, वहीं दूसरी ओर जो अनुक्रिया हमारे लिये कष्टदायक या असन्तोषजनक होती है, हम उसे नहीं करते हैं। इस प्रकार हमारे उद्दीपक तथा अनुक्रिया के मध्य मजबूत या कमजोर सम्बन्ध बनता है। सम्बन्ध जितना मजबूत होगा, सीखना उतना ही स्थायी होगा। अतः सीखना प्राणी द्वारा की गयी अनुक्रिया के परिणाम पर निर्भर करता है।

5.11 अधिगम के आधार

मनोवैज्ञानिकों ने अधिगम के दो मुख्य आधार बताये हैं:

1. बालक की जन्मजात क्षमता

मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि बालक में सीखने की क्षमता गर्भावस्था से ही पायी जाती है, यद्यपि यह क्षमताएं अभ्यास द्वारा हटाई जा सकती हैं। श्वसन क्रिया, चूसण की क्रिया, हाथ पैर हिलाना, वस्तु को पकड़ना आदि बालक की जन्मजात क्षमताएं होती हैं जो वह गर्भ से ही सीख जाता है। यह जन्मजात क्षमताएं शिशु को नवीन बातों आसानी से सीखने में सहायता करती हैं।

2. बालक का वातावरण

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार जन्मजात क्षमताओं के अतिरिक्त वातावरण भी बालक के सीखने का महत्वपूर्ण आधार होता है। बालक का वातावरण जितना उपयुक्त होगा वह उतनी ही सरलता तथा शीघ्रता से सीखता है। उपयुक्त समय, उपयुक्त विधि तथा बालक की रुचि को ध्यान में रखते हुए बालक को सिखाया जा सकता है।

5.12 अधिगम को प्रभावित करने वाले कारक

अधिगम को निम्न कारक प्रभावित करते हैं:

- **अभिप्रेरणा:** बालक को अभिप्रेरित करके अधिगम की प्रक्रिया सरलता से पूर्ण की जा सकती है। प्रशंसा, पुरस्कार, दंड आदि बालक को सही बातें सीखने के लिए अभिप्रेरित करते हैं तथा अधिगम के लिए रुचि जागृत करते हैं।
- **शारीरिक स्थिति:** जो बालक शारीरिक रूप से स्वस्थ होता है, उसके लिए अधिगम की प्रक्रिया सरल होती है।
- **मानसिक स्वास्थ्य:** मानसिक रूप से स्वस्थ बालक सीखने के लिए तत्परता दिखाता है तथा शीघ्रता से सीखता है।
- **वातावरणीय कारण:** भौतिक कारक जैसे उपयुक्त रोशनी, ताजी हवा, बैठने की सही दशा, शांत वातावरण बालक के सीखने की प्रक्रिया को सरल व शीघ्र बनाते हैं।
- **अभ्यास:** अभ्यास करने से अधिगम की प्रक्रिया स्थाई हो जाती है।

अतः हम कह सकते हैं कि उपयुक्त परिपक्वता के साथ-साथ सही समय पर उपयुक्त शिक्षण व प्रशिक्षण बालक के अधिगम की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं।

5.13 बालक के विकास में परिपक्वता तथा अधिगम का महत्व

अब तक आप परिपक्वता तथा अधिगम दोनों से परिचित हो गये हैं और यह जान गये हैं कि यह दोनों ही विकास के लिए महत्वपूर्ण हैं।

विकास के संदर्भ में मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन में परिपक्वता और अधिगम को एक दूसरे का पूरक माना है। हिलगार्ड ने परिपक्वता और अधिगम में घनिष्ठ सम्बन्ध बताया है। उनके अनुसार

प्रभावी विकास की दृष्टि से परिपक्वता और सीखना, दोनों ही विवाहित दम्पति के समान साथ-साथ चलने वाले तत्व हैं और एक-दूसरे को सहयोग देते रहते हैं।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक **हरलॉक** के अनुसार शारीरिक और मानसिक गुणों का विकास आंशिक रूप से वास्तविक परिपक्वता से होता है तथा आंशिक रूप से व्यक्ति के अभ्यास और प्रयास से होता है।

मैकग्रॉ के अनुसार परिपक्वता और सीखना दो भिन्न-भिन्न क्रियाएं ना होकर, दोनों विकास की आधारभूत प्रक्रिया के दो पहलू हैं।

गैसेल के मतानुसार बालकों में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं। पहले वे गुण जो परिपक्वता के कारण उत्पन्न होते हैं। ये विशुद्ध शारीरिक गुण होते हैं। दूसरे वे गुण जो बालक सीखकर अर्जित करता है। इन्हें सामाजिक गुण कहते हैं।

अतः उपरोक्त कथनों से यह स्पष्ट होता है कि पूर्ण विकास के लिए परिपक्वता के समान अधिगम भी महत्वपूर्ण है। बालक के सम्पूर्ण विकास के लिए उसके माता-पिता, संरक्षक, शिक्षक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। यह लोग बालक के परिपक्वता का सही ज्ञान होने पर अर्थात् यदि उन्हें यह मालूम हो कि किस आयु स्तर में बालक ने कितनी शारीरिक और मानसिक परिपक्वता प्राप्त कर ली है तो वह बालक को उसकी परिपक्वता के अनुसार शिक्षण/ प्रशिक्षण दे सकते हैं और बालकों में उपयुक्त विकास की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकते हैं।

उदाहरण: 1 वर्ष का बालक प्रशिक्षण देने के बावजूद भी ट्रायसाईकिल नहीं चला सकता क्योंकि उसमें शारीरिक, मानसिक, गत्यात्मक परिपक्वता नहीं आई है। वहीं 3 वर्ष का बालक परिपक्वता प्राप्त करने के बाद भी ट्राईसाईकिल तब तक नहीं चला पायेगा जब तक अभिभावक उसे प्रशिक्षित नहीं करेंगे।

उदाहरण: एक डेढ़ वर्ष का बालक पेंसिल पकड़कर लिख नहीं सकता, चाहे आप कितना भी सिखा लें क्योंकि उसकी सूक्ष्म मांसपेशियों में परिपक्वता नहीं आई है। दूसरी ओर एक परिपक्व प्रौढ़ भी यदि सही शिक्षण ना दिया जाए तो लिख नहीं सकता, भले ही उसमें पूर्ण परिपक्वता आ गई हो।

उपरोक्त उदाहरणों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि परिपक्वता विकास को प्रभावित करती है और वह समयानुसार ही बालकों में देखी जा सकती है। परिपक्वता की सही अवस्था पहचान कर और उसके आधार पर उपयुक्त शिक्षण तथा प्रशिक्षण देकर हम बालकों में सम्पूर्ण विकास कर सकते हैं।

अभ्यास प्रश्न 1

1. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।

- a. परिपक्वता क्रिया है।
 - b. तथा विकास प्रतिमान के आधार है।
 - c. अभ्यास तथा शिक्षण के फलस्वरूप व्यवहार में होने वाले परिवर्तन को कहते हैं।
 - d. हरलॉक के अनुसार शारीरिक और मानसिक गुणों का विकास आंशिक रूप से तथा आंशिक रूप से से होता है।
 - e. अधिगम के आधार तथा होते हैं।
 - f. सीखने के नियम ने प्रतिपादित किया है।
 - g. अनुबन्ध अनुक्रिया का सिद्धान्त (Theory of conditioned response) द्वारा प्रतिपादित किया गया।
2. सत्य अथवा असत्य बताइए।
- a. परिपक्वता अर्जित क्रिया है।
 - b. विकास अधिगम तथा परिपक्वता के आधार पर होता है।
 - c. अधिगम द्वारा व्यवहार परिवर्तन स्थायी नहीं होता है।
 - d. परिपक्वता के अभाव में अधिगम विकास को प्रभावित नहीं करता है।
 - e. परिपक्वता बाह्य कारकों पर निर्भर करती है।
 - f. प्रयत्न एवं भूल का सिद्धान्त (Theory of Trial and error) थार्नडाइक द्वारा दिया गया है।
 - g. परिपक्वता का संज्ञानात्मक विकास पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।
 - h. अधिगम की प्रक्रिया जीवनपर्यंत चलती है।
 - i. परिपक्वता पर प्रेरणा या उद्दीपन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।
 - j. अधिगम के लिए उचित अभ्यास तथा प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है।

5.14 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त हम कह सकते हैं कि परिपक्वता और अधिगम दोनों ही बालक के विकास के प्रतिमान हैं। दोनों ही बालकों में विकास को प्रभावित करते हैं। किसी भी कारणवश यदि

बालकों में परिपक्वता तथा अधिगम का अभाव होता है तो बालक शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, गत्यात्मक रूप से अविकसित रह जाता है अर्थात् उसका विकास बाधित हो जाता है।

अतः माता-पिता, संरक्षक व शिक्षक इन अवस्थाओं को पहचान कर उपयुक्त अधिगम का वातावरण प्रदान कर बालक के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं क्योंकि बालक का व्यवहार शिक्षण की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होने वाले प्रभाव द्वारा परिवर्तित होता है। बालक का सम्पूर्ण विकास आंशिक रूप से आन्तरिक परिपक्वता पर और आंशिक रूप से बाहरी प्रयासों (अधिगम) पर निर्भर करता है।

5.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।
 - a. जन्मजात
 - b. परिपक्वता व अधिगम
 - c. अधिगम
 - d. परिपक्वता व अभ्यास
 - e. जन्मजात व वातावरण
 - f. थॉर्नडाइक
 - g. पैवलॉव
2. सत्य अथवा असत्य बताइए।
 - a. असत्य
 - b. सत्य
 - c. असत्य
 - d. असत्य
 - e. असत्य
 - f. सत्य
 - g. असत्य
 - h. सत्य
 - i. सत्य

j. सत्य

5.16 निबंधात्मक प्रश्न

1. अधिगम से क्या तात्पर्य है? उचित परिभाषाओं द्वारा स्पष्ट कीजिए।
2. अधिगम को प्रभावित करने वाले कारकों को लिखिए।
3. परिपक्वता की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. परिपक्वता का अर्थ, उचित परिभाषाओं के आधार पर स्पष्ट कीजिए।
5. 'परिपक्वता और अधिगम बाल विकास के आधार हैं' इस कथन को उदाहरण सहित समझाइए।
6. परिपक्वता और अधिगम (सीखने) में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
7. निम्न पर संक्षेप में टिप्पणी लिखिए:
 - अधिगम के प्रकार
 - अधिगम के सिद्धान्त
 - अधिगम (सीखने) के नियम

5.17 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. श्रीवास्तव डी. एन. तथा वर्मा, पी. (2006) बाल मनोविज्ञान: बाल विकास , विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
2. योगेन्द्र जीत, मानव विकास का मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
3. आलम, के. जी., श्रीवास्तव, आर., शर्मा, जी., तिवारी, बी. एन., अस्थाना, एम. व श्रीवास्तव, बी, (1997) आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
4. भार्गव, एम. और भार्गव, बी. (2007) मानव विकास का मनोविज्ञान एच.पी. भार्गव बुक हाउस, आगरा।
5. शर्मा, के., शर्मा, एल. व उपाध्याय, जी. मानव विकास, स्टार पब्लिकेशन, आगरा
6. Chaube, S.P. (1990-91) *Child Psychology*, Laxmi Narayan Agarwal Educational publishers, Agra.
7. Srivastava , D. N. (2001) *Child Psychology*, Vinod Pustak Madir, Agra.

इकाई 6: अभिप्रेरणा एवं मानव व्यवहार

- 6.1 प्रस्तावना
- 6.2 उद्देश्य
- 6.3 अभिप्रेरणा का अर्थ व परिभाषाएं
- 6.4 अभिप्रेरणा के प्रकार
- 6.5 अभिप्रेरणा तथा अभिप्रेरित व्यवहार की विशेषताएं
- 6.6 अभिप्रेरणा के तत्व या स्रोत: आवश्यकता, अन्तर्नोद तथा प्रलोभन (Need, Drive, Incentives)
 - 6.6.1 आवश्यकता (Need)
 - 6.6.2 अन्तर्नोद (Drive)
 - 6.6.3 उद्दीपन/प्रलोभन (Incentives)
- 6.7 अभिप्रेरणा तथा उदोलन
- 6.8 अभिप्रेरणा के परिप्रेक्ष्य (Perspective of Motivation)
- 6.9. अभिप्रेरणा के प्रमुख सिद्धान्त
- 6.10. अभिप्रेरणा अथवा अभिप्रेरित व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारण
- 6.11 अभिप्रेरकों के प्रकार
- 6.12 अभिप्रेरकों में द्वन्द
- 6.13 अभिप्रेरकों के द्वन्दों का समाधान
- 6.14 सारांश
- 6.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 6.16 निबन्धात्मक प्रश्न
- 6.17 संदर्भ ग्रंथ सूची

6.1 प्रस्तावना

कई बार आपने ध्यान दिया होगा या स्वयं भी महसूस किया होगा कि प्रत्येक व्यक्ति की कार्य करने की शैली भिन्न होती है। कुछ अपना कार्य उत्साह, ऊर्जावान व उत्सुकता के साथ करते हैं तो वहीं कुछ व्यक्ति कार्य को नीरसता व उदासीनता से करते हैं। कुछ अपने कार्य में निरन्तर तब तक लगे रहते हैं जब तक वह अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर लेते तो वहीं कुछ आसानी से अपने लक्ष्य से भटक

जाते हैं। क्या आपने कभी सोचा है कि एक ही कार्य को करने के उपागम दो व्यक्तियों के लिए भिन्न क्यों होते हैं? इसका उत्तर है उन व्यक्तियों में अभिप्रेरणा का स्तर। मनोवैज्ञानिकों ने इस विषय पर शोध किया और पाया कि कुछ लोगों में अभिप्रेरणा का अभाव उनकी कार्यशैली को उदासीन बना देती है। वहीं कुछ लोगों में अभिप्रेरणा की प्रबलता उनकी कार्य शैली को ऊर्जा से भर देती है। इस इकाई में हम अभिप्रेरणा के विषय में जानेंगे कि वह कैसे मानव व्यवहार को प्रभावित करता है।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत शिक्षार्थी;

- अभिप्रेरणा को परिभाषित कर पायेंगे;
- अभिप्रेरणा के प्रकार तथा अभिप्रेरित व्यवहार की विशेषताएं जान सकेंगे;
- अभिप्रेरणा के तत्वों से परिचित होंगे;
- अभिप्रेरणा और मानव व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारकों को समझ सकेंगे; तथा
- अभिप्रेरकों के बारे में जान पाएंगे।

6.3 अभिप्रेरणा का अर्थ व परिभाषाएं

अभिप्रेरणा वह शक्ति है जो व्यक्ति को किसी कार्य को उत्साहपूर्वक करने की ओर उन्मुख करती है तथा लक्ष्य प्राप्त करने के लिए व्यक्ति के व्यवहार को दिशा प्रदान करती है। अभिप्रेरणा को अंग्रेजी में 'MOTIVATION' कहते हैं। Motivation शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द मोवैर (*Movere*) से हुआ है। मोवैर शब्द का अर्थ है सक्रिय या गतिशील करना, अर्थात् अभिप्रेरणा से व्यक्ति सक्रिय होता है और अपने लक्ष्य प्राप्ति की ओर गतिशील होता है।

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा अभिप्रेरणा को परिभाषित किया गया है। यह परिभाषाएं निम्नलिखित हैं:

ग्रेडलर, ब्रोसार्ड व गेरीसन के अनुसार, “अभिप्रेरणा हमारे कुछ भी करने या नहीं करने का कारण होती है”।

मैकडूगल के अनुसार, “वे शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दशाएं जो किसी क्रिया को करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं, अभिप्रेरणा कहलाती हैं”।

एवेरिल के अनुसार, “अभिप्रेरणा का अर्थ है सजीव प्रयास। यह कल्पना को क्रियाशील करती है, यह मानसिक शक्ति के अज्ञात स्रोतों को उद्बुद्ध करती हैं। यह बालक में कार्य करने, सफल होने और विजय प्राप्त करने की कामना को जागृत करती है”।

लोवेल के अनुसार, “अभिप्रेरणा एक ऐसी आन्तरिक प्रक्रिया है जो किसी आवश्यकता की मौजूदगी में प्रादुर्भूत होती है। यह ऐसी क्रिया की ओर गतिशील होती है, जो आवश्यकताओं को संतुष्ट करती हैं”।

सिम्पसन, जॉन्स और ब्लेयर के अनुसार, “अभिप्रेरणा एक प्रक्रिया है, जिसमें सीखने वाले की आन्तरिक शक्तियाँ अथवा आवश्यकताएं उसके वातावरण में भिन्न-भिन्न उद्देश्य की ओर परिचालित होती हैं”।

ड्रेवर के अनुसार, “अभिप्रेरणा एक भावात्मक- क्रियात्मक तत्व है, जो चेतन अथवा अचेतन लक्ष्य की ओर जाने वाले व्यक्ति के व्यवहार को दिशा प्रदान करने का कार्य करती हैं”।

गिल्डफोर्ड के अनुसार, “अभिप्रेरणा एक ऐसी आन्तरिक स्थिति है, जो किसी क्रिया को प्रारम्भ करने और जारी रखने में प्रवृत्त रखता है”।

बैरन, बर्न तथा कैन्टोविज का मत है कि अभिप्रेरणा एक काल्पनिक आन्तरिक प्रक्रिया है जो व्यवहार करने के लिए शक्ति प्रदान करती है तथा विशेष उद्देश्य की ओर व्यवहार को ले जाती है।

उपरोक्त विवरण से आपको स्पष्ट हो गया होगा कि अभिप्रेरणा क्या होती है। इन परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि अभिप्रेरणा एक मनो-शारीरिक, आन्तरिक दशा है जो व्यक्ति को कार्य करने के लिए प्रेरित करती है तथा मानव व्यवहार को दिशा प्रदान करती है ताकि वह अपना लक्ष्य सहजता व शीघ्रता से प्राप्त कर सके। अतः अभिप्रेरणा प्रत्येक व्यक्ति के लिए अर्थपूर्ण जीवन जीने के लिए आवश्यक है। अभिप्रेरणा हमारे व्यवहार का मूल कारण है। अभिप्रेरणा एक आवश्यकता (Need) है अथवा एक इच्छा (Desire) है जो हमारे व्यवहार को उत्साहित करती है तथा लक्ष्य की ओर निर्देशित करती है। अभिप्रेरणा एक आन्तरिक अवस्था है। इसे बाह्य रूप से नहीं देखा जा सकता है।

उदाहरण: भूख लगने पर भोजन खोजना और अधिक भोजन करने के लिए प्रेरित करता है।

6.4 अभिप्रेरणा के प्रकार

अभिप्रेरणा दो प्रकार की होती है- आन्तरिक अभिप्रेरणा तथा बाह्य अभिप्रेरणा।

आंतरिक अभिप्रेरणा व्यक्ति विशेष के भीतर होती है जो व्यक्ति के व्यवहार को सक्रिय तथा ऊर्जावान बनाती है। जैसे व्यक्ति की स्वयं की रुचि, जिज्ञासा, व्यक्तिगत चुनौतियाँ आदि। उदाहरण: कुछ बालक पढ़ाई करने के लिए स्वयं से प्रेरित होते हैं। उन्हें माता पिता द्वारा बार-बार पढ़ो कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। बालक स्वयं से अभिप्रेरित होकर अपनी रुचि से पढ़ाई करता है। बाह्य अभिप्रेरणा व्यक्ति के भीतर ना होकर बाहरी वातावरण में उपस्थित होती है और व्यक्ति के व्यवहार को ऊर्जा प्रदान करती है। जैसे पैसा, यश, शक्ति आदि। इन्हें प्राप्त करने के लिए वह कार्य करता है। उदाहरण: कुछ बालक भविष्य में अपना जीवन स्तर उच्च करने के लिए, धन कमाने के लिए, अच्छी नौकरी प्राप्त करने के लिए पढ़ाई करते हैं। यहाँ अभिप्रेरणा का स्रोत बाहरी है।

6.5 अभिप्रेरणा तथा अभिप्रेरित व्यवहार की विशेषताएं

अनेक मनोवैज्ञानिकों ने अपने शोध द्वारा अभिप्रेरित व्यवहार का अध्ययन किया और अभिप्रेरणा की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया है:

- अभिप्रेरणा की सर्वप्रथम विशेषता है कि यह एक आंतरिक अनुभूति है जो आवश्यकता (कोई कमी या तीव्र इच्छा) के कारण उत्पन्न होती है।
- अभिप्रेरणा व्यवहार को लक्ष्य केन्द्रित बनाता है। अभिप्रेरणा युक्त व्यवहार व्यक्ति का ध्यान केन्द्रित करने में सहायक होता है। व्यक्ति उसे प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयास करता है।
- अभिप्रेरणा युक्त व्यवहार व्यक्ति का ध्यान केन्द्रित करने में सहायक होता है। व्यक्ति केवल आवश्यक प्रतिक्रिया ही करता है ताकि उसे उसका लक्ष्य प्राप्त हो सके। वह अन्य असम्बन्धित प्रतिक्रिया नहीं अपनाता है अन्यथा वह पथभ्रष्ट हो सकता है और उसे सफलता प्राप्त करने में अधिक समय लग सकता है या सम्भवतः सफलता प्राप्त नहीं भी हो सकती है।
- अभिप्रेरित व्यवहार में निरन्तरता पाई जाती है। जो व्यक्ति अभिप्रेरित होगा वह अपने आवश्यकताओं की पूर्ति करने में तब तक निरन्तर लगा रहेगा जब तक वह उन्हें प्राप्त नहीं कर लेता है।
- अभिप्रेरित व्यवहार उत्साह, उमंग और ऊर्जा से परिपूर्ण होता है, जिसके कारण उद्देश्यों की उपलब्धि अधिक शीघ्र व श्रेष्ठ होती है।
- अभिप्रेरणा व्यक्ति में बेचैनी तथा तनाव उत्पन्न करती है जिसे दूर करने के लिए वह अपने कार्य की ओर निरन्तर अग्रसारित होता है और यह बेचैनी व तनाव लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात समाप्त हो जाती है।

- अभिप्रेरित व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तनशीलता दिखाई देती है अर्थात् अभिप्रेरित व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न तरीकों को अपनाता है ताकि वह अपना लक्ष्य शीघ्रता से प्राप्त कर सके।
- अभिप्रेरणा व्यवहार को मितव्ययी बनाता है। अभिप्रेरित व्यक्ति केवल उसी व्यवहार को अपनाता है जो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो। वह अन्य व्यवहार को तज देता है जिसके कारण उसके व्यवहार में श्रम व समय दोनों की बचत होती है और व्यवहार मितव्ययी हो जाता है।
- अभिप्रेरणा मनुष्य के व्यवहार में उत्पन्न होने वाले द्वन्दों को शांत करती है। अनेक बार देखा गया है कि हमारे पास एक समस्या के समाधान के लिए कई विकल्प होते हैं। अभिप्रेरणा व्यक्ति को उन अनेक विकल्पों में से एक सही विकल्प चुनने व अमल करने में सहायता प्रदान करता है। अतः हम कह सकते हैं कि अभिप्रेरणा व्यक्ति की निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित कर उसे सही दिशा प्रदान करने और द्वन्द समाप्त करने में सहायक होती है।
- बचपन में आंतरिक अभिप्रेरणा की प्रबलता पाई जाती है और बाल्यावस्था में अभिप्रेरणा की प्रबलता वयस्कावस्था में अभिप्रेरणा के स्तर को निर्धारित करती है।

अभिप्रेरणा दो प्रकार की होती है- धनात्मक अभिप्रेरणा तथा ऋणात्मक अभिप्रेरणा।

धनात्मक अभिप्रेरणा पुरस्कार प्राप्ति से प्रेरित होती है तथा ऋणात्मक प्रेरणा भय द्वारा प्रेरित होती है। उदाहरण: कक्षा में प्रथम आने पर माता-पिता से पसंदीदा उपहार प्राप्त करना, पढ़ाई करने के लिए अभिप्रेरित करता है। यहां उपहार धनात्मक प्रेरणा का स्रोत है। वहीं दूसरी तरफ अनुत्तीर्ण होने पर माता-पिता से फटकार पड़ने पर भय से पढ़ाई करना ऋणात्मक अभिप्रेरणा का उदाहरण है। एक अन्य उदाहरण: पैसे कमाने के लिए लॉटरी लेना, जुआ खेलना, चोरी करना या मेहनत करना। ये भिन्न-भिन्न तरीके हैं जिन्हें पैसे कमाने के लिए अभिप्रेरित व्यक्ति अपनाता है जब तक उसे पैसे ना प्राप्त हो जाए। लॉटरी लेना, जुआ खेलना, चोरी करना ऋणात्मक अभिप्रेरणा तथा मेहनत करना धनात्मक अभिप्रेरणा है।

6.6 अभिप्रेरणा के तत्व या स्रोत: आवश्यकता, अन्तर्नोद तथा प्रलोभन (Need, Drive, Incentives)

अब तक आप अभिप्रेरणा का अर्थ तथा अभिप्रेरित व्यवहार की क्या-क्या विशेषताएं होती हैं, भली-भांति समझ गये होंगे। अब हम समझेंगे कि क्यों दो व्यक्तियों की एक ही कार्य को करने की शैली भिन्न होती है। प्रत्येक व्यक्ति का व्यवहार भिन्न क्यों होता है और कैसे होता है? क्यों कोई व्यक्ति आक्रमक होता है और दूसरा व्यक्ति शांत होता है? क्यों कोई व्यक्ति उपलब्धि के लिए निरन्तर प्रयासरत रहता है और कोई दूसरा व्यक्ति प्रयास नहीं करता या जल्दी हार मान जाता है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर है उन व्यक्तियों में अभिप्रेरणा का स्तर तथा अभिप्रेरणा का स्रोत अथवा तत्वों की प्रबलता की उपस्थिति। अभिप्रेरणा के तत्व या स्रोत वह कारक हैं जो व्यक्ति को कोई भी कार्य करने अथवा नहीं करने की ऊर्जा तथा दिशा प्रदान करते हैं। ये तत्व तीन हैं- आवश्यकता, अन्तर्नोद तथा प्रलोभन।

अभिप्रेरित व्यवहार के स्रोतों को समझने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने शोध किया और यह निष्कर्ष निकाला कि अभिप्रेरित व्यवहार का कारण मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं। किसी भी प्राणी का व्यवहार मूल प्रवृत्तियों से निर्देशित होकर प्रारम्भिक वातावरण के अनुभवों से निर्देशित होता है।

अनेक मनोवैज्ञानिक जैसे रिचर्डर, हल, लैश्ले, हेब्ब का मानना है कि अभिप्रेरित व्यवहार का कारण अन्तर्नोद है जिसकी उत्पत्ति शारीरिक आवश्यकताओं के कारण होती है। हालांकि साथ ही कुछ मनोवैज्ञानिकों का यह मत भी है कि सभी अन्तर्नोदों की उत्पत्ति शारीरिक आवश्यकताओं के आधार पर नहीं होती वरन् कभी-कभी बाह्य प्रलोभन भी अन्तर्नोद सम्बन्धी व्यवहार को जन्म देते हैं। अब हम इन तीन तत्वों के विषय में पढ़ेंगे तथा विस्तार में जानेंगे। यह तीन तत्व हैं:

- आवश्यकता
- अन्तर्नोद या चालक
- प्रलोभन या उद्यीपन

6.6.1 आवश्यकता (Need)

यदि सरल भाषा में कहें तो किसी भी वस्तु का अभाव या उसे प्राप्त करने की तीव्र इच्छा आवश्यकता कहलाती है। आवश्यकता की पूर्ति या अपूर्ति, क्रमशः सन्तुष्टि और असन्तुष्टि प्रदान करती है जिससे व्यक्ति का व्यवहार प्रभावित होता है। अतः हम कह सकते हैं कि संतुलन प्राप्त करने के लिए आवश्यकता हमारे व्यवहार को दिशा प्रदान करती है।

बोरिंग, लैंगफील्ड तथा वेल्ड के अनुसार, “आवश्यकता शरीर की कोई जरूरत या अभाव है, जिसके कारण शारीरिक तनाव या असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। इस तनाव में ऐसा व्यवहार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है जिससे आवश्यकता के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाला असन्तुलन समाप्त हो जाता है”।

हल के अनुसार, “शरीर में किसी वस्तु के अभाव से जो विशेष अवस्था उत्पन्न होती है, उसे ही आवश्यकता कहते हैं”।

आवश्यकताओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है:

1. अनिवार्य अथवा प्राथमिक आवश्यकता

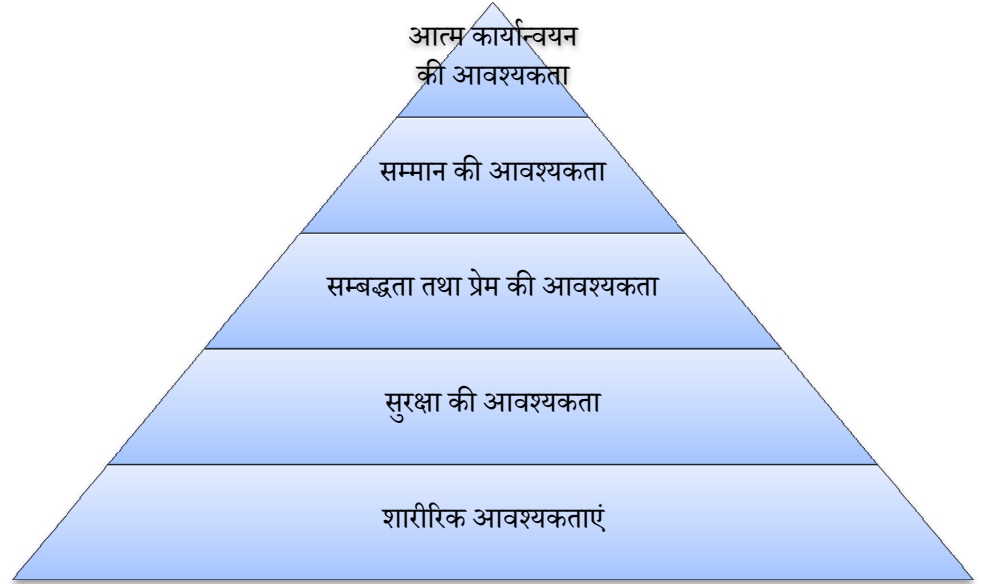
यह आवश्यकता मूल तथा जन्मजात होती है। मनुष्य के जीवन जीने के लिए यह आवश्यकता जरूरी होती है। अतः इन्हें शारीरिक आवश्यकता या जैविक आवश्यकता भी कहते हैं। मनुष्य के जीवन को जीवित रखने के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति व संतुष्टि होना बहुत आवश्यक है। उदाहरण: पानी, भोजन, नींद आदि की आवश्यकता।

2. गैर अनिवार्य या द्वितीयक आवश्यकता

यह आवश्यकता वातावरण या समाज के प्रभाव से उत्पन्न होती है। अतः इन्हें सामाजिक आवश्यकता भी कहते हैं। समाज में अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए व्यक्ति समाज से कुछ सीखता है और अपने व्यवहार में परिवर्तन लाता है ताकि वह समाज के अनुकूल रहे, समाज में स्वीकार्य रहे। अतः इसे अधिगमित या अर्जित आवश्यकता भी कहते हैं। उदाहरण: आत्मसम्मान, उपलब्धि, सामर्थ्य, अनुमोदन की आवश्यकता।

सामाजिक आवश्यकताओं का शारीरिक आधार ना होकर मनोवैज्ञानिक आधार होता है। प्राथमिक आवश्यकताओं की तुलना में द्वितीयक आवश्यकताएं कम प्रबल होती हैं परन्तु यह प्राथमिक आवश्यकता की तरह अत्यन्त आवश्यक होती हैं। प्रबलता तथा संतुष्टि के आधार पर आवश्यकताओं को क्रमबद्ध किया जा सकता है। मैसलो के अनुसार सभी आवश्यकताओं को पदानुक्रम व्यवस्थित किया जा सकता है जिसे मैसलो का आवश्यकताओं का पदानुक्रम सिद्धान्त भी कहते हैं। इसके अनुसार सर्वप्रथम शारीरिक आवश्यकताएं होती हैं। जैसे भूख, प्यास आदि। मनुष्य अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति सर्वप्रथम करता है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात मनुष्य सुरक्षा की आवश्यकता चाहता है जैसे स्वास्थ्य। तीसरे पद पर सम्बद्धता तथा प्रेम का विकास होता है। चौथे सोपान पर सम्मान की आवश्यकता की प्रबलता पायी गयी है और अंत व पाँचवें सोपान में व्यक्ति में आत्म कार्यन्वयन की आवश्यकता अर्थात् व्यक्तिगत विकास, योग्यता

पूर्ति, आत्म इच्छा पूर्ति की संतुष्टि की आवश्यकता होती है। जैसे प्रत्येक सोपान में संतुष्टि प्राप्त होती जाती है, वैसे अन्य आवश्यकताएं प्रबल होती जाती हैं।



मैसलो का आवश्यकताओं का पदानुक्रम सिद्धान्त

6.6.2 अन्तर्नोद (Drive)

आवश्यकताओं से अन्तर्नोद उत्पन्न होता है।

डेशियल के अनुसार अन्तर्नोद वह मूल-शक्ति का भण्डार है, जो व्यक्ति के अंगों को क्रियाशीलता प्रदान करता है।

शेंफल और गिलमर के अनुसार अन्तर्नोद वह सुदृढ़ और अचल उत्तेजक है, जो क्रियाशील प्रतिक्रिया को विकसित करता है।

सार्टेन के अनुसार “अन्तर्नोद ऐसी तनाव या क्रियाशीलता की अवस्था को कहा जाता है जो किसी आवश्यकता द्वारा उत्पन्न होती है। उदाहरण: जब हमारे शरीर में पानी का अभाव होता है अर्थात् हमें पानी की आवश्यकता होती है तब हमें प्यास की अनुभूति होती है। इसलिए प्यास वह चालक है जो हमें पानी पीने के लिए अभिप्रेरित करती है। अतः हम कह सकते हैं कि अन्तर्नोद एक शारीरिक मनोवैज्ञानिक अवस्था है जो किसी आवश्यकता के कारण उत्पन्न होती है। यह एक उत्तेजित अवस्था है जो व्यवहार को उत्पन्न करती है तथा उसे एक निश्चित दिशा देती है। जैसे प्यास लगने पर पानी की तलाश करना या भूख लगने पर भोजन की तलाश करना।

ब्राउन के अनुसार अन्तर्नोद की तीन विशेषताएं हैं:

- ऊर्जा प्रदान करना तथा क्रियाशील करना।
- क्रिया को उत्साहित करना।
- पीड़ादायक अनुक्रियाओं को समाप्त करना।

उदाहरण: प्यास लगने पर हम ऊर्जावान होकर पानी को खोजने की क्रिया करते हैं और पानी प्राप्त होने पर हमारी प्यास की पीड़ादायक अनुक्रिया समाप्त हो जाती है।

6.6.3 उद्दीपन/प्रलोभन (Incentives)

जैसा कि आपने पूर्व में पढ़ा कि आवश्यकता और अन्तर्नोद आन्तरिक दशा है, वहीं उद्दीपन एक बाह्य अवस्था है जो व्यक्ति के व्यवहार को दिशा प्रदान करती है। उद्दीपन/प्रलोभन वह कोई भी वस्तु, परिस्थिति अथवा क्रिया है जो आवश्यकता को सन्तुष्ट करती है और अन्तर्नोद को कम करती है।

बॉरिंग, लैंगफील्ड और वैल्ड के अनुसार, “उद्दीपन एक पदार्थ, परिस्थिति अथवा क्रिया है जो व्यवहार को निर्देशित करती है”। उदाहरण: जल के अभाव में प्यासे व्यक्ति के लिए जल उद्दीपन है। उद्दीपन बाह्य लक्ष्य वस्तु है जो एक ऐसी उत्तेजना के समान है जो व्यक्ति को लक्ष्य प्राप्ति की ओर प्रेरित करती है। उदाहरण: भोजन भूखे व्यक्ति के लिए उद्दीपन है।

उद्दीपन या प्रोत्साहन दो प्रकार के होते हैं- धनात्मक प्रोत्साहन तथा ऋणात्मक प्रोत्साहन।

उदाहरण: भूखे व्यक्ति द्वारा भोजन को प्राप्त करना धनात्मक प्रोत्साहन है, वहीं उपवास कर रहे व्यक्ति का भोजन से दूर रहना ऋणात्मक प्रोत्साहन की तरह कार्य करता है। ऋणात्मक प्रोत्साहन हमें दुखद या अनैच्छिक अवस्थाओं से बचने के लिए दिशा प्रदान करता है। धनात्मक प्रोत्साहन व्यक्ति को अपनी ओर खींचता है और नकारात्मक प्रोत्साहन उसे दूर हटाता है। आवश्यकता तथा अन्तर्नोद अभिप्रेरणा के आंतरिक स्रोत हैं तथा उद्दीपन अभिप्रेरणा के बाह्य स्रोत हैं।

अभिप्रेरणा के आंतरिक तथा बाह्य स्रोत व्यवहार को निर्देशित करते हैं। हमारा व्यवहार अत्यधिक तीव्र आन्तरिक अभिप्रेरणा तथा कुछ बाह्य अभिप्रेरणा के फलस्वरूप होता है। उदाहरण: भोजन के स्वादिष्ट ना होने पर भी भूखा व्यक्ति भोजन करता है। दूसरी ओर भूख ना होने पर भी स्वादिष्ट भोजन दिखने पर व्यक्ति भोजन करता है।

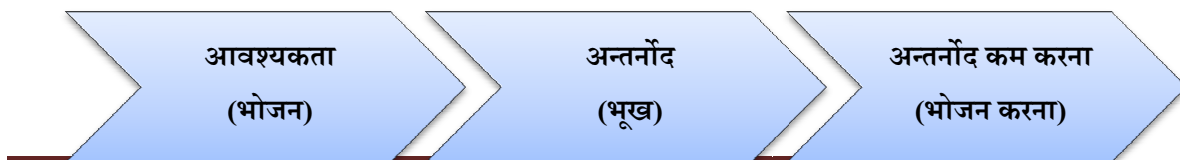
6.7 अभिप्रेरणा तथा उदोलन

उपरोक्त वर्णित तीन तत्व- आवश्यकता, अन्तर्नोद तथा प्रलोभन के अतिरिक्त एक और कारक है जो अभिप्रेरित व्यवहार को प्रभावित करता है। यह तत्व है उदोलन। उदोलन वह मनोदैहिक दशा है जिसमें हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ जागृत रहती हैं। उदोलित अवस्था में हम सजग, जागृत, अधिक ध्यान केन्द्रित रहते हैं। इस अवस्था में सूचना अथवा जानकारी को सम्प्रेषित (Process) कर सकते हैं। फ्रीमेन, डफी, लिण्डस्ले, ग्रॉसमेन जैसे मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि व्यक्ति के व्यवहार का कारण केन्द्रीय नाड़ी संस्थान (Central Nervous System) का उदोलन है। अभिप्रेरित व्यवहार प्रदर्शित करने के लिए नाड़ी संस्थान का सक्रीयकरण या उदोलन आवश्यक है। कोई भी क्रिया उदोलन के कारण प्रारम्भ होती है, यद्यपि हमारे संवेग, संज्ञान तथा बाहरी प्रलोभन उस क्रिया की दिशा तथा गति को प्रभावित करते हैं।

6.8 अभिप्रेरणा के परिप्रेक्ष्य (Perspective of Motivation)

अभिप्रेरणा तथा अभिप्रेरित व्यवहार को समझने के लिए कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये गए। ये सिद्धान्त निम्न हैं-

1. **मूल प्रवृत्ति सिद्धान्त (Instinct Theory):** इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी व्यक्ति, जाति की मूल प्रवृत्ति स्थाई तथा जटिल होती है। किसी भी व्यक्ति में अभिप्रेरणा का स्तर उसकी मूल प्रवृत्ति पर निर्भर करता है।
2. **अन्तर्नोद में कमी का सिद्धान्त (Drive-Reduction Theory):** मूल प्रवृत्ति के सिद्धान्त को अभिप्रेरित व्यवहार का कारण होना कई मनोवैज्ञानिकों द्वारा नकारा गया, तब हल द्वारा अन्तर्नोद में कमी के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारा शरीर समस्थिति अथवा संतुलन की स्थिति (Homeostasis) में रहता है। किसी भी प्रकार की शारीरिक आवश्यकता या कमी इस संतुलन को बिगाड़ देती है और तनाव की स्थिति उत्पन्न होती है, जिसे अन्तर्नोद कहते हैं। यह तनाव अन्तर्नोद को कम करने के लिए मनुष्य अभिप्रेरित होकर कार्य करता है ताकि उसकी आवश्यकता की पूर्ति हो सके और संतुष्टि तथा समस्थिति प्राप्त हो सके।



3. **अनुकूलतम उदोलन का सिद्धान्त (Optimum Arousal Theory):** आवश्यकता आधारित अन्तर्नोद की अनुपस्थिति में भी अनेक बार हम अभिप्रेरित व्यवहार करते हैं। उद्वेलित होने पर हम अपने व्यवहार को दिशा प्रदान करते हैं। जैसे किसी नई वस्तु या घटना को खोजना। नई खोज करना हमारी आवश्यकता नहीं है या यदि हम नई वस्तु या घटना को नहीं खोजेंगे तो वह स्थिति हमारी समस्थिति को गड़बड़ा नहीं रही है। फिर भी हम ऐसा करते हैं क्योंकि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ हमें उस कार्य को करने लिए उद्वेलित करती हैं।
4. **आवश्यकताओं का पदानुक्रम का सिद्धान्त (Hierarchy of Needs Theory):** मैसलो ने आवश्यकताओं का क्रम बताया है जिसके आधार पर हम कार्य करते हैं। मैसलो के अनुसार हम सर्वप्रथम अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, उसके बाद अन्य मनोवैज्ञानिक या सामाजिक आवश्यकता। जैसे भूख हमारी शारीरिक आवश्यकता है और उपलब्धि हमारी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता। हम स्वयं पहले भूख शांत करेंगे, उसके बाद उपलब्धि प्राप्त करने का प्रयास करेंगे।
5. **प्रलोभन का सिद्धान्त (Incentive Theory):** अनेक बार हमें आवश्यकता हो या ना हो परन्तु प्रलोभन के कारण अर्थात् बाह्य वस्तु हमें प्रोत्साहित करती है कि हम कोई नवीन कार्य करें तथा अपने लक्ष्य तक पहुँचें।

6.9 अभिप्रेरेणा के प्रमुख सिद्धान्त

कोई भी व्यक्ति अभिप्रेरित व्यवहार क्यों करता है और किस सीमा तक करता है, यह समझाने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने कुछ सिद्धान्तों की चर्चा की है, जो निम्न प्रकार हैं:

1. **मूल-प्रवृत्ति का सिद्धान्त:** इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के भीतर जो प्रेरक शक्ति काम करती है वह उसकी मूल प्रवृत्ति होती है। **मैकडूगल** का कथन है कि व्यक्ति का व्यवहार मूल प्रवृत्तियों द्वारा चालित होता है।
2. **मनोविश्लेषण का सिद्धान्त:** इस सिद्धान्त के अनुसार मन की तीन अवस्थाएं होती हैं- चेतन मन, अचेतन मन और अचेतन मन। मनोविश्लेषणवाद के अनुसार, हमारे समस्त व्यवहार अचेतन मन पर जो भी संस्कार पड़ते हैं वह समय-समय पर चेतन मन पर आते हैं और हमारे व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

3. **सांस्कृतिक प्रतिमान का सिद्धान्त:** इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे समाज हमारे व्यवहार को प्रभावित करता है। बालक जिस समाज में रहता है, उस समाज की मान्यताओं और आदर्शों के अनुरूप ही उसका व्यवहार चालित होता है।
4. **व्यवहार जनित सीखने का सिद्धान्त:** इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति का व्यवहार उसकी आवश्यकताओं पर निर्भर करता है। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट व पूर्ण करने के लिए नवीन व्यवहार सीखता है या व्यवहार में परिवर्तन लाता है।
5. **क्षेत्रीय सिद्धान्त:** इस सिद्धान्त के अनुसार, व्यक्ति का व्यवहार उसके परिवेश या वातावरण द्वारा प्रभावित होता है। जैसा परिवेश होगा वैसा ही व्यक्ति का व्यवहार होगा। उदाहरण: उत्साह के वातावरण में आशा का संचार तथा भय के वातावरण में निराशा का संचार होता है।

6.10 अभिप्रेरणा अथवा अभिप्रेरित व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारण

जैसे कि आप पूर्व में पढ़ चुके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यवहार भिन्न होता है। कुछ व्यक्ति जागृत प्रवृत्ति के होते हैं कुछ नहीं। यह भिन्नता अभिप्रेरित व्यवहार के कारण होती है। भिन्न व्यक्तियों में भिन्न प्रकार का अभिप्रेरित व्यवहार होता है। कुछ अत्यधिक अभिप्रेरित व्यवहार प्रदर्शित करते हैं तो कुछ सामान्य अभिप्रेरित व्यवहार प्रदर्शित करते हैं। व्यवहार में यह भिन्नता विभिन्न कारकों से होती है। यह कारक अभिप्रेरणा को प्रभावित करते हैं। मनुष्य में अभिप्रेरणा तथा अभिप्रेरित व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारक निम्नलिखित हैं:

- **बुद्धि का स्तर:** बुद्धि का स्तर अभिप्रेरित व्यवहार को प्रभावित करता है। जिस व्यक्ति का बौद्धिक स्तर उच्च होगा, वह कम बौद्धिक स्तर का व्यक्ति की अपेक्षा अभिप्रेरित व्यवहार शीघ्र सीखेगा। उच्च बौद्धिक स्तर का व्यक्ति उद्देश्यपूर्ण क्रियाएं करके लक्ष्य को शीघ्र प्राप्त करता है।
- **सीखने की इच्छा:** मनुष्य सामाजिक अभिप्रेरक जैसे अनुमोदन, उपलब्धि, शक्ति, आक्रामता, सामूहिकता, संघर्षशीलता, आत्म स्थापन, आकांक्षा आदि समाज में रहकर या दूसरे व्यक्तियों के अभिप्रेरित व्यवहार की नकल करके या अनुसरण करके सीखता है। जिस व्यक्ति में सीखने की इच्छा का स्तर कम होगा, वह उच्च अभिप्रेरित व्यवहार का प्रदर्शन कम करेगा।
- **परिपक्वता का स्तर:** अभिप्रेरणा और अभिप्रेरणा से प्रेरित व्यवहार को सीखने के लिए मनुष्य को सभी प्रकार से जैसे मानसिक, शारीरिक रूप से परिपक्व होना चाहिए। अपरिपक्व व्यक्ति सामाजिक अभिप्रेरणाओं को अधिगम करने में कठिनाई महसूस करेगा।

- **वातावरण:** मनुष्य, विशेषकर बालकों में अभिप्रेरणा सम्बन्धित व्यवहार उसके आस-पास के वातावरण से प्रभावित होता है। बालक अपने आस-पास जिन सामाजिक अभिप्रेरणाओं की प्रबलता पायेगा उन्हीं को वह अनुसरण कर अपने व्यवहार में प्रदर्शित करेगा।
- **निर्देशन तथा प्रशिक्षण:** बालकों को जिस अभिप्रेरित व्यवहार को सीखने के लिए निर्देशित अथवा प्रशिक्षित किया जाता है, बालक उन्हें सरलता तथा शीघ्रता से सीखता है।
- **प्रलोभन:** प्रलोभन मानव के व्यवहार को प्रभावित करता है। प्रलोभन जितना अधिक मूल्यवान व ऐच्छिक होगा अन्तर्नोद व्यवहार उतना ही अधिक प्रबल होगा।

6.11 अभिप्रेरकों के प्रकार

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने प्रेरकों को विभिन्न वर्गों में बांटा है। सबसे अधिक प्रचलित वर्गीकरण मैसलो द्वारा दिया गया है। उनके अनुसार प्रेरक को दो वर्गों में विभाजित किया गया है:

- **जन्मजात या जैविक अभिप्रेरक या प्राथमिक अभिप्रेरक:** सामान्य तौर पर हमारा शरीर संतुलन में रहता है जिसे समस्थिति (Homeostasis) कहते हैं। यह समस्थिति बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। यह समस्थिति बनाये रखने के लिए जैविक तथा जन्म जात अभिप्रेरक क्रियाएं उत्पन्न करता है जिनसे शारीरिक आवश्यकताएं संतुष्ट होती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि जन्मजात या जैविक या प्राथमिक अभिप्रेरक वह अभिप्रेरक हैं जो हमारे शरीर में संतुलन या समस्थिति बनाते हैं। उदाहरण: भूख, प्यास, काम, मलोत्सर्जन, निद्रा।
- **अर्जित अथवा अधिगमित अभिप्रेरक:** जिन अभिप्रेरकों की उत्पत्ति समाजजन्य आवश्यकताओं से होती है उन्हें अर्जित अथवा अधिगमित अभिप्रेरक कहते हैं। **टालमैन** के अनुसार प्राथमिक अन्तर्नोदों की असंतुष्टि के कारण उत्पन्न कुण्ठा के फलस्वरूप व्यक्ति में सामाजिक अन्तर्नोदों की उत्पत्ति होती है। उदाहरण: अनुमोदन, सम्बन्ध, उपलब्धि, आक्रामकता, सामूहिकता, आत्म स्थापना। कुछ अभिप्रेरक व्यक्तिगत अनुभवों के कारण भी उत्पन्न होते हैं। जैसे आकांक्षा का स्तर, जीवन लक्ष्य।

6.12 अभिप्रेरकों में द्वन्द्व

अब तक आप भली-भांति जान गये होंगे कि अभिप्रेरक क्या होते हैं और कितने प्रकार के होते हैं। कई बार हम एक ही समय पर दो प्रकार की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करना चाहते हैं। ऐसी

परिस्थिति जब एक ही समय पर अनेक अभिप्रेरक उत्पन्न हो जाते हैं, तब अभिप्रेरकों में द्वन्द्व या संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मान लीजिए कल आपकी परीक्षा है जिसके लिए आपको पढ़ना है, साथ ही टेलीविजन में आपका पसंदीदा प्रोग्राम आने वाला है और आपको परिवार के साथ किसी विवाह में भी जाना है। यहाँ आपके तीनों अभिप्रेरकों में सन्तुष्टि के लिए संघर्ष होगा। रुक के अनुसार, “जब व्यक्ति को दो लक्ष्यों में से किसी एक को चुनना होता है या एक ही लक्ष्य के प्रति व्यक्ति में धनात्मक तथा ऋणात्मक दोनों ही भाव उत्पन्न हो जाते हैं तो इससे संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है”।

अभिप्रेरकों के संघर्ष (द्वन्द्व) को चार भागों में बाँटा गया है, जो निम्नलिखित हैं:

1. **उपागम - उपागम संघर्ष:** जब हमारे समक्ष दो धनात्मक लक्ष्य हों और हम दोनों को ही प्राप्त करना चाहते हों, तब जो संघर्ष उत्पन्न होता है उसे उपागम - उपागम संघर्ष कहते हैं। जैसे मित्रों के साथ पिकनिक पर जाना और उसी दिन पारिवारिक समारोह में भी शामिल होना।
2. **परिहार - परिहार संघर्ष:** जब हमारे समक्ष दो ऋणात्मक लक्ष्य हों और उन दोनों में से किसी एक का चयन करना ही हो तब जो संघर्ष उत्पन्न होता है उसे परिहार - परिहार संघर्ष कहते हैं। जैसे परीक्षा के लिए पढ़ना भी नहीं चाहना और परीक्षा में अनुत्तीर्ण भी नहीं होना चाहना। ऐसी परिस्थिति में सामान्यतः हम ना चाहते हुए भी पढ़ेंगे।
3. **उपागम - परिहार संघर्ष:** जब हम किसी लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं पर साथ ही उस लक्ष्य से जुड़े कुछ पहलुओं से दूर भी रहना चाहते हैं तब जो संघर्ष उत्पन्न होता है उसे उपागम - परिहार संघर्ष कहते हैं। जैसे परीक्षा में प्रथम आना परन्तु नकल करने की सम्भावना होने पर भी नकल न करना।
4. **बहु उपागम - परिहार संघर्ष:** यह तीसरे संघर्ष जैसा ही है परन्तु इस संघर्ष में अनेक धनात्मक तथा ऋणात्मक लक्ष्य होते हैं जो अपनी सन्तुष्टि चाहते हैं। जैसे किसी का उधार चुकाना हो और पैसा कमाना हो तो अनेक विकल्प जैसे चोरी करना, लॉटरी खरीदना, जुआ खेलना, मेहनत करना में से किसी एक को चुनना।

6.13 अभिप्रेरकों के द्वन्द्वों का समाधान

अभिप्रेरकों के मध्य द्वन्द्वों का समाधान निम्न रूप से किया जा सकता है:

- अभिप्रेरकों के गुण व दोषों पर विचार विमर्श करने के पश्चात निर्णय लेना।
- अपने निर्णय का दृढ़ निश्चय करना तथा उस पर अडिग रहना।

- अभिप्रेरकों के बीच हुए संघर्ष का अचेतन समाधान करना। अचेतन समाधान से तात्पर्य किसी संघर्ष का समाधान जानबूझकर या सोच समझकर न करके अचेतन मन के द्वारा अपने आप किसी प्रकार का समाधान निकल आने से होता है। ये अचेतन समाधान की विधियां हैं- प्रक्षेपण, दमन, क्षतिपूर्ति, युक्तिकरण, रूपान्तरण, प्रतिक्रिया विधान, विस्थापन, उदात्तीकरण।
- प्रक्षेपण का अर्थ है अपने दोषों को दूसरों पर थोपना। दमन का अर्थ है अपने किसी अभिप्रेरक को हटाना और अचेतन मन में डालना। क्षतिपूर्ति का अर्थ है किसी एक अभिप्रेरक के ना प्राप्त होने पर दूसरे क्षेत्र में अच्छा प्रदर्शन करना। युक्तिकरण का अर्थ है किसी अयुक्ति संगत अभिप्रेरक से उत्पन्न मानसिक संघर्ष का समाधान करना, जैसे परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर यह सोचना कि अन्य बच्चे भी तो अनुत्तीर्ण हुए हैं। रूपान्तरण का अर्थ है अपने शारीरिक लक्ष्यों में रूपान्तरण कर अपने अभिप्रेरक को ज्ञात करना। प्रतिक्रिया विधान का अर्थ है अपने अवांछनीय अभिप्रेरक का दमन कर फिर उनको विपरीत प्रकार से चेतन रूप में लाना। जैसे आप किसी को पसन्द नहीं करते और यह भी जानते हैं कि इसका कोई ठोस कारण नहीं है, फिर आप यह समझकर शांत होते हैं कि वह व्यक्ति ही मुझे पसन्द करता है और स्वयं को सही ठहराने की कोशिश करते हैं। विस्थापन का अर्थ है कठिन परिस्थितियों को सरल परिस्थितियों से बदलना। जैसे अपने कार्यक्षेत्र का क्रोध घर पर निकालना। उदात्तीकरण का अर्थ है अपनी इच्छाओं का इस प्रकार रूपान्तरण करना की समाज में प्रशंसा मिले।

अभ्यास प्रश्न 1

1. सत्य अथवा असत्य बताइए।
 - a. उद्दीपन एक आंतरिक दशा है जो व्यक्ति के व्यवहार को दिशा प्रदान करती है।
 - b. अन्तर्नोद आवश्यकता के कारण उत्पन्न होती है।
 - c. धनात्मक अभिप्रेरणा पुरुस्कार प्राप्ति से प्रेरित होती है।
 - d. असफल होने पर अभिप्रेरित व्यक्ति अपना लक्ष्य बदल देता है।
 - e. अभिप्रेरणा व्यवहार को चयनात्मक तथा मितव्ययी बनाता है।
 - f. विस्थापन का अर्थ है कठिन परिस्थितियों को सरल परिस्थितियों से बदलना ।
2. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।
 - a. अभिप्रेरणा के तीन तत्व/स्रोत हैं, तथा

- b. प्यास आवश्यकता है।
- c. अनुमोदन आवश्यकता है।
- d. मैसलो के आवश्यकताओं के पदानुक्रम सिद्धान्त के अनुसार हमआवश्यकताओं की पूर्ति सर्वप्रथम करते हैं।
- e. सामाजिक आवश्यकताओं का आधार होता है।
- f. का अर्थ है अपने दोषों को दूसरों पर थोपना।
- g. अन्तर्नोद में कमी का सिद्धान्त (Drive-Reduction Theory) द्वारा प्रतिपादित किया गया है।
- h. जब व्यक्ति दो धनात्मक लक्ष्यों को एक ही समय में प्राप्त करना चाहता है, तब जो संघर्ष उत्पन्न होता है उसे कहते हैं।

6.14 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम यह निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव व्यवहार को दिशा प्रदान करने के लिए अभिप्रेरणा अत्यन्त आवश्यक तत्व है। अभिप्रेरणा एक विशेष आंतरिक कारक या स्थिति है, जो किसी क्रिया को प्रारंभ करने, उस क्रिया को उत्साह के साथ जारी रखने तथा लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रयासरत रखता है। अभिप्रेरित व्यक्ति का व्यवहार उत्साह, उमंग और ऊर्जा से परिपूर्ण होता है, जिसके कारण उद्देश्यों की उपलब्धि अधिक शीघ्र व श्रेष्ठ होती है और बेचैनी तथा तनाव समाप्त हो जाता है। अभिप्रेरणा के तीन तत्व होते हैं- आवश्यकता, अन्तर्नोद और प्रलोभना। आवश्यकता शरीर की जरूरत अथवा अभाव है जिसके कारण शारीरिक तनाव या असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। आवश्यकता अन्तर्नोद को जन्म देती है। अन्तर्नोद वह दशा है जो कार्य तथा प्रारम्भिक व्यवहार को अग्रसर करता है। प्रलोभन वह बाह्य तत्व है जो आवश्यकता को संतुष्ट करता है और अन्तर्नोद को कम करता है। हमारे स्वयं के भीतर या आस-पास के वातावरण में कुछ तत्व उपस्थित होते हैं जो हमें अभिप्रेरित करते हैं, इन तत्वों को अभिप्रेरक कहते हैं। जो अभिप्रेरक हमारे स्वयं के भीतर होते हैं उन्हें जन्मजात या जैविक अभिप्रेरक कहते हैं जैसे भूख, प्यास। ये अभिप्रेरक हमें क्रमशः भोजन और पानी प्राप्त करने के लिए अभिप्रेरित करते हैं। दूसरी ओर, जो अभिप्रेरक हमारे आस-पास के वातावरण में उपस्थित होते हैं उन्हें अर्जित अथवा अधिगमित अभिप्रेरक कहते हैं जैसे उपलब्धि, आत्म स्थापना। ये अभिप्रेरक हमें समाज में अच्छे ढंग से स्वीकार्य होने के लिए अभिप्रेरित करते हैं। कभी-कभी अनेक अभिप्रेरक उत्पन्न हो जाते हैं, तब अभिप्रेरकों में द्वन्द्व या संघर्ष की स्थिति उत्पन्न

हो जाती है जिन्हें हम विभिन्न विधि जैसे प्रक्षेपण, दमन, क्षतिपूर्ति, युक्तिकरण, रूपान्तरण, प्रतिक्रिया विधान, विस्थापन, उदात्तीकरण द्वारा शांत करते हैं। अंत में हम कह सकते हैं कि अभिप्रेरणा अर्थपूर्ण जीवन के लिए आवश्यक है यदि हम सही दिशा की ओर अग्रसर हों।

6.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. सत्य अथवा असत्य बताइए।
 - a. असत्य
 - b. सत्य
 - c. सत्य
 - d. असत्य
 - e. सत्य
 - f. सत्य
2. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।
 - a. आवश्यकता, अन्तर्नोद तथा प्रलोभन
 - b. जैविक
 - c. अर्जित आवश्यकता
 - d. शारीरिक
 - e. मनोवैज्ञानिक
 - f. प्रक्षेपण
 - g. हल
 - h. उपागम - उपागम संघर्ष

6.16 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अभिप्रेरणा को परिभाषित कीजिए।
2. अभिप्रेरित व्यवहार की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. अभिप्रेरणा को प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या कीजिए।
4. अभिप्रेरकों के प्रकार समझाइए।

5. अभिप्रेरित व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारक बताइए।
6. अभिप्रेरकों में द्वन्द तथा उनके समाधान के विषय में लिखिए।
7. अभिप्रेरणा के प्रमुख सिद्धांतों के बारे में संक्षेप में लिखिए।

6.17 संदर्भ ग्रंथ सूची

- श्रीवास्तव डी. एन. तथा वर्मा, पी. (2006) बाल मनोविज्ञान: बाल विकास, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
- योगेन्द्र जीत, मानव विकास का मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
- आलम, के. जी., श्रीवास्तव, आर., शर्मा, जी., तिवारी, बी. एन., अस्थाना, एम. व श्रीवास्तव, बी., (1997) आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
- सिंह, ए. के. 1998. सामान्य मनोविज्ञान, राखी प्रकाशन, आगरा।

खण्ड 3: बाल विकास के नियम एवं सिद्धांत-।

इकाई 7: पियाजे का विकासात्मक सिद्धांत

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्त को समझने हेतु कुछ महत्वपूर्ण संप्रत्यय

7.4 संज्ञानात्मक विकास की अवस्थाएँ

7.5 संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्त के निहितार्थ

7.6 सारांश

7.7 शब्दावली

7.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

7.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

7.10 निबन्धात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

ज्याँ पियाजे (Jean Piaget 1896-1980) संज्ञानात्मक विकास के क्षेत्र में कार्य करने वाले मनोविज्ञानिकों में सर्वाधिक प्रभावशाली माने जाते हैं। पियाजे का जन्म, 9 अगस्त 1896 को स्विट्जरलैंड में हुआ था। उन्होंने जन्तु-विज्ञान में पीएचडी की उपाधि प्राप्त की। विकासात्मक मनोविज्ञान के अनेक सिद्धांतों में से एक बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्धान्त ज्याँ पियाजे का संज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त है। संज्ञानात्मक विकास के अध्ययन में ज्याँ पियाजे का अभूतपूर्व योगदान है। इसका मूल उद्देश्य बच्चों के विकास के अंतर्गत जो क्रमिक परिवर्तन होते हैं, तथा जटिल मानसिक क्रियाओं की सरलता से व्याख्या करना है।

पियाजे का मत था कि बुद्धि कोई एक निश्चित गुण या लक्षण नहीं है, उन्होंने संज्ञानात्मक विकास को एक प्रक्रिया के रूप में माना है जो कि जैविक परिपक्वता और पर्यावरण के मध्य परस्पर क्रिया के कारण होती है। पियाजे ने अपने सिद्धान्त में शैशवावस्था से वयस्कावस्था के बीच चिन्तन-क्रिया में जो विकास होते हैं, उनकी व्याख्या की है।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप;

- संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्त के महत्वपूर्ण संप्रत्यय (Important concepts) की व्याख्या कर सकेंगे;

- ज्याँ पियाजे के अनुसार संज्ञानात्मक विकास के विभिन्न अवस्थाओं की व्याख्या कर सकेंगे;
- संज्ञानात्मक विकास विभिन्न अवस्थाओं के मध्य अंतर स्पष्ट कर सकेंगे;
- ज्याँ पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्त का मूल्यांकन कर सकेंगे; तथा
- ज्याँ पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्त के शैक्षिक निहितार्थ की व्याख्या कर सकेंगे।

7.3 पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्तों को समझने हेतु कुछ

महत्वपूर्ण संप्रत्यय

पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्त को समझने हेतु कुछ महत्वपूर्ण संप्रत्ययों (Important concepts) को समझना आवश्यक है जिनका वर्णन निम्नवत है:

i. स्कीमाटा (Schemata): पियाजे के अनुसार अनुभव या व्यवहार को संगठित करने की ज्ञानात्मक संरचना को स्कीमाटा कहते हैं। एक नवजात शिशु में स्कीमाटा एक सहजात प्रक्रिया है, जैसे शिशु की चूसने की प्रतिक्रिया। बच्चा जैसे ही बाहरी दुनिया के साथ अन्तःक्रिया करना प्रारम्भ करता है, इन स्कीमाटा में भी तेजी से परिवर्तन होना शुरू हो जाता है। धीरे-धीरे बच्चे स्कीमाटा के सहारे समस्या समाधान के नियम तथा वर्गीकरण करना सीख लेते हैं। इस तरह स्कीमाटा का संबंध मानसिक संक्रिया (mental operation) से है।

ii. संगठन (Organization): संगठन से तात्पर्य प्रत्यक्षीकृत तथा बौद्धिक सूचनाओं (perceptual and cognitive information) को सही तरीके से बौद्धिक संरचनाओं (cognitive structure) में व्यवस्थित करने से है जो इसे बाह्य वातावरण के साथ समायोजन करने में उसके कार्यों को संगठित करता है। व्यक्ति मिलने वाली नयी सूचनाओं को पूर्व निर्मित संरचनाओं के साथ संगठित करने की कोशिश करता है, परन्तु कभी-कभी इस कार्य में सफल नहीं हो पाता है, तब वह अनुकूलन करता है।

iii. अनुकूलन (Adaptation): पियाजे के अनुसार अनुकूलन वह प्रक्रिया है जिसमें बालक अपने को बाहरी वातावरण के साथ समायोजित करने की कोशिश करता है। यह एक जन्मजात प्रवृत्ति है जिसके अंतर्गत दो प्रक्रियाएं सम्मिलित हैं-

a. आत्मसातीकरण (Assimilation)

b. समाविष्टिकरण (Accommodation)

मूलरूप से आत्मसातीकरण एक नयी वस्तु अथवा घटना को वर्तमान अनुभवों में सम्मिलित करने की प्रक्रिया है। उदाहरण के लिए यदि एक बालक के हाथ में टॉफी रख दी जाती है तो उसे वह तुरंत मुँह में डाल देता है, क्योंकि उसे यह पता है कि टॉफी खाने की वस्तु है। यहाँ बालक अनुकूलन के

द्वारा खाने की क्रिया को आत्मसात कर रहा है अर्थात् पुरानी बौद्धिक क्रिया को नवीन क्रिया के साथ समायोजित करता है। अनुकूलन की यह प्रक्रिया जीवनपर्यंत चलती रहती है।

समाविष्टिकरण (Accommodation) वह प्रक्रिया है, जिसमें बालक नये अनुभवों की दृष्टि से पूर्ववर्ती संरचना में सुधार लाने या परिवर्तन लाने की कोशिश करता है जिससे वह वातावरण के साथ समायोजन कर सके। उदाहरण के लिए जब बालक को टॉफी के स्थान पर मिठाई देते हैं तो बालक यह जानता है कि टॉफी मीठी होती है पर अब वह अपने मानसिक संरचना (Mental structure) में परिवर्तन लाता है, और इसमें नयी बातें जोड़ता है कि टॉफी और मिठाई दोनों अलग-अलग खाने की चीजे हैं जबकि दोनों का स्वाद मीठा है। आत्मसातीकरण तथा समाविष्टिकरण तभी संभव है जब वातावरण के उद्दीपक बालक के बौद्धिक स्तर के अनुरूप होते हैं।

iv. साम्यधारण (Equilibration): साम्यधारण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बालक आत्मसातीकरण (Assimilation) और समाविष्टिकरण (Accommodation) के बीच संतुलन स्थापित करता है। पियाजे के अनुसार अगर किसी बालक के सामने जब कोई समस्या आती है जिसका पूर्व अनुभव उसे नहीं था तो वह पूर्व अनुभूति के साथ उसे आत्मसात (Assimilate) करता है। फिर भी अगर समस्या का हल नहीं होता है तो वह अपने पूर्व अनुभव को अपने अनुसार रूपान्तरित (Modification) करता है। अर्थात् वह संतुलन कायम रखने के लिए आत्मसातीकरण और समायोजन दोनों प्रक्रिया करना शुरू कर देता है।

v. संरक्षण (Conservation): पियाजे के अनुसार संरक्षण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा बालक में एक ओर वातावरण के परिवर्तन तथा स्थिरता में अंतर करने की क्षमता और दूसरी ओर वस्तु के रंग-रूप में परिवर्तन तथा उसके तत्व में परिवर्तन के बीच अन्तर करने की क्षमता निहित होती है।

vi. स्कीमा (Schema): पियाजे के अनुसार स्कीमा का अर्थ ऐसी मानसिक संरचना है, जिसका समान्यीकरण (Generalization) संभव हो।

अभ्यास प्रश्न 1

1. रिक्त स्थान भरिए।

- _____ ने संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।
- पियाजे का जन्म 9 अगस्त सन् 1896 को _____ में हुआ था।
- अनुकूलन (Adaptation) के अंतर्गत दो प्रक्रियाएँ सम्मिलित हैं; आत्मसातीकरण तथा _____
- _____ वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बालक आत्मसातीकरण और समाविष्टिकरण के बीच संतुलन स्थापित करता है।

7.4 संज्ञानात्मक विकास की अवस्थाएँ (Stages of Cognitive Development)

संज्ञानात्मक विकास की निम्न अवस्थाएँ हैं:

- संवेदी पेशीय अवस्था (Sensory Motor stage)
- पूर्व-संक्रियात्मक अवस्था (Pre-operational stage)
- मूर्त- संक्रियात्मक अवस्था (Concrete Operational Stage)
- अमूर्त- संक्रियात्मक अवस्था (Formal Operations Stage)

क्रम सं.	अवस्था	आयु सीमा
1.	संवेदी पेशीय अवस्था Sensory Motor Stage	जन्म से लेकर 02 वर्ष
2.	पूर्व- संक्रियात्मक अवस्था Pre-Operational Stage	02 से 07 वर्ष
3.	मूर्त संक्रियात्मक अवस्था Concrete Operational Stage	07 से 11 वर्ष
4.	अमूर्त संक्रियात्मक अवस्था Formal Operations Stage	11 से 15 वर्ष

सामान्यतया यह चार अवस्थाएँ विशेष आयु वर्ग से सम्बंधित होती हैं। जिन चार अवस्थाओं को ज्याँ पियाजे द्वारा प्रतिपादित किया गया है, इनका विवरण निम्नवत प्रस्तुत है:

1. संवेदी पेशीय अवस्था (Sensory Motor Stage)- संज्ञानात्मक विकास की यह अवस्था जन्म से लेकर 02 वर्ष की आयु तक होती है। इस अवस्था में शिशु की मानसिक क्रियाएँ उसकी इन्द्रियों से जुड़ी हुई गामक क्रियाओं के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। बोलचाल की भाषा को उपयोग न कर सकने के कारण शिशु इस उस वस्तु को दिखाकर अपने को व्यक्त करने का प्रयास करते हैं। शिशु अपनी समझ को व्यक्त करने के लिए विभिन्न गामक क्रियाओं (Motor skills) का उपयोग करते हैं। यही कारण है कि इस अवस्था में जो वस्तु उसके सामने होती है उसी का उसके लिए अस्तित्व होता है। आँखों से ओझल होते ही वस्तु का अस्तित्व भी नहीं रहता है। यही कारण है कि इस अवस्था में शिशु 'खिलौने को बन्दर ले गया' जैसी बातों को मानने लगता है। इसी प्रकार किसी वस्तु को किसी चीज से ढक कर छुपाने पर वह शिशु उसको बाद में ढूँढने का प्रयास भी करता है। इस अवस्था में विकास की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं:

- शिशु अपनी गति और अनुभव के माध्यम से अपने आस पास की जानकारी ग्रहण करता है।

- बच्चे चीजों को चूसने, पकड़ने, देखने और सुनने जैसी क्रियाओं के माध्यम से सीखते हैं।
- संज्ञानात्मक विकास के इस प्रारंभिक चरण के दौरान बच्चे अपने अनुभवों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करते हैं।
- इस अवस्था के प्रारम्भ में बच्चे का संपूर्ण अनुभव सजगता, ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से और गामक प्रतिक्रियाओं (motor responses) के माध्यम से होता है।
- इस अवस्था में बच्चे विकास और सीखने की अवधि से गुजरते हैं। जैसे-जैसे बच्चा अपने वातावरण के साथ परस्पर क्रिया करता है, वह लगातार इस बारे में खोज कर रहा होता है कि चीजें कैसी काम करती हैं।
- इस अवस्था में होने वाला संज्ञानात्मक विकास अपेक्षाकृत कम समय में होता है और साथ ही इसमें वृद्धि भी होती है। बच्चे न केवल शारीरिक क्रियाएं करना सीखते हैं जैसे रेंगना और चलना, वरन वे जिनके साथ अन्तःक्रिया करते हैं उनसे भाषा के बारे में भी बहुत कुछ सीखते हैं।

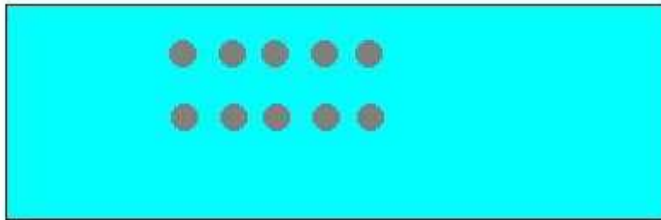
2. पूर्व- संक्रियात्मक अवस्था (Pre-Operational Stage) - संज्ञानात्मक विकास की पूर्व-संक्रियात्मक अवस्था लगभग दो साल से प्रारंभ होकर सात साल तक होती है। इस अवधि में शब्दों, वाक्यों का उपयोग कर शिशु/ बच्चा अपनी बात कहना शुरू कर देता है। इस प्रकार गामक क्रियाओं के स्थान पर भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम बनने लगती है। इस अवस्था में मानसिक विकास की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं:

- i. इस अवस्था में संप्रत्यय निर्माण (Concept Formation) की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। बच्चे अपने वातावरण में विद्यमान वस्तुओं के नाम और उनमें अंतर समझना प्रारम्भ कर देते हैं। उदाहरण- चार पैरों वाले प्राणियों के दो वर्गों जैसे 'कुत्ता और गाय' में अंतर कर सकना प्रारम्भ हो जाता है।
- ii. निर्जीव व सजीव वस्तुओं में अंतर कर पाना प्रारम्भ हो जाता है। प्रारम्भ में बच्चे खिलौनों को भी सजीव समझते हैं। बाद में वे सब समझ जाते हैं कि निर्जीव वस्तुओं को सर्दी व गर्मी नहीं लगती है। इसी प्रकार उनकी समझ में आ जाता है कि गुड़िया या खिलौनों को भूख नहीं लगती है और वे दूध नहीं पीते हैं। इसको पियाजे ने जीववाद कहा है जिसमें बालक निर्जीव वस्तुओं को भी सजीव समझने लगता है। उनके अनुसार जो भी वस्तुएँ हिलती हैं या घूमती हैं वे वस्तुएँ सजीव हैं। जैसे सूरज, बादल, पंखा ये सभी अपना स्थान परिवर्तन करते हैं, व पंखा घूमता है, इसलिए ये सभी सजीव हैं।
- iii. इस अवस्था में बच्चे अत्यधिक आत्मकेंद्रित (Egocentrism) होते हैं। उनको लगता है कि आस-पास की सभी चीजें केवल उन्हीं के लिए हैं। अपने माता-पिता को वो केवल अपना ही मानते हैं तथा उन पर सिर्फ अपना अधिकार समझते हैं। बाद में धीरे-धीरे आत्मकेंद्रित रहने की स्थिति से वे सामाजिकता की ओर बढ़ना प्रारम्भ कर देते हैं। साथ ही दूसरों के साथ चीजों को बांटना भी शुरू कर देते हैं।

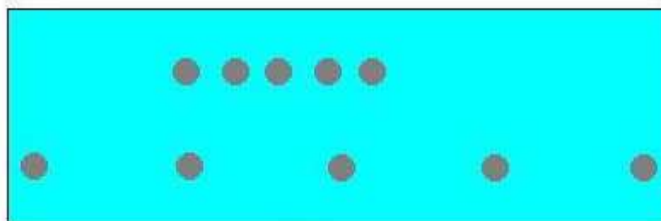
iv. इस अवस्था में बच्चे कल्पनाशील होते हैं परन्तु इस कल्पना से कुछ नई चीज बनाने की क्षमता उनमें नहीं होती है। अपने द्वारा बनाए गए कागज़ के हवाई जहाज को वो वास्तविक हवाई जहाज समझते हैं। इस अवस्था में उन्हें परियों और जादू की कहानियाँ अच्छी लगने लगती हैं। तर्क पर आधारित चिंतन करने की क्षमता उनमें नहीं होती है और वे केवल हवाई किले बनाते हैं।

v. पियाजे के अनुसार इस उम्र के बच्चों में तार्किक चिन्तन की कमी रहती है, जिसे पियाजे ने संरक्षण का सिद्धान्त (Law of conservation) कहा है।

उदाहरण के लिए: दो अलग-अलग आकार प्रकार के कांच के बर्तनों में समान मात्रा में रखे गए दूध को इस अवस्था के बच्चे समान या बराबर नहीं मान पाते हैं। कम चौड़ाई के लंबे बर्तन में रखे समान मात्रा के दूध को बच्चे अधिक चौड़ाई के छोटे बर्तन में रखे समान मात्रा के दूध के बराबर नहीं मान पाते हैं।



(a)



(b)

समान मात्रा के बटनों को ढेर बनाकर दिखाने तथा उन्हीं बटनों को फैलाकर दिखाने पर बच्चे फैले हुए बटनों को अधिक मानते हैं।

अपने घर से दोस्त के घर की दूरी को और अपने उसी दोस्त के घर से अपने घर की दूरी को बराबर मानने की समझ उनमें नहीं होती है।

3. मूर्त संक्रियात्मक अवस्था (Concrete Operational Stage) - यह अवस्था 7 साल से 11 साल तक होती है। इस अवस्था में मानसिक विकास की विशेषताएँ निम्नवत हैं:

i. विभिन्न प्रकार के संप्रत्ययों की समझ स्पष्ट हो जाती है। गाय, पेड़, जंगल, खेत, तालाब आदि संप्रत्यय स्पष्ट हो जाते हैं। वस्तुओं को पहचानना, उनको अलग-अलग वर्गों में विभाजित करना तथा वस्तुओं में अंतर कर सकने की क्षमता विकसित हो जाती है।

ii. इस अवस्था में बच्चे चीजों के बीच की समानता, अंतर, सम्बन्ध और दूरी को समझने लगते हैं। वे 05 आमों और 10 आमों के संबंधों को समझना प्रारम्भ कर देते हैं। दो अलग-अलग वर्गों के प्राणियों में अंतर स्पष्ट होने लगता है। वे समझने लगते हैं कि कुछ प्राणी 'गाय' होते हैं, कुछ प्राणी 'कुत्ता' होते हैं तथा कुछ 'बिल्ली' होते हैं। इस अवस्था में वस्तुओं के सामने ना होने पर भी वे उन पर अमूर्त रूप से विचार प्रारम्भ कर देते हैं।

iii. उनके विचार करने के तरीके में क्रमबद्धता तथा तार्किकता आनी प्रारम्भ हो जाती है। उनकी कल्पनाशीलता धीरे-धीरे यथार्थ पर आधारित होने लगती है।

iv. पलट कर सोचने की समझ तथा संख्या तथा परिमाण के आधार पर सही समझ भी धीरे-धीरे विकसित होने लगती है। अधिक या कम बटनों को वे संख्या के आधार पर समझना प्रारम्भ कर देते हैं। उनकी समझ में यह बात भी आ जाती है कि समान मात्रा का दूध अलग-अलग आकार के बर्तनों में होने के बाद भी बराबर होता है। इतना होने पर भी इस अवस्था में मानसिक क्रियाएँ अधिकांशतः मूर्त या स्थूल रूप में ही उपयोग में लाई जाती हैं।

4. अमूर्त संक्रियात्मक अवस्था (Period of Formal Operations) - यह संज्ञानात्मक विकास की अंतिम अवस्था है जो लगभग 11-15 की आयु तक होती है। इस अवस्था के मानसिक विकास के महत्वपूर्ण बिंदु निम्नवत हैं-

i. संप्रत्ययों की समझ पूर्ण रूप से विकसित हो जाती है। भाषाई दक्षता एवं सम्प्रेषण तक पहुँचने के लिए विचार, सोच, तर्क, कल्पना, निरीक्षण, परीक्षण, अवलोकन, प्रयोग आदि करने के योग्य हो जाता है।

ii. स्मरण करने की योग्यता रटने के स्थान पर तर्क एवं समझ पर निर्भर करने लगती है।

iii. चिंतन करने के लिए चीजों का मूर्त रूप में दिखना आवश्यक नहीं रह जाता है। A, B, C, D एक चतुर्भुज है, गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत आदि की कल्पना संभव हो जाती है। वस्तुओं का निर्माण करने के लिए कल्पनाशक्ति का प्रयोग प्रारम्भ हो जाता है। तथ्यों, सूचनाओं से होते हुए नियमों और

सिद्धांतों की समझ विकसित होने लगती है। सृजनात्मकता के लिए आवश्यक योग्यताएं जैसे खोज करना, रचना करना, मौलिक चिंतन करना आदि बौद्धिक योग्यताएं विकसित हो जाती हैं।

7.5 पियाजे द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत के निहितार्थ

पियाजे द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत के निहितार्थ निम्न हैं:

- i. सीखने की प्रक्रिया सहज, सरल व सुगम बन सके इसके लिए यह आवश्यक है कि बच्चों की आयु के अनुरूप शिक्षण व्यवस्था का आयोजन किया जाए।
- ii. प्रारम्भ में भाषा आधारित शब्दों से जुड़े संप्रत्ययों को अधिकाधिक मूर्त रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए।
- iii. अवस्था आधारित विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए पाठ्यवस्तु का निर्धारण एवं पाठ्य सामग्री का निर्माण किया जाना चाहिए।
- iv. औपचारिक शिक्षा 07 वर्ष से प्रारम्भ करनी चाहिए। इस व्यवस्था के अंतर्गत मूर्त चिंतन से अमूर्त चिंतन की ओर बढ़ने के अवसर उपलब्ध कराने के प्रयास किए जाने चाहिए।
- v. निरीक्षण, प्रयोग तथा खोज करने के पर्याप्त अवसर उपलब्ध कराए जाने चाहिए।
- vi. वस्तुओं की पहचान तथा सम्प्रत्ययों की समझ विकसित करने के उपरान्त सूचनाओं तथा तथ्यों के आधार पर नियमों एवं सिद्धांतों की समझ विकसित करने हेतु उपयुक्त प्रयास किए जाने चाहिए।
- vii. इस कार्य को करने हेतु सुसज्जित प्रयोगशालाओं के साथ-साथ शैक्षिक भ्रमणों, योजना विधि, विज्ञान संग्रहालय तथा प्रकृति से प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित करने के पर्याप्त अवसर उपलब्ध कराए जाने चाहिए।
- viii. बच्चों को किसी समस्या या जटिल विचारों को समझाने के लिए कहानी या परिचित उदाहरणों का उपयोग करके सीखने की सुविधा प्रदान की जानी चाहिए।
- ix. बच्चों को जानकारियों को वर्गीकृत करने और समूह में रखने, पदानुक्रम का उपयोग करने के अवसर प्रदान किए जाने चाहिए।
- x. तार्किक विश्लेषणात्मक सोच को विकसित करने के लिए, “ब्रेन टीज़र” को सम्मिलित किया जाना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न 2

1. रिक्त स्थान भरिए।
 - a. ज्यों पियाजे के अनुसार संज्ञानात्मक विकास की _____ अवस्थाएँ हैं।
 - b. संज्ञानात्मक विकास की _____ अवस्था जन्म से लेकर 02 वर्ष की आयु तक होती है।

- c. पूर्व-संक्रियात्मक अवस्था _____ से _____ तक होती है।
- d. संज्ञानात्मक विकास की अंतिम अवस्था को _____ कहते हैं जो लगभग 11 साल से 15 साल की आयु तक होती है।

7.6 सारांश

ज्याँ पियाजे संज्ञानात्मक विकास के क्षेत्र में कार्य करने वाले मनोविज्ञानिकों में सर्वाधिक प्रभावशाली माने जाते हैं। विकासात्मक मनोविज्ञान के अनेक सिद्धांतों में से एक बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्धान्त ज्याँ पियाजे का संज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त है। संज्ञानात्मक विकास के अध्ययन में ज्याँ पियाजे का अभूतपूर्व योगदान है। इसका मूल उद्देश्य बच्चों के विकास के अंतर्गत जो क्रमिक परिवर्तन होते हैं, तथा जटिल मानसिक क्रियाओं की सरलता से व्याख्या करना है। पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्त को समझने हेतु कुछ महत्वपूर्ण संप्रत्ययों को समझना आवश्यक है- जैसे स्कीमाटा, संगठन, अनुकूलन, साम्यधारण, संरक्षण, स्कीमा।

पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्त को चार अवस्थाओं में विभाजित किया गया है; संवेदी-पेशीय अवस्था (Sensory-motor stage), पूर्व-संक्रियात्मक अवस्था (Pre-operational stage), मूर्त संक्रियात्मक अवस्था (Concrete Operational Stage) तथा अमूर्त संक्रियात्मक अवस्था (Period of Formal Operations)। इस तरह पियाजे ने संज्ञानात्मक विकास सिद्धान्त के माध्यम से विकास की हर अवस्था को विस्तृत ढंग से प्रस्तुत किया है।

7.7 पारिभाषिक शब्दावली

- **संज्ञान:** मानसिक प्रक्रिया जिसका संबंध चिंतन, समस्या-समाधान तथा अन्य मानसिक प्रक्रियाओं से है।
- **स्कीमाटा:** अनुभव या व्यवहार को संगठित करने की संज्ञानात्मक संरचना।
- **संगठन:** बौद्धिक सूचनाओं को सही तरीके से बौद्धिक संरचना में व्यवस्थित करना।
- **अनुकूलन:** वह प्रक्रिया जिसमें बालक अपने को बाहरी वातावरण के साथ समायोजन करने की कोशिश करता है।
- **आत्मसातीकरण:** एक नई वस्तु अथवा घटना को वर्तमान अनुभवों में सम्मिलित करने की प्रक्रिया।
- **समाविष्टिकरण:** वह प्रक्रिया जिसमें बालक नए अनुभवों की दृष्टि से पूर्व के अनुभवों में सुधार लाने या परिवर्तन लाने की कोशिश करता है।
- **संरक्षण:** वातावरण में परिवर्तन तथा स्थिरता को समझने और वस्तु के रंग-रूप में परिवर्तन तथा उसके तत्व के परिवर्तन में अन्तर करने की प्रक्रिया।

7.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. रिक्त स्थान भरिए।
 - a. ज्यां पियाजे
 - b. स्विट्जरलैंड
 - c. समाविष्टिकरण
 - d. साम्यधारण

अभ्यास प्रश्न 2

1. रिक्त स्थान भरिए।
 - a. चार
 - b. संवेदी पेशीय अवस्था
 - c. 02 से 07 साल
 - d. अमूर्त संक्रियात्मक अवस्था

7.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. सिंह, ए०के० (2007): उच्चतर मनोविज्ञान, वाराणसी, मोतीलाल बनारसी दास।
2. मंगल, एस० के० (2010), शिक्षा मनोविज्ञान, नई दिल्ली, प्रेंटिस हाल ऑफ इंडिया।
3. सिंह, ए०के० (2007): शिक्षा मनोविज्ञान, पटना, भारती भवन पब्लिसर्शी।
4. Gupta, S.P. (2002): उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान, इलाहाबाद, शारदा पुस्तक भवना।
5. Mathur, S.S. (2007), Educational Psychology, Agra Vinod Pustak Mandir.

7.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संज्ञानात्मक विकास से आप क्या समझते हैं? पियाजे के अनुसार संज्ञानात्मक विकास की अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।
2. पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
3. पियाजे के सिद्धान्त के कुछ महत्वपूर्ण संप्रत्ययों की व्याख्या कीजिए।

इकाई 8: सिगमंड फ्रायड का मनोविश्लेषणवादी सिद्धांत

- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 उद्देश्य
- 8.3 विकास की प्रमुख अवस्थाएं
- 8.4 मन के अभिकरण
- 8.5 निहितार्थ
- 8.6 सारांश
- 8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 8.8 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 8.9 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपादक सिगमंड फ्रायड हैं। यह सिद्धान्त मानव मन की आन्तरिक अनुभूतियों (Feelings), आवेगों (impulses) तथा स्वप्न-चित्रों (Fantasies) को समझने का प्रयास है।

फ्रायड का जन्म 1856 में फ्रेडबर्ग, मोराविया में हुआ था। फ्रायड के जन्म के समय उनकी माता की उम्र 20 वर्ष और पिता की 40 वर्ष थी। फ्रायड एक बुद्धिमान विद्यार्थी थे। उन्होंने चिकित्सा शिक्षा प्राप्त की थी और मनः चिकित्सा के अन्तर्गत 'उन्माद' (हिस्टीरिया-Hysteria) को अपने शोध कार्य का केन्द्र बिन्दु बनाया। 'हिस्टीरिया' शारीरिक बिमारियों तथा स्मृति क्षय से सम्बन्धित है जिनका कोई दैहिक कारण स्पष्ट नहीं होता है। 'हिस्टीरिया' नामक बीमारी से ग्रस्त व्यक्ति अपनी इच्छाओं तथा संवेगों की वास्तविकता का दमन कर देता है। यह दमन शारीरिक लक्षणों के रूप में परिलक्षित होता है। 'हिस्टीरिया' से ग्रसित रोगियों, जिनमें अधिकतर महिलाएं थीं, की समस्याओं के निदान के लिए किए गए शोध कार्य से 'मनोविश्लेषण सिद्धान्तों' का प्रादुर्भाव हुआ। फ्रायड का शोध कार्य इस अवधारणा पर केन्द्रित रहा कि ये रोगी जिन संवेगों का दमन करते हैं वे मूलरूप से लैंगिक (Sexual) प्रकृति के होते हैं।

बाल्यकालीन लैंगिकता (Childhood Sexuality) को समझने के लिए फ्रायड ने ओडिपस संकट (Oedipus Complex) के प्रत्यय को प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थि के कारण बालक अपनी माँ के प्रति तीव्र लगाव की वजह से पिता के प्रति वैमनस्य युक्त हो जाता है तथा बालिका अपने पिता के प्रति

तीव्र लगाव के कारण माँ के प्रति वैमनस्य युक्त हो जाती है। यह सिद्धान्त फ्रायड द्वारा 'इन्टरप्रिटेशन ऑफ ड्रीम्स' (Interpretation of Dreams) नामक पुस्तक में सर्वप्रथम वर्ष 1900 में प्रस्तुत किया गया तथा इसे 'अचेतन तक का शाही मार्ग' (The royal road to the unconscious) कहा गया।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत शिक्षार्थी;

- फ्रायड द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत के प्रमुख संप्रत्ययों को जान पाएंगे;
- विकास की विभिन्न अवस्थाओं की व्याख्या कर सकेंगे;
- मन के अभिकरणों का वर्णन कर सकेंगे;
- फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद को अपने शब्दों में लिख सकेंगे; तथा
- फ्रायड के सिद्धांत के निहितार्थ स्पष्ट कर सकेंगे।

8.3 विकास की प्रमुख अवस्थाएं (Main Stages of Development)

सिगमंड फ्रायड का मानना था कि बच्चे के विकास की प्रत्येक अवस्था का सीधा संबंध उनकी विशिष्ट आवश्यकताओं और माँगों से होता है। प्रत्येक अवस्था शरीर के एक विशेष हिस्से पर आधारित होती है और सभी यौन आधारित होती हैं। फ्रायड ने मानव व्यवहार के लिए गतिशील और मनोसामाजिक स्पष्टीकरण दिया। उन्होंने विकास की मनो-यौन अवस्थाओं का संप्रत्यय दिया। फ्रायड का मानना था कि प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की विशिष्ट आवश्यकताएं होती हैं और प्रत्येक अवस्था के दौरान उन आवश्यकताओं की संतुष्टि महत्वपूर्ण है।

फ्रायड ने अपने शोध कार्य के परिणामों से यह निष्कर्ष निकाला कि काम-भावनाएं (Sexual feeling) बाल्यावस्था से ही सक्रिय रहती हैं। फ्रायड 'कामुकता' (Sex) को केवल सम्भोग तक ही सीमित नहीं रखते हैं वरन् इसके अन्तर्गत वे दैहिक आनन्द सुख (Bodily pleasure) को उत्पन्न करने वाली सभी क्रियाओं को सम्मिलित करते हैं।

फ्रायड के सिद्धान्त में 'सामान्य कामुक ऊर्जा' (general sexual energy) को 'लिबिडो' कहा गया है और शरीर के जिस हिस्से में यह ऊर्जा केन्द्रित होती है उसे कामोत्तेजक भाग (erogenous zone) कहा जाता है। शरीर का कोई भी हिस्सा कामोत्तेजक भाग बन सकता है लेकिन बाल्यावस्था में मुँह, गुदा तथा जननांग (the mouth, the anus, and the genital area) तीन सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग हैं। बालक/बालिका की काम सम्बन्धी रुचियाँ इन कामोत्तेजक भागों में एक निश्चित अवस्था क्रम (specific stage sequence) से केन्द्रित रहती हैं। बच्चे की प्रथम काम सम्बन्धी रुचि 'मुँह' पर केन्द्रित रहती है। इसके बाद यह रुचि 'गुदा' केन्द्रित हो जाती है और अन्ततः 'जननांग' पर केन्द्रित होती है।

फ्रायड का मानना था कि यह क्रम एक परिपक्वता प्रक्रिया से बनता है और यह प्रक्रिया अर्न्तजात (innate), जैविक (biological) कारकों पर आधारित होती है। इसके साथ ही बच्चे के निजी अनुभव भी इस 'क्रम' को सुनिश्चित करने में निर्णायक विकासात्मक भूमिका का निर्वहन करते हैं।

1. मुखीय अवस्था (Oral Stage): जन्म से 18 माह

मुखीय अवस्था को दो उप-अवस्थाओं में बांटा गया है:

a. मुखीय चूषण अवस्था (Oral Sucking Stage)- यह अवस्था जन्म से 06 माह की अवस्था तक रहती है। इस अवस्था में 'सामान्य कामुक ऊर्जा' यानी Libido का स्थिरीकरण मुंह, ओष्ठ और जीभ पर रहता है। इस अवस्था में बच्चे का व्यवहार पूर्णरूपेण 'इड' (id) से प्रभावित रहता है। फ्रायड ने लिखा है- 'यदि एक शिशु अपने को व्यक्त कर सकता होता तो वह निस्सन्देह यह बताता कि माँ के स्तनों को चूसना जीवन की सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है। चूसना वास्तव में अत्यावश्यक है, क्योंकि यह शिशु को पोषण प्रदान करता है, बच्चे को जीवित रहने के लिए उसे चूसना ही होगा। फ्रायड का विचार था कि 'चूसने' से स्वयं ही आनन्द/सुख प्राप्त होता है। यही कारण है कि भूखे नहीं होने पर भी शिशु अपने अंगूठे को चूसते हैं। फ्रायड इस प्रकार के सुख/आनन्द के लिए चूसने को 'Autoerotic' (आत्म-रति) कहते हैं क्योंकि शिशु अपने शरीर से ही परितोषण (Gratification) प्राप्त करते हैं। शिशु इस अवस्था में पूर्ण रूपेण दूसरों पर आश्रित रहते हैं परन्तु उन्हें इस बात का भान नहीं होता क्योंकि उन्हें दूसरों के अलग/पृथक अस्तित्व का बोध ही नहीं होता है। फ्रायड इस प्रारम्भिक वस्तुरहित स्थिति (initial objectless state) को एक प्राथमिक आत्मरति (as one of primary narcissism) की स्थिति बताते हैं। आत्मरति का अर्थ है 'स्वमप्रेम' (Self - love) और इसे ग्रीक मिथक (Greek Myth) से लिया गया है। इस मिथक में 'नार्सिसस' (Narcissus) नामक बालक तालाब के पानी में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर उससे प्यार करने लगता है। आत्मरति से यह प्रदर्शित होता है कि शिशु मूल रूप से अपने शरीर पर ही केन्द्रित रहते हैं।

b. मुखीय काटना अवस्था (Oral Biting Stage)- यह अवस्था लगभग 6 माह से 18 माह तक की आयु तक रहती है। इस अवस्था से शिशु 'दूसरे' के प्रत्येक को समझना प्रारम्भ करते हैं, विशेष रूप से माँ को अपने से अलग आवश्यक 'दूसरे' के रूप में समझते लगते हैं। माँ के पास न होने पर या उसकी जगह किसी अन्य को देखने पर वे चिन्तित हो जाते हैं। इस अवधि में शिशु के जीवन में एक दूसरा महत्वपूर्ण विकास हो रहा होता है। दांतों का बढ़ना और दांत से काटने की उत्तेजना का प्रारम्भ होना। बच्चा अपनी मां से प्रेम करता है, क्योंकि वह उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है तथा मां से घृणा भी करने लगता है, क्योंकि वह अपना दूध छुड़ा कर उसे बोटल से दूध पिलाती है तथा उसका ठोस आहार प्रारम्भ करती है। बच्चा मां के स्तन को काट कर अपनी असन्तुष्टि को प्रकट करता है। इसे फ्रायड ने द्वितीय मानसिक आघात (Second Major Traumatic Experience) का नाम दिया है। फ्रायडवादी मानते हैं कि शिशु को ऐसा लगता है कि

‘काटने’ से माँ दूर हो सकती है। इस स्तर पर जीवन जटिल और कष्टप्रद हो जाता है। शिशु अपने जीवन के प्रारम्भिक समय में ही पहुँचना चाहता है जब जीवन काफी सरल और संतोषप्रद था। शिशु स्तनपान से प्राप्त होने वाले आहार और सुख से ‘दांत से काटने’ की प्रवृत्ति के कारण वंचित होने लगता है। यह शिशु के लिए मानसिक आघात के तुल्य होता है।

यहाँ पर हम आपको दो संप्रत्ययों से परिचित कराते हैं-

निर्धारण एवं प्रतिगमन (Fixation and Regression)- फ्रायड के अनुसार हम सब मुखीय अवस्था (Oral Stage) तथा मनोलैंगिक विकास के अन्य स्तरों से गुजरते हैं। लेकिन किसी स्तर पर एक व्यक्ति अपने को ‘निर्धारित’ (Fix) भी कर सकता है चाहे वह उससे कितना भी आगे क्यों न चला गया हो। ऐसी स्थिति में वह उस अवस्था के सुख/आनन्द से ही जुड़ा रह जाता है। उदाहरण के लिए ‘मुखीय अवस्था’ से जुड़े रह गए व्यक्ति भोजन करने, चीजों को चूसने या दांत से काटने (जैसे पेन्सिल आदि), धूमपान या मदिरापान की लत से सुख/आनन्द प्राप्त करते पाए जाते हैं। मनोविश्लेषणवादी सामान्यतया मानते हैं कि इसका कारण मुखीय अवस्था पर अत्यधिक परितोषण (excessive gratification) या अत्यधिक नैराश्य/कुण्ठा (excessive frustration) के कारण होता है।

कभी-कभी व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में थोड़े से ही मुखीय लक्षण (Oral Traits) को प्रदर्शित करते हैं जब तक कि वे कुछ नैराश्य/कुण्ठा से ग्रस्त नहीं होते हैं। तब वे मुखीय निर्धारण बिन्दु (Oral Fixation Point) पर लौट जाते हैं। एक नन्हा बच्चा अपनी छोटी बहन के जन्म के बाद जब माता-पिता के लाड़ प्यार में अपने लिए कमी पाता है तो अंगूठा चूसने की जिस क्रिया को वह छोड़ चुका होता है, उसे पुनः प्रारम्भ कर देता है। यह उसका मुखीय अवस्था (oral stage) पर लौट जाना (regress) है। इसी प्रकार एक किशोरी जो मुखीय अवस्था के मामलों से प्रमुख रूप से सरोकार नहीं रखती है, अपने किशोर-मित्र से सम्बन्ध टूट जाने पर अवसादित (depressed) होने के कारण ‘खाते रहने’ की ओर उन्मुख हो जाती है।

2. गुदा अवस्था (The Anal Stage): 18 माह से 03 वर्ष

18 माह से 03 वर्ष तक आयु में शिशु की काम रुचियाँ (sexual interests) गुदा क्षेत्र (anal zone) पर केन्द्रित रहती हैं। गुदा क्षेत्र की श्लेष्मत झिल्लियों (mucous membranes) में आन्त्र क्रियाओं (Bowel movements) से उत्पन्न होने वाली आनन्ददायक अनुभूतियों (Pleasurable sensations) से बच्चे अवगत होने लगते हैं। वे मल-मूत्र विसर्जन की क्रियाओं को कुछ देर रोककर करने से गुदीय आनन्द प्राप्त करना प्रारम्भ कर देते हैं। वे अपने द्वारा उत्पन्न किए गए ‘मल’ में रुचि लेने लगते हैं और उससे खेलने-लीपने-पोतने से आनन्द प्राप्त करने लगते हैं। यह स्वाभाविक है कि माता-पिता इस प्रकार की क्रियाओं को बहुत देर तक नहीं चलने देते हैं। इसके लिए माता-पिता टॉयलेट- प्रशिक्षण (Toilet Training) देते हैं। कुछ बच्चे कुछ समय के लिए इसका विरोध करते हैं तथा अपने तथाकथित ‘गन्दे’ काम को जारी रखते हैं। इस विरोध को प्रदर्शित करने में वे चीजों को

बर्बाद करने, अव्यवस्थित रहने तथा अस्तव्यस्त रहते हैं। इस प्रकार का प्रदर्शन प्रौढ़ावस्था तक भी चल सकता है। फ्रायड माता-पिता की 'टॉयलेट-ट्रेनिंग' पर जोर देने के दूसरे परिणाम पर भी ध्यान देते हैं। उन्होंने देखा कि कुछ लोग इस कारण से स्वच्छ रहने, व्यवस्थित रहने तथा विश्वसनीय बने रहने में अत्यधिक जोर देने लगते हैं। ऐसे लोग माता-पिता के 'गन्दे काम' के विरोध को न मानने को बहुत जोखिम- भरा समझने लगते हैं और माता-पिता द्वारा बनाए नियमों का पालन करने में ही भलाई समझने लगते हैं। ऐसे बच्चे अपने द्वारा उत्पन्न 'मल' को तो दूसरों के कहने पर छोड़ देते हैं परन्तु बाद के जीवन में अपने द्वारा उत्पन्न वस्तुओं यथा 'धन-सम्पत्ति' को पकड़कर रखते हैं और किसी दूसरे को उसे कदापि नहीं लेने देते हैं।

3. लैंगिक अवस्था (The Phallic Stage): 3 वर्ष से 6 वर्ष

लगभग 3 वर्ष से 6 वर्ष की आयु में बच्चे लैंगिक अवस्था में प्रवेश करते हैं। फ्रायड ने इस स्तर को बालिकाओं की तुलना में बालकों के सन्दर्भ में अधिक अच्छे तरीके से समझा है।

a. बालक का ओडिपस संकट (The Boy's Oedipus Crisis)- ओडिपस संकट बालक द्वारा अपने लिंग पर रुचि लेने से प्रारम्भ होता है। आसानी से उत्तेजित होने वाला, आकार में बदलने वाला और सनसनी से भरपूर यह अंग बालक के कौतुहल को प्रज्वलित कर देता है। बालक अपने लिंग की तुलना अन्य पुरुषों तथा जानवरों के लिंग से करने लगता है और वह लड़कियों और स्त्रियों के जननांगों को देखने के प्रयास करने लगता है। वह लिंग के प्रदर्शन से आनन्दित होने लगता है। वह बड़े होने पर अपनी काम सम्बन्धी (sexual) भूमिका की कल्पना करने लगता है। अपने कल्पना जगत (fantasy) में वह अपने को एक आक्रामक नायक पुरुष (aggressive, heroic male) के रूप में सोचता है और अपने विचारों को अपनी प्राथमिक प्रेम-वस्तु, अपनी माँ पर केन्द्रित करता है। वह अपनी माँ से विवाह करने की कल्पना करने लगता है। लेकिन बालक यह शीघ्र ही जान लेता है उसके ये विचार अनुचित माने जाते हैं। वह जान जाता है कि वह 'बड़ा बच्चा' (big boy) हो चुका है। यहाँ पर 'ओडिपस संकट' की रेखाएं खिंच जाती हैं। बालक अपने पिता को माँ के लिए प्यार में प्रतिद्वन्दी के रूप में देखने लगता है। पिता से ईर्ष्या होने पर भी वह पिता से प्यार करता है तथा उसे पिता की जरूरत होती है। अतः अपने विध्वंसकारी विचारों से स्वयं डर जाता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस स्थिति में बालक 'केसट्रेशन'(castration) की आशंका से ग्रस्त हो जाता है। 'ओडिपस संकट' से उबरने के लिए बालक माता के प्रति अपनी 'अगम्य गामी इच्छाओं' (incestuous desires) का दमन (repression) करता है। वह माँ के प्रति अपनी कामुक भावनाओं को गहरे अचेतन (unconscious) में धकेल देता है। वह अपनी माँ को अभी भी प्यार करता है। लेकिन ऐसा वह सामाजिक रूप से स्वीकृत शुद्ध-उद्दात रूप से करता है। पिता के प्रति विरोध का भी वह दमन करता है तथा उससे एकीकरण (identification) के लिए उसका जैसा बनने के प्रयास प्रारम्भ कर देता है।

‘ओडिपस संकट’ से अन्तिम रूप से निपटने के लिए बालक ‘परम अहम’ (super ego) का आत्मीकरण करता है। वह अपने माता-पिता के निषेधों (prohibitions) को आत्मीकृत करता है और स्वयं को एक ‘पुलिस वाले’ के रूप में देखता है जो उसे खतरनाक इच्छाओं तथा आवेगों से रोकता है।

b. बालिका का ओडिपस संकट (The Girl’s Oedipus Complex)- फ्रायड का विश्वास था कि एक छोटी बालिका के लिए भी ‘ओडिपस संकट’ होता है लेकिन उन्होंने स्वीकार किया कि इस सन्दर्भ में उनकी समझ अपूर्ण एवं अस्पष्ट है। उनके अनुसार 5 वर्ष की आयु के आसपास से बच्ची अपनी माँ से निराश हो जाती है। उसको लगता है वह माँ के प्यार से वंचित हो रही है। छोटे भाई या बहन के जन्म होने से उसे ऐसा लगने लगता है। वह माँ की बढ़ती हुई रोक-टोक से क्षुब्ध होने लगती है। अन्ततः उसे सर्वाधिक निराशा तब होती है जब उसे लगता है कि माँ ने उसे अपर्याप्त रूप से सज्जित (insufficiently equipped) कर इस दुनिया में भेजा है क्योंकि उसके पास लिंग नहीं है। फ्रायड ने इसे लिंग ईर्ष्या/डाह (penis envy) कहा- लिंग पाने की चाह तथा एक बालक के समान होने की इच्छा। लेकिन कुछ समय बाद यह छोटी बच्ची अपने नारी जातीय गर्व (feminine pride) को पुनः प्राप्त कर लेती है। ऐसा तब होता है जब वह पिता द्वारा उस पर ध्यान दिए जाने को महत्व देने लगती है। बच्ची की शैशवावस्था में हो सकता है कि पिता का उसके प्रति विशेष ध्यान न हो परन्तु अब पिता उसकी प्रशंसा करने लगते हैं- पिता उसे ‘मेरी छोटी राजकुमारी’ (my little princess) कहने लगते हैं। वास्तविक दुनिया में वह माँ को अपना प्रतिद्वन्दी मानने लगती है। इस ओडिपस स्थिति को फ्रायड ‘इलेक्ट्रा संकट’ (Electra complex) कहते हैं।

4. अव्यक्ता अवस्था (The Latency Stage): 06 वर्ष से 11 वर्ष

ओडिपस अनुभूतियों (Oedipus Feelings) के विरोध में दृढ़ बचाव निर्मित कर, बच्चा ‘अव्यक्ता अवस्था’ में प्रवेश करता है जो 06 वर्ष से 11 वर्ष तक होती है, अधिकांश कामुक और आक्रामक फंतासियां (sexual and aggressive fantasies) अब अव्यक्त रहती हैं। वे अचेतन मन में गहराई में दबा दी जाती हैं। इस समय कामुकता का दमन काफी व्यापक होता है- इस दमन में न केवल ओडिपस अनुभूतियां और स्मृतियां समाहित होती हैं वरन् मुखी और गुदीय अनुभूतियां और स्मृतियां भी होती हैं। खतरनाक आवेग और फंतासियां अब जमींदोज / भूमिगत (underground) होती हैं। इस समय बालक/बालिकाएं इनसे बहुत अधिक परेशान नहीं रहते हैं और यह अवस्था अपेक्षतया शांत होती है।

इस अवस्था में बालक-बालिकाएं अपनी ऊर्जाओं का मूर्त, सामाजिक रूप से स्वीकृत कार्यों यथा खेल-कूद तथा बौद्धिक क्रियाओं में उपयोग करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। कुछ फ्रायडवादियों का तर्क है कि कामुक और आक्रामक फंतासियां इस अवस्था में पूर्ण रूप से लुप्त नहीं होती हैं जैसा कि फ्रायड का मानना था। लेकिन वे भी यह मानते हैं कि काम-सम्बन्धी मामले अपना डरावना तथा

दुर्दमनीय स्वरूप खो चुके होते हैं। सामान्यता, अव्यक्ता अवस्था में बच्चे एक नया सुव्यवस्थित आत्म-नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं।

5. तारूण्य – जनन सम्बन्धी अवस्था (Puberty– The Genital Stage)

अव्यक्ता अवस्था का स्थित्व बहुत समय नहीं बना रहता है। नव- फ्रायडवादी इरिकसन इसे 'तूफान से पहले का सन्नाटा' (it is only a bull before the storm of puberty) कहते हैं। तारूण्य अवस्था में, जो बालिकाओं में लगभग 11 वर्ष से तथा बालकों में लगभग 13 वर्ष से प्रारम्भ होती है, काम-सम्बन्धी ऊर्जा (sexual energy) में वृद्धि हो जाती है और यह ऊर्जा स्थापित सुरक्षा कवचों को ध्वस्त सा कर देती है। इस अवस्था में ओडिपस अनुभूतियां पुनः चेतन स्तर पर आधमकती हैं और युवक/युवतियां इन अनुभूतियों को वास्तविक धरातल पर उतारने के लिए सक्षम भी हो जाते हैं।

तारूण्य अवस्था के चलते व्यक्ति का एक प्रमुख कार्य 'माता-पिता से स्वतन्त्र होना है', यहाँ पर यह उल्लेख करना समीचीन है कि यह अवधारणा पाश्चात्य संस्कृति के सन्दर्भ में कदाचित सही हो परन्तु भारतीय परिवेश में इसके पूर्णरूपेण ठीक होने में सन्देह होना सम्भवतः गलत नहीं है। जन्म से लेकर तारूण्य अवस्था तक मानव अपने माता-पिता पर मजबूत निर्भरता निर्मित कर लेता है और उसके लिए अपने माता-पिता से स्वतंत्र होना भावनाओं के दृष्टिकोण से कष्टकारी होता है। वास्तव में अधिकतर लोगों के लिए माता-पिता से पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र होना कभी भी सम्भव नहीं हो पाता है।

अभ्यास प्रश्न 1

1. मनोविश्लेषणवाद का सिद्धांत किसने प्रतिपादित किया है?.....
2. फ्रायड ने _____ को अपने शोध कार्य का केन्द्र बिन्दु बनाया।
3. ओडिपस संकट का प्रत्यय फ्रायड द्वारा अपनी किस पुस्तक में दिया गया?.....
4. फ्रायड द्वारा विकास की कितनी अवस्थाएं दी गई हैं?.....
5. फ्रायड द्वारा दी गयी विकास की अवस्थाओं के नाम लिखिए।.....
6. 18 माह से 03 वर्ष तक आयु के काल को फ्रायड ने कौन सी अवस्था कहा है?.....
7. कितने से कितने वर्ष के आयु काल को लैंगिक अवस्था कहा गया है?.....
8. ओडिपस संकट किस अवस्था विशेष से सम्बंधित है?.....

8.4 मन के अभिकरण

इस संदर्भ में फ्रायड ने तीन प्रत्ययों को प्रतिपादित किया है- इदम्, अहम् तथा परम अहम्।

i. इदम् (the Id)— फ्रायड ने प्रारम्भ में 'इदम्' को व्यक्तित्व का 'अचेतन' (unconscious) भाग कहा था। यह व्यक्तित्व का सर्वाधिक आदिम भाग है (the most primitive part of the personality) तथा मूल दैहिक प्रतिक्रियाएं तथा अंतर्नोद (the basic biological reflexes and drives) इसमें सन्निहित रहती हैं। इदम् 'आनन्द/सुख का सिद्धान्त' (Pleasure principle) से शासित रहता है। इसका उद्देश्य अधिकतम आनन्द/सुख की प्राप्ति तथा पीड़ा को न्यूनतम करना होता है। तनाव को कम करना इसका लक्ष्य होता है। फ्रायड के अनुसार लम्बे समय तक भूखा रहने के बाद भोजन की प्राप्ति तथा मल-मूत्र के देर तक बाधित होने के बाद इसके निष्कासन की क्रिया आनन्ददायक होती है।

सामान्यतया, इदम प्रत्येक उत्तेजना को दूर करने तथा शान्त स्थिति को प्राप्त करने का प्रयास करता है – यह स्थिति गहरी और शांत निद्रा की स्थिति होती है। जीवन में अनेक प्रभावों तथा आवेगों को हम 'इदम्' में दमित कर देते हैं और वे वहाँ मूल अंतर्नोदों के साथ अस्तित्व में बने रहते हैं। मन के इस अंधेरे और अगम्य भाग में ऐसा कुछ नहीं होता है जो तर्क पर आधारित हो तथा जहाँ समय का कोई भान हो। ये प्रभाव तथा आवेग एक प्रकार से अमर होते हैं तथा समय बीत जाने पर भी ऐसे प्रकट होते हैं मानो वे अभी घटित हुए हैं। इदम् महासागरीय, अस्तव्यस्त तथा असंगत (Oceanic, chaotic, and illogical) होता है। यह बाह्य जगत से पूर्णरूपेण असम्बद्ध होता है। इस रहस्यमय क्षेत्र के बारे में जानकारी सपनों के अध्ययन से प्राप्त होती है।

इदम् में मूल अंतर्नोद तथा प्रतिक्रियाओं के साथ-साथ दमित अनुभव तथा चित्र समाहित रहते हैं। इसके साथ ही इदम् में आक्रामकता तथा विध्वंसकारी शक्तियाँ भी सन्निहित रहती हैं।

ii. अहम् (The Ego)- यदि हम 'इदम्' से ही शासित रहेंगे तो हम लम्बे समय तक जीवित ही नहीं रह पाएँगे। अस्तित्व में बने रहने के लिए, पूर्ण रूपेण मतिभ्रम (Hallucinations) के आधार पर कार्य करने या केवल अपने आवेगों के अनुरूप कार्य करना सम्भव नहीं है। हमें वास्तविकता से सम्बन्ध रखना सीखना पड़ता है। उदाहरण के लिए, एक छोटा बच्चा जल्दी ही सीख जाता है कि जो कुछ सामने दिख रहा है वे सब खाद्य पदार्थ नहीं खाए जा सकते हैं। वह जान जाता है कि यदि वह किसी बड़े बच्चे की चॉकलेट को खा लेगा तो वह पिट भी सकता है। वह अभिकरण जो तात्कालिक आवेगों को टालना सिखाता है और वास्तविकता को समझना सिखाता है, वह अहम् (ego) कहलाता है।

फ्रायड के अनुसार जहाँ एक ओर इदम् अनियंत्रित (untamed) आवेग है, वहीं अहम् तर्क तथा लाभदायक समझ (reason and good sense) पर आधारित होता है। अहम् वास्तविकता का ध्यान रखता है अतः यह 'वास्तविकता सिद्धान्त' (reality principle) का अनुसरण करता है।

अंग्रेजी भाषा का 'ईगो' का दैनिक जीवन में उपयोग कुछ अलग तरीके से होता है। हम सुनते हैं कि उसका ईगो बहुत बड़ा है- big ego, जिसका तात्पर्य है कि उसकी स्व-धारणा (self-image) आडम्बरपूर्ण है। वास्तव में 'अहम्' (ego) कुछ निश्चित कार्यों से प्रदर्शित होता है जैसे- वास्तविकता

का सही अनुमान लगाना, आवेगों को नियंत्रित करना। 'स्वधारणा' व्यक्ति की उसके द्वारा बनाई गई छवि है और यह 'अहम्' से भिन्न है।

यद्यपि 'अहम्' अपने कार्य 'इदम्' से स्वतंत्र रहकर करता है, यह अपनी समस्त ऊर्जा 'इदम्' से ही प्राप्त करता है। फ्रायड ने 'अहम्' से 'इदम्' का सम्बन्ध घुड़सवार और घोड़े जैसा बताया है। घोड़ा इंजन ऊर्जा (locomotive energy) की आपूर्ति करता है तथा घुड़सवार को अधिकार प्राप्त होता है कि वह यात्रा के लक्ष्य को निर्धारित करे तथा घोड़े को उसी ओर ले जाए। लेकिन कभी-कभी यह भी होता है कि घुड़सवार की तमाम कोशिशों के बाद भी घोड़ा अपनी मर्जी से ही चलता है।

iii. परम अहम् (Super ego)- परम अहम् व्यक्तित्व की 'नियन्त्रण व्यवस्थाओं' (control systems) में से एक है। अहम् का कार्य इदम् के प्रचण्ड आवेगों को नियंत्रित कर प्राणी को नुकसान से बचाना है। एक छोटा बच्चा खाद्य पदार्थ को छीनकर खाने से पहले ठीक तरह से सुनिश्चित कर लेता है कि ऐसा करना वास्तव में सुरक्षित है या नहीं। लेकिन हम ऐसा केवल खतरे से बचने के लिए ही नहीं करते हैं, हम कुछ अन्य कारणों से भी ऐसा करते हैं। हम दूसरों की चीजों को इसलिए भी नहीं छीनते हैं कि ऐसा करना हमें अनैतिक लगता है। हमारे अच्छे और बुरे के बारे में निर्णय लेने के मानक हमारे द्वितीय 'नियन्त्रण व्यवस्था' से निर्मित होते हैं जिसे परम अहम् (super ego) कहा जाता है।

फ्रायड ने परम अहम् की विवेचना दो भागों में की है-

- **प्रथम भाग- विवेक (conscience)** - यह परम अहम् का दण्डात्मक (punitive), ऋणात्मक (Negative) तथा आलोचनात्मक (critical) भाग है। यह व्यक्ति को बताता है कि उसे क्या नहीं करना चाहिए तथा उस स्थिति में व्यक्ति को अपराध-बोध से दण्डित करता है जब व्यक्ति इस भाग की मांग की अवहेलना करता है।

- **द्वितीय भाग- अहम् आदर्श (Ego ideal)** - इस भाग में धनात्मक अभिलाषाएं (positive aspirations) सन्निहित रहती हैं। इसमें व्यक्ति के धनात्मक आदर्श, जैसे दयालु तथा निर्भीक बनने की इच्छाएं या न्याय तथा स्वतंत्रता के सिद्धांतों के प्रति समर्पण समाहित रहते हैं। तारुण्य अवस्था में ऐतिहासिक महापुरुषों जैसा बनने की इच्छा, अन्याय -असमानता के प्रति विद्रोह की भावना इसी भाग से संचालित होती है।

8.5 निहितार्थ (Implications)

फ्रायड बीसवीं शताब्दी के महान चिंतकों में से एक थे, यह सत्य है। साथ ही यह भी सत्य है कि किसी अन्य मनोवैज्ञानिक की तुलना में फ्रायड की सर्वाधिक कटु आलोचना भी हुई है। आज के दिन भी कई विद्वान फ्रायड के विचारों को लज्जाजनक (Scandalous) मानते हैं।

फ्रायड के विचारों ने जीवन के कई क्षेत्रों यथा विधि, व्यवसाय, कला, साहित्य, धर्म तथा शिक्षा को प्रभावित किया है। फ्रायड के शिक्षा सम्बन्धी विचार उतने अतिवादी नहीं हैं जितना कभी-कभी बताया जाता है। फ्रायड का विश्वास था सामाजिक व्यवस्थाएं कुछ मूल प्रवृत्तयात्मक व्यवहारों पर बलपूर्वक यथोचित नियन्त्रण का आग्रह अवश्य करेंगी। उन्होंने कहा था कि बच्चों को बाह्य जगत में जो कुछ वे करना चाहें वो करने की छूट नहीं दी जा सकती है। परन्तु उन्होंने यह भी कहा कि अनुशासन सामान्यतया अत्यधिक होता है, इससे बच्चे अपने शरीर से तथा उससे सम्बन्धित प्राकृतिक क्रियाओं से अनावश्यक रूप से शर्म और अपराध बोध का अनुभव करने लगते हैं। उनकी संस्तुति थी कि काम-शिक्षा (sex education) प्रदान करने का कार्य विद्यालय द्वारा किया जाना चाहिए जहाँ प्रकृति तथा जानवरों से सम्बन्धित पाठों द्वारा बच्चे प्रजनन के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकें। इससे बच्चे अपने बारे में आवश्यक निष्कर्ष स्वयं निकाल लेंगे। कुछ जोखिम भरे प्रयोगों को यदि छोड़ दिया जाए जो फ्रायड का प्रभाव शिक्षकों के विद्यार्थियों के प्रति सामान्य दृष्टिकोणों से परिलक्षित होता है। विद्यार्थी के अवांछित व्यवहार को अन्यवत अनुशासित करने के स्थान पर इस प्रकार के व्यवहार के सांवेगिक कारणों को समझने के प्रयत्न करना शिक्षकों पर फ्रायड का प्रभाव माना जा सकता है। जब शिक्षक एक विद्यार्थी के जीवन पर गहराई से विचार करते हैं तो वे जान सकते हैं कि एक क्रोधित या चिड़चिड़ा बच्चा शिक्षक से गुस्से में नहीं है वरन् वह अपने घर/परिवार की किसी स्थिति जैसे माता या पिता से अवहेलना के कारण कुण्ठित है।

शिक्षक यह भी जान सकते हैं कि किसी एक बच्चे का अत्यधिक शर्मीले होने का कारण बच्चे को कई वर्षों से वयस्कों की उपस्थिति में कमतरी का एहसास दिलाना रहा है। शिक्षक को यह भी पता चल सकता है कि आलसी किशोर वास्तव में काम (sex) के प्रति या सामाजिक असफलता के प्रति अन्तहीन तरीके से विचारमग्न हो या चिन्ता कर रहा हो।

इस प्रकार की समस्याओं के समाधान में शिक्षक सदैव सफल नहीं भी हो सकते हैं या वे यह भी सोच सकते हैं कि इस सन्दर्भ में बच्चों से विचार-विमर्श करने में सावधानी बरती जानी चाहिए क्योंकि कुछ मामलों में विद्यार्थियों को गोपनीयता की आवश्यकता भी हो सकती है। लेकिन विद्यार्थियों को समझने की बात से शिक्षक को मदद मिल सकती है। इससे शिक्षकों के पास विद्यार्थियों की तुरन्त आलोचना करने या उन्हें तुरन्त दण्डित करने के बजाय धैर्ययुक्त तथा उत्साहित करने वाली अभिवृत्ति निर्मित करने के लिए एक कारण मिल सकता है।

अभ्यास प्रश्न 2

1. इदम् (Id) _____ सिद्धान्त से शासित रहता है।
2. अहम् तर्क तथा लाभदायक समझ पर आधारित होता है। (सत्य/असत्य)
3. अहम् _____ का अनुसरण करता है।
4. किसी इच्छा या स्मृति के दमित होने पर क्या होता है?

8.6 सारांश

मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपादक सिगमंड फ्रायड हैं। यह सिद्धान्त मानव मन की आन्तरिक अनुभूतियों (Feelings), आवेगों (impulses) तथा स्वप्न-चित्रों (Fantasies) को समझने का प्रयास है। सिगमंड फ्रायड का मानना था कि बच्चे के विकास की प्रत्येक अवस्था का सीधा संबंध विशिष्ट आवश्यकताओं और माँगों से होता है, प्रत्येक अवस्था शरीर के एक विशेष हिस्से पर आधारित होती है और सभी यौन आधारित होती हैं। फ्रायड ने मानव व्यवहार के लिए गतिशील और मनोसामाजिक स्पष्टीकरण दिया। उन्होंने विकास के मनो-यौन अवस्थाओं का संप्रत्यय दिया। फ्रायड का मानना था कि प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की विशिष्ट आवश्यकता होती है और प्रत्येक अवस्था के दौरान उन आवश्यकताओं की संतुष्टि महत्वपूर्ण है।

फ्रायड के सिद्धान्त में 'सामान्य कामुक ऊर्जा' (general sexual energy) को 'लिबिडो' कहा गया है और शरीर के जिस हिस्से में यह ऊर्जा केन्द्रित होती है उसे कामोत्तेजक भाग (erogenous zone) कहा जाता है। शरीर का कोई भी हिस्सा कामोत्तेजक भाग बन सकता है लेकिन बाल्यावस्था में मुँह, गुदा तथा जननांग (the mouth, the anus, and the genital area) तीन सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग हैं। बालक/बालिका की काम सम्बन्धी रुचियाँ इन कामोत्तेजक भागों में एक निश्चित अवस्था क्रम (specific stage sequence) से केन्द्रित रहती हैं। बच्चों की प्रथम काम सम्बन्धी रुचि 'मुँह' पर केन्द्रित रहती है। इसके बाद यह रुचि 'गुदा' केन्द्रित हो जाती है और अन्ततः 'जननांग' पर केन्द्रित होती है।

8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. सिगमंड फ्रायड
2. हिस्टीरिया
3. इन्टरप्रिटेशन ऑफ ड्रीम्स/ Interpretation of Dreams
4. पांच
5. फ्रायड द्वारा दी गयी विकास की अवस्थाओं के नाम हैं-
 - a. मुखीय अवस्था
 - b. गुदा अवस्था
 - c. लैंगिक अवस्था
 - d. अव्यक्ता अवस्था
 - e. तारुण्य – जनन सम्बन्धी अवस्था
6. गुदा अवस्था

7. 3 वर्ष से 6 वर्ष की आयु
8. लैंगिक अवस्था

अभ्यास प्रश्न 2

1. लैंगिक अवस्था
2. सत्य
3. वास्तविकता का सिद्धान्त
4. किसी इच्छा या स्मृति के दमित होने पर वह अचेतन में समा जाता है।

8.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Mangal, S.K. (2007) Advanced Educational Psychology, New Delhi. Prentice Hall of India Private Limited.
2. शुक्ल ओ.पी. ;(2002) शिक्षा मनोविज्ञान, लखनऊ: भारत प्रकाशन।
3. सिंह, अरूण कुमार (2000) उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
4. चौहान, एस0 एस0 (2000) एडवान्सड एजुकेशनल साइकोलोजी, विकास पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
5. Mathur, S.S. (2007), Educational Psychology, Agra Vinod Pustak Mandir.

8.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. विकास के मनोविश्लेषणवादी सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।
2. सिगमंड फ्रायड के सिद्धांत के अनुसार मन के अभिकरणों का वर्णन कीजिए।
3. निम्नलिखित की व्याख्या खोज करके लिखें-
 - ओडीपस कॉम्प्लेक्स
 - इलेक्ट्रा कॉम्प्लेक्स
 - केस्ट्रेशन कॉम्प्लेक्स
 - पैनिंस ऐन्वी

इकाई 9: इरिक इरिक्सन का मनो-सामाजिक विकास का सिद्धान्त तथा अँल्वर्ट बँण्डुरा का सामाजिक अधिगम सिद्धांत

-
- 9.1 प्रस्तावना
 - 9.2 उद्देश्य
 - 9.3 इरिक्सन का मनोसामाजिक विकास सिद्धांत
 - 9.4 मनोसामाजिक सिद्धांत के निहितार्थ
 - 9.5 अँल्वर्ट बँण्डुरा का सामाजिक अधिगम सिद्धांत
 - 9.5.1 बँण्डुरा के सिद्धांत के मूल संप्रत्यय
 - 9.6 सामाजिक अधिगम सिद्धांत के निहितार्थ
 - 9.7 सारांश
 - 9.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
 - 9.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
 - 9.10 निबंधात्मक प्रश्न
-

9.1 प्रस्तावना

इरिक्सन (1902-1994) एक सिद्धांतकार थे, जिन्होंने फ्रायड के विवादास्पद मनोलैंगिक सिद्धांत को लिया और इसे विकास के मनोसामाजिक सिद्धांत में बदल दिया। इरिक्सन अपने विकास के मनोसामाजिक सिद्धांत (psychosocial development theory) और पहचान के संकट (Identity crisis) की अवधारणा के लिए जाने जाते हैं। इरिक्सन के विकास के सिद्धांत का केन्द्रीय तथ्य यह है कि मनोलैंगिक विकास के साथ ही मनोसामाजिक विकास की प्रक्रिया भी चलते रहती है। इरिक्सन ने बचपन की शुरुआती घटनाओं पर ही ध्यान केंद्रित करने के अलावा इस बात पर ध्यान दिया है कि किस प्रकार सामाजिक प्रभाव हमारे पूरे जीवनकाल में कैसे योगदान करता है। उन्होंने ऐसी आठ अवस्थाओं का उल्लेख किया है जिनसे होकर बालक का मनोसामाजिक विकास गुजरता है और उन आठों अवस्थाओं का बालक के विकास पर विशेष प्रभाव पड़ता है। इरिक्सन ने विकास में सामाजिक पक्ष को बहुत महत्वपूर्ण माना है और विकास की हर अवस्था विशेष से जुड़े उन सामाजिक तत्वों का विश्लेषण किया है जो बालक के व्यक्तित्व विकास पर प्रभाव डालते हैं। अपनी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक 'चाइल्डहुड एंड सोसाइटी' (Childhood and Society, 1950) में

इरिकसन ने जीवन की आठ अवस्थाओं को दर्शाया है और दिखाया है कि इन अवस्थाओं को कैसे विभिन्न संस्कृतियों ने अलग-अलग तरीकों से अपनाया है।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप-

- इरिकसन के मनोसामाजिक विकास के सिद्धांत की व्याख्या कर सकेंगे।
- विकास के मनोसामाजिक सिद्धांत की विभिन्न अवस्थाओं को स्पष्ट कर सकेंगे।
- इरिकसन द्वारा वर्णित अवस्थाओं की व्याख्या कर सकेंगे।
- मनोसामाजिक विकास के सिद्धांत के निहितार्थों का अपने शब्दों में वर्णन कर सकेंगे।
- अल्बर्ट बॅण्डुरा के सामाजिक अधिगम सिद्धांत की व्याख्या कर सकेंगे।
- सामाजिक अधिगम सिद्धांत के मूलभूत संप्रत्ययों को स्पष्ट कर सकेंगे।
- सामाजिक अधिगम सिद्धांत के निहितार्थों का वर्णन कर सकेंगे।

9.3 इरिकसन का मनोसामाजिक विकास सिद्धांत

इरिकसन का जन्म 1902 में फ्रैंकफर्ट, जर्मनी में दानिश माता-पिता के घर हुआ था, जो उनके पैदा होने से कुछ महीने पहले अलग हो गए थे। उनकी माँ ने तीन साल की उम्र तक अकेले इरिकसन का पालन-पोषण किया, फिर उन्होंने एक स्थानीय बाल रोग विशेषज्ञ डॉ॰होम्बर्गर से शादी की, जिन्होंने युवा इरिकसन को गोद लिया और उन्हें अपना नाम होम्बर्गर दिया।

इरिकसन (1963) नव-मनोविश्लेषणवादी, नव- फ्रायडवादी मनोवैज्ञानिक माने जाते हैं। परन्तु इनका मानना था कि विकास में जैविक कारकों की अपेक्षा सामाजिक कारकों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है। बच्चे को जीवन में जिस प्रकार की अनुभूतियां होंगी, वह उन्हीं के अनुरूप विकास भी करेगा। फ्रायड की तरह इरिकसन भी मानते हैं कि विकास की किसी एक अवधि में जो अनुभव होता है वह उसके आगामी विकास को भी प्रभावित करता है। इरिकसन इदम् की अपेक्षा अहम् को विकास के लिए अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। इरिकसन के अनुसार व्यक्तित्व मानसिक विकास के आठ अवस्थाओं के माध्यम से एक पूर्वनिर्धारित क्रम में विकसित होता है, शैशवावस्था से वयस्कता तक। प्रत्येक अवस्था के दौरान, व्यक्ति एक मनोसामाजिक संकट का अनुभव करता है जो व्यक्तित्व विकास के लिए सकारात्मक या नकारात्मक परिणाम हो सकता है। इरिकसन ने विकास को आठ अवस्थाओं में विभक्त किया है जो की निम्नवत हैं-

क्रम सं०	विकासात्मक अवस्थाएं	आयु वर्ग	इरिक्सन की सामान्य अवस्थाएं
1.	Infancy / शैशवावस्था	जन्म से 1½ वर्ष	Trust Vs. Mistrust आस्था बनाम अनास्था
2.	Early Childhood/ पूर्व बाल्यावस्था	1½ वर्ष से 3 वर्ष	Autonomy Vs. Shame & doubt स्वायतता बनाम सन्देह
3.	Preschool Age/ पूर्व विद्यालयी काल	4 से 5 वर्ष	Initiative Vs. Guilt पहल बनाम ग्लानि
4.	School Age / विद्यालयी काल	6 से 11 वर्ष	Industry Vs. Inferiority परिश्रम बनाम हीनता
5.	Adolescence / किशोरावस्था	12 से 18 वर्ष	Identity Vs. Role Confusion अस्तित्व बनाम भूमिका द्वन्द्व
6.	Young Adulthood / युवा वयस्कता	19 से 25 वर्ष	Intimacy Vs. Isolation आत्मीयता बनाम पार्थक्य
7.	Adulthood / वयस्कता	26 से 65 वर्ष	Generativity Vs. Stagnation उत्पादकता बनाम निष्क्रियता
8.	Old Age / वृद्धावस्था	65 वर्ष से ऊपर	Integrity Vs. Despair सत्यनिष्ठा बनाम निराशा

1. आस्था बनाम अनास्था (Trust Vs Mistrust)- यह अवस्था जन्म से डेढ़ वर्ष की आयु तक रहती है, इस अवस्था में बालक परिवार में रहता है, उसका सामाजिक परिवेश सीमित रहता है। प्यार मिलने के कारण उसकी माता-पिता के प्रति आस्था का विकास होता है। यदि प्यार नहीं मिला तो अनास्था का विकास होगा तथा इस अविश्वास (अनास्था) के साथ ही अगली अवस्था में प्रवेश करेगा। अपने माता- पिता या देख रेख करने वालों के साथ अंतःक्रिया के दौरान बच्चे उनके चाल चलन, गतिविधियों में कुछ स्थिरता, पूर्वानुमान और विश्वसनीयता पाते हैं। जब उन्हें लगता है कि माता-पिता सुसंगत और भरोसेमंद हैं, तो वे माता-पिता के प्रति बुनियादी विश्वास की भावना विकसित करते हैं और सीखते हैं कि माता-पिता भरोसेमंद हैं और विश्वास करने योग्य हैं। ठीक इसके विपरीत अविश्वास की भावना है, जिसमें बच्चा यह महसूस कर सकता कि माता-पिता अप्रत्याशित और अविश्वसनीय हैं, और जरूरत पड़ने पर हमारे साथ नहीं हो सकते हैं।

2. स्वायत्तता बनाम सन्देह (Autonomy Vs Shame & Doubt)- यह अवस्था डेढ़ से 03 वर्ष तक की अवधि तक रहती है। इस आयु में पर्यावरण के प्रति जिज्ञासा का विकास होता है। बालक में आत्म-नियंत्रण एवं इच्छा-शक्ति का तीव्र विकास होने लगता है। प्यार मिलने पर बालक में आत्मनियंत्रण एवं इच्छा शक्ति का तीव्र विकास होने लगता है। प्यार मिलने पर बालक में आत्मविश्वास बढ़ता है। दण्डित किये जाने पर शर्महीनता तथा निराशा का विकास होता है। मजाक बनाने पर उसे अपनी क्षमता पर सन्देह होने लगता है। इस अवस्था में बच्चे को एक और महत्वपूर्ण बात सामना करना पड़ता है या तो स्वायत्तता की भावना का विकास या संदेह की भावना, जिसके साथ वह दुनिया का सामना करेगा। बच्चा खुद के लिए चीजें करने के लिए अपनी क्षमताओं के बारे में बुनियादी भावनाएं बनाता है। इस संकल्प में माता-पिता भी महत्वपूर्ण हैं। यदि वे बच्चे के लिए सब कुछ करते हैं, उसके अन्वेषणों को रोकते हैं, या बहुत अधिक दंड देते हैं, तो वह अपनी क्षमताओं पर संदेह करते हुए इस चरण को छोड़ सकता है।

3. पहल बनाम ग्लानि (Initiative Vs Guilt)- यह अवस्था 4 से 5 वें वर्ष की होती है इसमें बालक का सामाजिक दायरा बढ़ता है। उसके परिवेश में वृद्धि होती है। इस अवस्था में कुछ करने की अभिलाषा तथा जिम्मेदारी की भावना का विकास होता है। कार्य में सफलता मिलने पर प्रशंसा मिलती है। बच्चे में पहल करने की भावना का विकास होता है। निन्दा करने पर वह स्वयं को दोषी ठहराता है। यदि उसे असफलता पर निन्दा मिलती है तो वह काम की तरफ से मन चुराने लगता है। अतः इस आयु में असफलता का भान नहीं होने देना चाहिये। 4 से 5 साल की उम्र में पहल की भावना (या अपराध बोध, अगर पहल का समर्थन नहीं किया जाता है) के निर्माण का काम होता है। बालक यहाँ उस स्तर पर पहुंच गया है जहाँ अब वह अपने लिए कई गतिविधियों पर निर्णय ले सकता है। दूसरे लोग बालक के सवाल, उसकी गतिविधियों पर कैसी प्रतिक्रिया करते हैं, वही बालक के भीतर पहल व ग्लानि की भावना का विकास करती है।

4. परिश्रम बनाम हीनता (Industry Vs Inferiority)- यह अवस्था 6 से 11 वर्ष तक मानी जाती है।

6 से 11 वर्ष की आयु के दौरान, प्राथमिक विद्यालयी वर्ष, बच्चे में निपुण तर्क और नियमों के अनुसार खेल खेलने की क्षमता विकसित होती है। परिश्रम का तात्पर्य यह इस बात से है कि बच्चा इस बात में रुचि दर्शाता है कि चीजें कैसे काम करती हैं और हीनता इंगित करती है कि उनके कौशल और क्षमता अपर्याप्त या निराशाजनक हैं। जिन बच्चों को चीजों को बनाने, परियोजनाओं को पूरा करने, मित्रता स्थापित करने और स्वयं के लिए नई रुचियों की खोज करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, वे अपनी उत्पादकता का आनंद ले रहे होते हैं। लेकिन अगर उन्हें कहीं भी सफलता नहीं मिलती है, तो स्कूल के कामों में रुचि, खेल, परियोजनाओं या यहां तक कि मित्रता में उनको नुकसान हो सकता है या असफलता मिल सकता है। पूर्व अवस्था में यदि बालक को असफलता मिली होती है

तो वह हीनता के भाव से ग्रस्त हो जाता है तथा कार्य से बचने की प्रक्रिया अपनाता है। उसे प्रोत्साहन देकर कार्य में आगे बढ़ने की प्रेरणा देनी चाहिये ताकि वह एक सामाजिक प्राणी बन सके।

5. अस्तित्व बनाम भूमिका द्वन्द्व (Identity Vs Role Confusion) - यह अवस्था 12 से 18 वर्ष तक की आयु तक मानी जाती है। इसमें व्यक्ति अपनी पहचान बनाना चाहता है। 'पहचान' एक सामान्य तस्वीर है जो स्वयं की है और यह एक ऐसी अवस्था है जिसके लिए व्यक्ति प्रयास करता है। पहचान का गठन करना एक आजीवन प्रक्रिया है और पहचान की समस्या किशोरावस्था में अपने संकट (crisis) तक पहुँचती है। इस समय इतने सारे आंतरिक परिवर्तन हो रहे होते हैं, और भविष्य की प्रतिबद्धता के संदर्भ में बहुत कुछ दांव पर होता है। किशोर अपना लक्ष्य निर्धारित करता है। यदि वह असफल होता है तो वह द्वन्द्व की स्थिति में आ जाता है उससे उनमें कर्तव्य परायणता तथा निष्ठा का भाव अवरोधित हो जाता है।

6. आत्मीयता बनाम पार्थक्य (Intimacy Vs Isolation) - यह अवस्था 19 से 25 वर्ष की आयु तक रहती है, युवा वयस्कता प्रेमालाप और प्रारंभिक पारिवारिक जीवन के वर्षों की अवस्था है। इस स्तर पर किए जाने वाले समायोजन को शास्त्रीय मनोविश्लेषकों द्वारा काफी हद तक अनदेखा किया गया है- इसमें अंतरंगता और अलगाव के आयाम शामिल हैं। इरिकसन जिस अंतरंगता की बात करते हैं वह यौन अंतरंगता से अधिक भिन्न है। यह अंतरंगता अपनी पहचान को खोने से भय मुक्त होकर, दूसरे के साथ खुद को साझा करने की क्षमता है। इस आयाम को स्थापित करने में एक व्यक्ति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है की उसने अपने पिछले पांच चरणों का किस प्रकार समाधान किया है। इस अवस्था में मित्रता, प्रतिस्पर्धा तथा सहयोग की भावना बढ़ती है। परन्तु निराशा, असफलता, हीनता एवं द्वन्द्व होने पर एकाकीपन की प्रवृत्ति विकसित होती है। समायोजन तथा उपलब्धि निम्नस्तर की हो जाती है।

7. उत्पादकता बनाम निष्क्रियता (Productivity vs Inaction)- इस अवस्था का विस्तार 26 से 65 वर्ष तक होता है। यह अवस्था मानव जीवन की मध्यावस्था होती है। यह अवस्था स्वयं के स्वास्थ्य, जरूरतों, आराम का ध्यान रखने या दूसरों के लिए चिंता के बीच चुनाव की अवस्था है। इसमें व्यक्ति के (सामाजिक, पारिवारिक, व्यक्तिगत) दायित्व बढ़ते हैं, जिससे क्षमता विभाजित हो जाती है। समाज तथा परिवार विभिन्न प्रकार की अपेक्षाएं करते हैं। यदि वह अपने दायित्व का ठीक प्रकार पालन नहीं करता तो उसका व्यक्तित्व कुंठित हो जाता है। यह वह अवस्था है जब परिवार की इकाई फैलने लगती है। माता-पिता अपने विषय में सोचने के लिए खुद को अधिक स्वतंत्रता पाते हैं। इस नई स्वतंत्रता का उपयोग अपने हितों के लिए या बाहरी कामों में भागीदारी करने के लिए इस्तेमाल करना इस अवस्था विशेष का विकासात्मक कार्य (developmental task) है।

8. सत्यनिष्ठा बनाम निराशा (Integrity Vs Despair)- इस अवस्था का प्रारम्भ 65 वर्ष की आयु से जीवन के अन्त तक रहता है। मनोसामाजिक विकास की आठवीं और अंतिम अवस्था में व्यक्ति तेजी से वृद्धावस्था की ओर बढ़ रहा होता है। उसे अपनी उपलब्धियों तथा अपना अतीत बार-बार याद आता है और वह अपना स्वमूल्यांकन करने लगता है। यदि वह पाता है कि वह विकास की पिछली अवस्थाओं में पर्याप्त मात्रा में विश्वास (Trust), स्वायत्तता (Autonomy), अस्तित्व (Identity), आत्मीयता (Intimacy) आदि के भाव विकसित कर चुका है और समाज के प्रति अपना सम्पूर्ण योगदान दे चुका है तो वह जीवन की इस अंतिम अवस्था को पूरे उत्साह के साथ जीता है। यदि वह असफल रहा है तो उसका आगामी जीवन निराशा तथा चिन्ता के द्वारा कष्टमय बन जाता है।

इरिक्सन के आठ विकास चरणों में से प्रत्येक के दौरान, दो परस्पर विरोधी विचारों को सफलतापूर्वक हल किया जाना चाहिए ताकि किसी व्यक्ति को समाज का एक विश्वसनीय सदस्य बनाया जा सके। इन कार्यों को करने में विफलता अपर्याप्तता की भावनाओं को जन्म देती है। इरिक्सन का मनोसामाजिक सिद्धांत आठ जीवन अवस्थाओं के माध्यम से एक व्यक्ति को अपने जैविक और समाजशास्त्रीय पक्षों के साथ अंतःक्रिया करने के एक प्रक्रिया के रूप में आगे बढ़ाता है। प्रत्येक अवस्था दो परस्पर विरोधी ताकतों के एक मनोसामाजिक संकट की विशेषता है। यदि कोई व्यक्ति वास्तव में इन संकटों का सफलतापूर्वक समाधान लेता है (प्रत्येक अवस्था में पहले बताई गई विशेषता का पक्ष लेते हुए), तो वे इसी गुण के साथ उस अवस्था विशेष में उभरते हैं। उदाहरण के लिए, यदि बालक अधिक विश्वास के साथ स्वायत्तता और संदेह की अवस्था में प्रवेश करता है, तो वे जीवन की बाकी अवस्थाओं में आशा विश्वास के गुण के साथ प्रवेश करेगा।

इरिक्सन के सिद्धान्त में एक बात बहुत महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति को असफलता का मुंह न देखना पड़े, उसे निरन्तर प्रोत्साहन, प्रेम, सहानुभूति मिलती रहे तो व्यक्तित्व का उचित विकास होता है। यह जानकारी अध्यापकों के लिये विशेष महत्वपूर्ण है कि वे बच्चों को निरन्तर प्रोत्साहित करते रहें तथा उन्हें प्रेरणा प्रदान करते रहे।

9.4 मनोसामाजिक सिद्धांत के निहितार्थ

इरिक्सन का सिद्धांत शिक्षाविदों तथा अभिवावकों दोनों के लिए महत्वपूर्ण है। यह बच्चे को सीखने में मदद करने तथा सीखने हेतु उचित अवसर प्रदान करने हेतु महत्वपूर्ण है। इरिक्सनके मनोसामाजिक सिद्धांत के निहितार्थ निम्नवत हैं -

- i. माता- पिता को अपने बच्चों को ऐसा वातावरण देना चाहिए जिससे कि उनके अन्दर विश्वास की भावना सृष्ट हो।
- ii. माता- पिता को चाहिए के वे बच्चों को अपने को अभिव्यक्त करने के पर्याप्त अवसर प्रदान करें।

iii. अवस्था विशेष को ध्यान में रखने हुए बच्चों को खुद कर के सीखने तथा खुद से चीजों को बनाने हेतु प्रोत्साहित किया जाए, जिससे की बच्चों के भीतर परिश्रम करने, वस्तुओं का उत्पादन कर के अपनी पहचान बनाने के इच्छाशक्ति उत्पन्न हो।

iv. एक शिक्षक बच्चे के मनोसामाजिक विकास को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है; इसलिए एक शिक्षक को विशेष रूप से बच्चों के बारे में और अपने छात्रों के बारे में कई बातें पता होनी चाहिए।

v. शिक्षक को यह समझने की आवश्यकता है कि प्रत्येक छात्र अपने तरीके से, अपने गति पर और अपने समय में सीखता है और सीखने की यह प्रक्रिया सामाजिक, शारीरिक और व्यक्तिगत कारकों पर आधारित है।

vi. शिक्षक के लिए यह जानना अति आवश्यक है कि प्रत्येक छात्र अवस्था विशेष विकासात्मक कार्यों की उपलब्धि में कहाँ तक पहुंचा है। यदि कोई छात्र अपेक्षित विकासात्मक स्तर से नीचे पाया जाता है, तो एक शिक्षक होने के नाते आप माता-पिता, अन्य शिक्षकों और स्कूल कर्मियों के साथ बच्चे की जरूरतों पर चर्चा कर सकते हैं।

vii. एक शिक्षक को सभी छात्रों के विकासात्मक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, प्रत्येक पाठ के लिए विशिष्ट उद्देश्य और लक्ष्य निर्धारित करने की आवश्यकता है साथ ही जरूरत पड़ने पर बच्चे की सहायता करने के लिए उपयुक्त रणनीतियों बना सकते हैं।

viii. बच्चों को विभिन्न प्राकृतिक, सरल सामग्रियों के खेलने के अवसर प्रदान किए जा सकते हैं तथा बच्चे को अपनी कल्पना की अभिव्यक्ति के लिए अलग-अलग भूमिका निभाने से सम्बंधित खेल खेलने के अवसर देने चाहिए।

ix. बाल-निर्देशित गतिविधियों को प्रोत्साहित करना चाहिए जहाँ बच्चा अपनी गतिविधि को स्वयं चुन सके। यह बच्चे को पहल दिखाने और जिम्मेदारी लेने के लिए एक अवसर के रूप में कार्य करता है।

x. अधिकांश विकासात्मक मनोवैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि विभिन्न जीवन-संकटों का सफल और सौहार्दपूर्ण समाधान और अंततः ego identity का निर्माण मुख्य रूप से निम्नलिखित पर निर्भर करता है-

- किस प्रकार बच्चे के जैविक माता-पिता तथा देखभाल करने वालों द्वारा बच्चे की शैशवावस्था, बाल्यावस्था और किशोरावस्था के दौरान देखभाल की गयी है।
- किसी व्यक्ति द्वारा प्राप्त स्कूली शिक्षा - पूर्वप्राथमिक, प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की मात्रा व गुणवत्ता।
- जन्म से लेकर किशोरावस्था तक बच्चे को उपलब्ध समाजीकरण या सामाजिक वातावरण।

अभ्यास प्रश्न 1

1. विकास का मनोसामाजिक सिद्धांत _____ द्वारा प्रतिपादित किया गया है।
2. मनोसामाजिक सिद्धांत में मानव जीवन को विकास की कितनी अवस्थाओं के बांटा है ?
3. मनोसामाजिक सिद्धांत की सभी अवस्थाओं की नाम लिखिए।
4. इरिक्सन के सिद्धांत में डेढ़ से तीन वर्ष की आयु की अवस्था का क्या नाम है?
5. पहल बनाम ग्लानि (Initiative Vs. Guilt) अवस्था किस आयु वर्ग से संबंधित है?
6. इरिक्सन नव- फ्रायडवादी थे। (सत्य/ असत्य)
7. इरिक्सन ने 1950 में _____ नाम की पुस्तक लिखी।
8. 65 वर्ष से आगे की अवस्था का अवस्था विशेष संकट क्या है?

9.5 अल्बर्ट बॅण्डुरा का सामाजिक अधिगम सिद्धांत

अल्बर्ट बॅण्डुरा एक प्रभावशाली सामाजिक संज्ञानात्मक मनोवैज्ञानिक हैं, वह सामाजिक अधिगम सिद्धांत और उनके प्रसिद्ध बोबो डॉल प्रयोगों की अवधारणा के लिए प्रसिद्ध हैं। बॅण्डुरा, स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय में एक प्रोफेसर एमेरिटस हैं और वर्तमान में महानतम जीवित मनोवैज्ञानिकों में से एक हैं। 2002 में एक सर्वेक्षण के अनुसार बी.एफ.स्किनर, सिगमंड फ्रायड, और ज्यां पियाजे के बाद उन्हें बीसवीं सदी का चौथा सबसे प्रभावशाली मनोवैज्ञानिक घोषित किया गया। 1963 में बॅण्डुरा और वाल्टर्स ने अपनी पुस्तक "Social learning and personality development" व्यक्तित्व विकास में वातावरण की भूमिका को स्पष्ट किया। उन्होंने इस तथ्य को उजागर किया कि बालक अधिकांश व्यवहारों को सामाजिक परिस्थितियों में सीखता है। इस सिद्धांत का केन्द्रीय तथ्य यह है कि बालक का विकास मुख्य रूप से उसके सामाजिक अधिगम का परिणाम होता है। सामाजिक अधिगम में व्यक्ति के सामाजिक परिवेश की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। सामाजिक परिस्थितियों में बालक कैसे सीखता है, इस दिशा में बॅण्डुरा द्वारा किए गए अध्ययन और उनके द्वारा दिया गया सिद्धांत विकासात्मक मनोविज्ञान में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

सामाजिक अधिगम सिद्धांत का मानना है कि लोग एक दूसरे को देखकर, उनकी नकल कर के और मॉडलिंग के माध्यम सीखते हैं। बालक अपने माता-पिता, भाई-बहन, पड़ोसियों, साथियों और शिक्षकों के व्यवहारों का अवलोकन करता है तथा भविष्य में उसे दोहराने की कोशिश करता है। सामाजिक अधिगम सिद्धांत को अक्सर व्यवहारवादी और संज्ञानात्मक सीखने के सिद्धांतों के बीच एक पुल कहा जाता है क्योंकि यह सिद्धांत ध्यान, स्मृति और प्रेरणा को सम्मिलित करता है। सामाजिक अधिगम एक अत्यंत सरल प्रक्रिया है। बालक को किसी व्यस्क व्यक्ति या आपने साथियों को ध्यानपूर्वक देखना होता है, उनका अवलोकन करना होता है। सामाजिक अनुकरण के

अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। घर के अंदर बच्चे अपने माता-पिता के व्यवहारों का अनुकरण करते हैं। लड़के या लड़की की भांति आचरण करना सीखते हैं। टेलीविजन के कार्यक्रमों से अनेक कौशल सीखते हैं, बच्चे नायक-नायिकाओं की तरह कपड़े पहनना, हाव-भाव बनाना सीखते हैं यहाँ तक की बच्चे आक्रामक व्यवहार, गुस्सा करना, लड़ाई झगड़ा करना आदि भी दूसरों से सीखते हैं।

10.4.1 बँडुरा के सिद्धांत के मूल संप्रत्यय

बँडुरा ने अपने सामाजिक अधिगम सिद्धांत में कई संप्रत्ययों का प्रयोग किया है। यह संप्रत्यय उनके सिद्धांत को समझाने में सहायक सिद्ध हुए हैं। उनके सिद्धांत के कुछ प्रमुख संप्रत्यय निम्नवत हैं-

- i. अवलोकन (Observation)
- ii. अनुकरण (Imitation)
- iii. मॉडलिंग (Modeling)

लोग दूसरों के व्यवहार और उन व्यवहारों के परिणामों को देखकर सीखते हैं। बँडुरा के अनुसार अधिकांश मानव व्यवहार को मॉडलिंग के माध्यम से अवलोकन करके सीखा जाता है: दूसरों को देखने से पता चलता है कि किस व्यवहार कैसे किए जाते हैं और बाद में यही जानकारी कई अवसरों में मार्गदर्शक के रूप में कार्य करती है। सामाजिक अधिगम सिद्धांत संज्ञानात्मक, व्यवहारिक और वातावरणीय प्रभावों के बीच निरंतर पारस्परिक संपर्क के संदर्भ में मानव व्यवहार की व्याख्या करता है।

सामाजिक परिस्थितियों में जिस भी व्यक्ति के व्यवहार का अवलोकन और अनुकरण किया जाता है उसे बँडुरा ने मॉडल की संज्ञा दी है। किसी व्यक्ति या मॉडल के व्यवहार को ध्यानपूर्वक देखना और उसको मस्तिष्क ले संचित करना अवलोकन (Observation) की प्रक्रिया है। अवलोकन किए गए व्यवहार को मूल रूप से दोहराना अनुकरण (Imitation) है। किसी व्यक्ति या मॉडल का अनुकरण करके उसी के अनुरूप बनना या उसकी विशेषताओं को अपने भीतर विकसित करना मॉडलिंग है। मॉडलिंग मात्र अनुकरण की नहीं उसके आगे की प्रक्रिया है। बँडुरा के अनुसार सामाजिक अधिगम या मॉडलिंग के अनके लाभ होते हैं।

प्रभावी मॉडलिंग के लिए आवश्यक प्रक्रियाएं

i. ध्यान (Attention)- किसी व्यक्ति या मॉडल का अनुकरण करके सफलतापूर्वक सीखने हेतु व्यक्ति विशेष पर ध्यान देना आवश्यक है। ध्यान देने से उसके व्यवहार की विशेषताओं को, बारीकियों को पहचाना जा सकता है। विभिन्न कारक ध्यान देने की मात्रा में वृद्धि या कमी करते हैं। किसी व्यक्ति या मॉडल पर ध्यान देना अधिक सरल हो जाता है यदि उस मॉडल में विशिष्टता, भावात्मकता, व्यापकता, जटिलता, कुछ नयापन मौजूद हो और वह अपने व्यवहार को प्रभावशाली

ढंग से प्रदर्शित कर रहा हो। अनुकरण करने वाली की विशेषताएं जैसे संवेदी क्षमता, उत्तेजना स्तर, आदि ध्यान को प्रभावित करते हैं।

ii. प्रतिधारण/ संचय करना या याद रखना (Retention)- मॉडल के व्यवहार के अनुकरण तथा मॉडलिंग के लिए ध्यान के साथ साथ संचय या याद रखने की क्रिया भी आवश्यक है। व्यवहार को अच्छी तरह याद करना इसलिए आवश्यक होता है जिससे की उस व्यवहार का अनुकरण किया जा सके और उसकी पुनरावृत्ति की जा सके। अवलोकित व्यवहार के जो अंश हमारे ध्यान से हट जाते हैं या जिन्हें हम याद नहीं रख पाते है वो हमारी पुनरावृत्ति में बाधक बनते हैं। इसलिए यह महत्वपूर्ण है कि व्यवहार को अवलोकनकर्ता द्वारा जल्दी ही प्रदर्शित किया जाए। अधिकांश सामाजिक अधिगम तात्कालिक नहीं होता है , इसलिए यह प्रक्रिया उन मामलों में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है जहाँ सीखे गए व्यवहार का प्रदर्शन तत्काल संभव नहीं है।

iii. क्रियात्मक पुनरावृत्ति (Motoric Reproduction)- अवलोकित व्यवहार को सीखने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी पुनरावृत्ति की जाए। क्रियात्मक पुनरावृत्ति मॉडल द्वारा किए गए व्यवहार को करने की, दोहराने की क्षमता है। हम प्रतिदिन कई प्रकार के व्यवहार देखते हैं जिनकी हम नकल करना चाहते हैं लेकिन यह हमेशा संभव नहीं है। कई बार हम सीखे हुए, देखे हुए, याद किए हुए व्यवहार को प्रदर्शित करना चाहते हैं लेकिन हम अपनी शारीरिक क्षमताओं के कारण बाध्य होते हैं और सीमित भी। इस वजह से भी हम वह व्यवहार चाहते हुए भी नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार की बाध्यता या सीमाएं हमारे निर्णयों को प्रभावित करती हैं कि हमें क्या करने की कोशिश करनी है और किस चीज का अनुकरण करना है नकल करना है। उदाहरण के लिए एक 80 वर्षीय महिला की कल्पना करें, जो चलने के लिए तक संघर्ष कर रही है क्या उस महिला के लिए मार्शल आर्ट्स का प्रदर्शन कर पाना संभव है। वह मार्शल आर्ट्स के कौशल की सराहना कर सकती है, लेकिन वह इसका अनुकरण करने का प्रयास नहीं करेगी क्योंकि वह शारीरिक रूप से ऐसा नहीं कर सकती है।

iv. अभिप्रेरणा (Motivation)- व्यवहार करने की इच्छाशक्तियां अनुकरण करने की इच्छा ही अभिप्रेरणा है। किसी व्यवहार का पालन करने पर मिलने वाले पुरस्कार या दण्ड को अवलोकनकर्ता द्वारा ध्यान में रखकर की किसी व्यवहार का अनुकरण किया जाएगा। यदि व्यवहार की पुनरावृत्ति करने से मिलने वाला प्रोत्साहन, पुरस्कार या लाभ की गयी मेहनत से कम होने की दशा में अवलोकनकर्ता द्वारा ऐसे व्यवहार के नकल करने की संभावना को कम कर देगा और इसके विपरीत यदि अनुकरण करने के लाभ अधिक हो तो अवलोकनकर्ता द्वारा व्यवहार की नकल करने की अधिक संभावना होगी।

सामाजिक अधिगम सिद्धांत ने सीखने के व्यवहारात्मक एवं संज्ञानात्मक सिद्धांतों को एकीकृत किया जिससे कि सीखने के अनुभवों की एक विस्तृत श्रृंखला का एक व्यापक मॉडल प्रदान किया जा सके। इस सिद्धांत के प्रमुख आयाम हैं-

- सीखना विशुद्ध रूप से व्यवहार नहीं है बल्कि, यह एक संज्ञानात्मक प्रक्रिया है जो एक सामाजिक संदर्भ में होती है।
- सीखना किसी व्यवहार को देखने से और व्यवहार के परिणामों को देखने से हो सकता है।
- अवलोकन करना, उन अवलोकनों से सूचना प्राप्त करना और उस अवलोकित व्यवहार का प्रदर्शन संबंधी निर्णय लेना (मॉडलिंग) अधिगम में शामिल है।
- प्रबलन सीखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है लेकिन सीखने के लिए पूरी तरह से जिम्मेदार नहीं है।
- सीखने वाला जानकारी का निष्क्रिय प्राप्तकर्ता नहीं है। अनुभूति, पर्यावरण और व्यवहार सभी परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

9.6 सामाजिक अधिगम सिद्धांत के निहितार्थ

सामाजिक अधिगम या मॉडलिंग के निहितार्थ निम्नवत हैं-

- सीखे हुए नए व्यवहार को मूलरूप से संपन्न कर पाना।
- बच्चों में वांछनीय व्यवहार को बढ़ावा देने तथा अवांछनीय व्यवहार की रोकथाम के लिए मॉडलिंग और अनुकरण सहायक हो सकते हैं।
- अवलोकन से शिक्षार्थियों के ज्ञान, प्रतिधारण और जीवन कौशल को बढ़ाने में मदद मिलती है।
- सामाजिक अधिगम का एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि कुछ बालक किन्हीं कारणों से कुछ कार्यों को करने का साहस नहीं कर पाते हैं लेकिन दूसरे लोगों द्वारा वही कार्य किए जाने पर वे भी उस कार्य को करने की पहल करते हैं।
- मॉडलिंग नए व्यवहार को सिखाने के लिए एक तेज, आसान और प्रभावी विकल्प हो सकता है। हालांकि, मॉडलिंग के माध्यम से प्रभावी अधिगम को प्राप्त करने के लिए, चार आवश्यक शर्तें मौजूद होनी चाहिए ध्यान, प्रतिधारण/ संचय करना या याद रखना, क्रियात्मक पुनरावृत्ति, अभिप्रेरणा।
- कक्षा-कक्ष में वांछनीय व्यवहार तथा अवांछनीय व्यवहार से जुड़े पुरस्कार व दण्ड के विषय में चर्चा में बच्चों को समिलित कर अधिगम प्रक्रिया को सुगम बनाया जा सकता है।
- शिक्षकों को विद्यार्थियों के सम्मुख कई अन्य मॉडलों को प्रस्तुत करना चाहिए जिससे कि विद्यार्थी उसका अनुकरण कर के सीखें। यह तकनीक पारंपरिक रूढ़ियों को तोड़ने के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

viii. माता- पिता और शिक्षकों को प्रयास करना चाहिए के वे सकारात्मक एवं बच्चों से वांछनीय व्यवहार को स्वयं प्रदर्शित करें।

अभ्यास प्रश्न 2

1. बॅण्डुरा और वाल्टर्स की पुस्तक का नाम _____ लिखिए।
2. बॅण्डुरा द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत का क्या नाम है?
3. बॅण्डुरा के सिद्धांत के प्रमुख संप्रत्य कौन से हैं?
4. किसी व्यक्ति या मॉडल का अनुकरण करके सफलतापूर्वक सीखने हेतु _____ सबसे आवश्यक है।
5. व्यवहार करने की इच्छाशक्ति या अनुकरण करने की इच्छा ही _____ है।

9.7 सारांश

इरिक्सन (1902-1994) एक सिद्धांतकार थे, जिन्होंने फ्रायड के विवादास्पद मनोलैंगिक सिद्धांत को लिया और इसे विकास के मनोसामाजिक सिद्धांत में बदल दिया। इरिक्सन अपने विकास के मनोसामाजिक सिद्धांत (psychosocial development theory) और पहचान के संकट (Identity crisis) की अवधारणा के लिए जाने जाते हैं। इरिक्सन के विकास के सिद्धांत का केन्द्रीय तथ्य यह है कि मनोलैंगिक विकास के साथ ही मनोसामाजिक विकास की प्रक्रिया भी चलते रहती है। इरिक्सन ने बचपन की शुरुआती घटनाओं पर ही ध्यान केंद्रित करने के अलावा इस बात पर ध्यान दिया है कि किस प्रकार सामाजिक प्रभाव हमारे पूरे जीवनकाल में कैसे योगदान करता है। उन्होंने ऐसी आठ अवस्थाओं का उल्लेख किया है जिनसे होकर बालक का मनोसामाजिक विकास गुजरता है और उन आठों अवस्थाओं का बालक के विकास पर विशेष प्रभाव पड़ता है। इरिक्सन (1963) भी नव-मनोविश्लेषणवादी रहे हैं। परन्तु इनका मानना था कि विकास में जैविक कारकों की अपेक्षा सामाजिक कारकों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है। बच्चे के जीवन में जिस प्रकार की अनुभूतियां होंगी, वह उन्हीं के अनुरूप विकास भी करेगा। फ्रायड की तरह इरिक्सन भी मानते हैं कि विकास की किसी एक अवधि में जो अनुभव होता है वह उसके आगामी विकास को भी प्रभावित करता है। इरिक्सन इदम् की अपेक्षा अहम् को विकास के लिए अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। इरिक्सन के अनुसार व्यक्तित्व मानसिक विकास के आठ अवस्थाओं के माध्यम से एक पूर्व निर्धारित क्रम में विकसित होता है, शैशवावस्था से वयस्कता तक। प्रत्येक अवस्था के दौरान, व्यक्ति एक मनोसामाजिक संकट का अनुभव करता है जो व्यक्तित्व विकास के लिए सकारात्मक या नकारात्मक परिणाम हो सकता है। इरिक्सन ने विकास को आठ अवस्थाओं में विभक्त किया है। अल्बर्ट बॅण्डुरा एक प्रभावशाली सामाजिक संज्ञानात्मक मनोवैज्ञानिक हैं, वह सामाजिक अधिगम सिद्धांत और

उनके प्रसिद्ध बोबो डॉल प्रयोगों की अवधारणा के लिए प्रसिद्ध हैं। बॅण्डुरा, स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय में एक प्रोफेसर एमेरिटस हैं और वर्तमान में महानतम जीवित मनोवैज्ञानिकों में से एक हैं। बॅण्डुरा ने व्यक्तित्व विकास में वातावरण की भूमिका को स्पष्ट किया। उन्होंने इस तथ्य को उजागर किया की बालक अधिकांश व्यवहारों को सामाजिक परिस्थितियों में सीखता है। इस सिद्धांत का केन्द्रीय तथ्य यह है की बालक का विकास मुख्य रूप से उसके सामाजिक अधिगम का परिणाम होता है। सामाजिक अधिगम में व्यक्ति के सामाजिक परिवेश की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। सामाजिक परिस्थितियों में बालक कैसे सीखता है, इस दिशा में बॅण्डुरा द्वारा किए गए अध्ययन और उनके द्वारा दिया गया सिद्धांत विकासात्मक मनोविज्ञान में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। बॅण्डुरा ने अपने सामाजिक अधिगम सिद्धांत में कई संप्रत्ययों का प्रयोग किया है। यह संप्रत्यय उनके सिद्धांत को समझाने में सहायक सिद्ध हुए हैं। लोग दूसरों के व्यवहार और उन व्यवहारों के परिणामों को देखकर सीखते हैं। बॅण्डुरा के अनुसार अधिकांश मानव व्यवहार को मॉडलिंग के माध्यम से अवलोकन करके सीखा जाता है: दूसरों को देखने से पता चलता है कि किस व्यवहार कैसे किए जाते हैं और बाद में यही जानकारी कई अवसरों में मार्गदर्शक के रूप में कार्य करती है। सामाजिक अधिगम सिद्धांत संज्ञानात्मक, व्यवहारिक और वातावरणीय प्रभावों के बीच निरंतर पारस्परिक संपर्क के संदर्भ में मानव व्यवहार की व्याख्या करता है।

9.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. इरिक होम्बर्गर इरिकसन
2. मनोसामाजिक सिद्धांत में मानव जीवन को विकास की आठ अवस्थाओं के बांटा है।
3. मनोसामाजिक सिद्धांत की सभी अवस्थाओं की नाम हैं-
 - i. आस्था बनाम अनास्था
 - ii. स्वायतता बनाम सन्देह
 - iii. पहल बनाम ग्लानि
 - iv. परिश्रम बनाम हीनता
 - v. अस्तित्व बनाम भूमिका द्वन्द्व
 - vi. आत्मीयता बनाम पार्थक्य
 - vii. उत्पादकता बनाम निष्क्रियता
 - viii. सत्यनिष्ठा बनाम निराशा
4. इरिकसन के सिद्धांत में डेढ़ से तीन वर्ष की आयु की अवस्था का नाम स्वायतता बनाम सन्देह है।

5. पहल बनाम ग्लानि (Initiative Vs. Guilt) अवस्था 4 से 5 वर्ष के आयु वर्ग से संबंधित है।
6. सत्य
7. Childhood and Society
8. 65 वर्ष से आगे की अवस्था का अवस्था विशेष संकट सत्यनिष्ठा बनाम निराशा है।

अभ्यास प्रश्न 2

1. Social learning and personality development
2. सामाजिक अधिगम सिद्धांत
3. बॅण्डुरा के सिद्धांत के प्रमुख संप्रत्य है-
 - i. अवलोकन (Observation)
 - ii. अनुकरण (Imitation)
 - iii. मॉडलिंग (Modeling)
4. ध्यान
5. अभिप्रेरणा

9.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. सिंह, ए० के० (2007): उच्चतर मनोविज्ञान, वाराणसी, मोतीलाल बनारसी दासा।
2. मंगल, एस० के० (2010), उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान, नई दिल्ली, प्रेंटिस हाल ऑफ इंडिया।
3. सिंह, ए० के० (2007): शिक्षा मनोविज्ञान, पटना, भारती भवन पब्लिसर्श।
4. लाल, जे० एन०, श्रीवास्तव, अनीता (2014-15): नवीन विकासात्मक मनोविज्ञान, आगरा, अग्रवाल पब्लिसर्श।

9.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. इरिक्सन के विकास के मनोसामाजिक सिद्धांत की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।
2. विकास के मनोसामाजिक सिद्धांत के निहितार्थ स्पष्ट कीजिए।
3. अल्लबर्ट बॅण्डुरा के सामाजिक अधिगम सिद्धांत की व्याख्या कीजिए? यह सिद्धांत किस प्रकार सीखने की प्रक्रिया में सहायक है, स्पष्ट कीजिए।
4. बॅण्डुरा के सिद्धांत के मूल संप्रत्ययों का वर्णन कीजिए। प्रभावी मॉडलिंग के लिए आवश्यक प्रक्रियाएं के विषय में लिखिए।
5. सामाजिक अधिगम सिद्धांत के निहितार्थों को लिखिए।

खण्ड 4: बाल विकास के नियम एवं सिद्धांत-॥

इकाई 10: सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत

- 10.1 प्रस्तावना
- 10.2 उद्देश्य
- 10.3 सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत की अवधारणा
- 10.4 सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत
- 10.5 सूचना प्रसंस्करण मॉडल (Information Processing Model)
- 10.6 सूचना-प्रसंस्करण दृष्टिकोण की धारणा
- 10.7 सारांश
- 10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 10.9 निबन्धात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

पूर्व की इकाईयों में आपने बाल विकास से सम्बंधित कई सिद्धांतों के विषय में जाना। इस इकाई में हम सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत का अध्ययन करेंगे। सूचना सिद्धांत अपेक्षाकृत एक नवीन सिद्धांत है जो मानव व्यवहार और विकास की व्याख्या कम्प्यूटर प्रणाली के आधार पर करता है। संज्ञानात्मकता के भीतर एक विशेष रूप से प्रभावशाली प्रवाह सूचना प्रसंस्करण का सिद्धांत रहा है, जो मानव दिमाग की तुलना कम्प्यूटर से करता है तथा संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के कामकाज की व्याख्या करता है जिससे मानव व्यवहार निर्धारित होता है।

बुनियादी रूप में सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत यह है कि मानव मस्तिष्क की तुलना कम्प्यूटर या बुनियादी प्रोसेसर से की जाती है। हमें यह ज्ञात है कि मस्तिष्क एक निर्धारित क्रम में काम करता है, जैसा कि एक कम्प्यूटर करता है। जानकारी को इंद्रियों के माध्यम से लिया जाता है, फिर जानकारी को अल्पकालिक स्मृति के माध्यम से रखा जाता है। फिर सूचना को दीर्घकालिक स्मृति में निविष्ट किया जाता है, जहां सूचना को संग्रहित किया जाता है। आवश्यकता होने पर जानकारी को पुनः प्राप्त किया जा सकता है। सूचना प्रसंस्करण दृष्टिकोण कई मान्यताओं पर आधारित है, जिसमें पर्यावरण द्वारा उपलब्ध कराई गई जानकारी प्रसंस्करण प्रणालियों की एक श्रृंखला (जैसे ध्यान, धारणा, अल्पकालिक स्मृति) द्वारा संसाधित की जाती है, यह प्रसंस्करण प्रणालियाँ व्यवस्थित तरीके से जानकारी को बदल देती हैं।

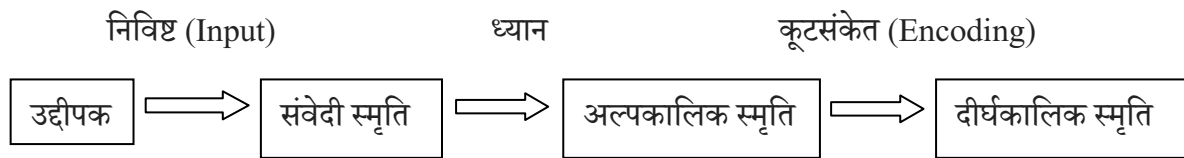
10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत शिक्षार्थी;

- सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत के विषय में जानकारी प्राप्त कर पाएंगे;
- सूचना प्रवाह के बारे में अध्ययन करेंगे;
- सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत की अवधारणा तथा सम्भावनाओं की व्याख्या कर पाएंगे; तथा
- सूचना प्रसंस्करण मॉडल तथा उसके भागों के विषय में जानेंगे।

10.3 सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत की अवधारणा

सूचना प्रसंस्करण की पूरी प्रक्रिया में जानकारी को प्राप्त करना, चित्त में रखना और उपयोग करना शामिल है। जानकारी शरीर के बाहर से मस्तिष्क द्वारा संवेदी स्मृति के माध्यम से प्राप्त होती है। यह जानकारी पाँच इंद्रियों क्रमशः दृष्टि, श्रवण, स्पर्श, स्वाद और गंध में से किसी भी रूप में हो सकती है। कई बार हम सचेत रूप से इनसे अवगत नहीं होते हैं और स्वचालित रूप से प्रतिक्रिया देते हैं। हालांकि जब हम विशेष रूप से ध्यान देते हैं तो हम इन इंद्रियों के बारे में जानने और महसूस करने में सक्षम होते हैं। जैसे ही हम उन पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं, वे पूरी प्रक्रिया के समाप्त होने तक हमारी कार्यशील स्मृति में होते हैं। प्राप्त वस्तुओं/जानकारियों को बहुत कम समय के लिए कार्यशील स्मृति में रखा जाता है और इस प्रकार इसे अल्पकालिक स्मृति भी कहा जाता है।



चित्र 10.1 सूचना प्रसंस्करण

यह कार्यशील स्मृति बहुत छोटी होती है जो एक समय में केवल कुछ ही वस्तुओं/जानकारियों को याद रख सकती है और वह भी बहुत कम समय के लिए। यदि हम वस्तुओं को अधिक समय तक चित्त में रखना चाहते हैं तो हमें रणनीतियों का उपयोग करना पड़ सकता है जैसे कि किसी जानकारी को बार-बार दोहराना अथवा जानकारी को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर पृथक रूप से याद करना।

अल्पकालिक स्मृति के विपरीत, दीर्घकालिक स्मृति लंबे समय तक जानकारी संग्रहीत करती है। दीर्घकालिक स्मृति में रखने के लिए जानकारी को बार-बार दोहराना नहीं पड़ता है। साथ ही कितनी जानकारी संग्रहीत की जानी है इस बारे में कोई प्रतिबंध नहीं होता है।

किसी भी जटिल समस्या को हल करने के लिए हम दीर्घकालिक स्मृति से जानकारियाँ प्राप्त करते हैं तथा उन्हें विशिष्ट प्रकार से एकीकृत करते हैं। सूचना प्रसंस्करण में भी हम उसी तरह की जटिल क्रिया करते हैं। हालांकि उपरोक्त आरेख स्पष्ट रूप से यह बताता है कि जानकारी कैसे प्राप्त, संसाधित और संग्रहीत की जाती है परंतु मानव मस्तिष्क अत्यंत जटिल होता है। मस्तिष्क की प्रसंस्करण प्रक्रिया को समझने के लिए उच्च स्तर के शोध की आवश्यकता होती है।

संज्ञानात्मक प्रक्रियाएं इस बात से भी संबंधित हैं कि लोग समय के साथ अर्जित की गई उस जानकारी को कैसे समझते हैं, सोचते हैं, संग्रहीत करते हैं और याद रखते हैं। आप अपने कार्यस्थल पर जाते हैं और कई चीजें सीखते हैं। बड़ी संख्या में जानकारियाँ आपके लिए तुरंत उपलब्ध होती हैं जिन्हें आप याद रखने में सक्षम होते हैं, लेकिन महत्वपूर्ण जानकारी आपको तभी मिल सकती है, जब आप कुछ प्रयासों करें। ऐसी भी कई जानकारी हो सकती हैं, जो आपके प्रयासों के बावजूद भी आपके लिए उपलब्ध नहीं हों। कई बार आपको लगता है कि जानकारी उपलब्ध है परंतु वह आपको याद नहीं आती है। कुछ संकेतों के साथ आप उस जानकारी को याद रखने में सक्षम हो सकते हैं। सूचना के पंजीकरण, भंडारण और पुनर्प्राप्ति की पूरी प्रक्रिया को सूचना प्रसंस्करण कहा जाता है।

व्यक्ति किसी के मस्तिष्क और सूचना प्रसंस्करण प्रणाली की कल्पना को कंप्यूटर से जोड़ सकता है जहां सबसे पहले निविष्ट होता है अर्थात् जानकारी का मस्तिष्क को उपलब्ध होना। यह एक तरह से वह सूचना है जो आप कंप्यूटर पर भेजते हैं। अब आप चाहते हैं कि कंप्यूटर इस जानकारी को संग्रहीत करे ताकि जब भी आपको आवश्यकता हो आप इसे याद कर सकें और इसका उपयोग कर सकें। कंप्यूटर जानकारी लेता है और इसे आपकी आज्ञा के अनुसार संग्रहीत करता है और फिर आवश्यकता पड़ने पर आपके लिए संग्रहीत स्थान से इसे पुनः प्राप्त करता है। मानव मस्तिष्क भी इसी भाँति कार्य करता है।

प्रत्यक्षण के इस उपागम का प्रतिपादन उन मनोवैज्ञानिकों द्वारा किया गया है, जिनकी अभिरुचि कम्प्यूटर तथा संचार विज्ञान में अधिक रही है। इस उपागम में प्रत्यक्षण की व्याख्या बाह्य वातावरण या उद्दीपक (stimulant) से प्राप्त सूचनाओं को विभिन्न स्तर पर संसाधित (process) करके किया

जाता है। “सूचना” से तात्पर्य एक ऐसी वस्तु से है जिसके प्राप्त होने पर व्यक्ति के मन में उद्दीपक के बारे में बनी अनिश्चितता दूर हो जाती है। अनिश्चितता से ज्ञान की कमी के बारे में संकेत मिलता है तथा सही सूचना की मात्रा का निर्धारण इस बात से होता है कि अनिश्चितता की मात्रा में कितनी कमी आई है।

सूचना प्रसंस्करण उपागम की यह मान्यता है कि व्यक्ति की प्रत्यक्षण क्षमता सीमित होती है। अतः व्यक्ति कई उद्दीपकों में से कुछ का ही प्रत्यक्षण कर पाता है। यदि व्यक्ति को किसी एक सूचना पर ध्यान देना होता है तो वह दूसरी सूचनाओं को छोड़ देता है। प्रत्यक्षणकर्ता में किसी भी सूचना का प्रवाह कई चरणों में सम्पन्न होता है:

1. **उद्दीपक (Stimulus):** व्यक्ति के सम्मुख कोई उद्दीपक उपस्थित होता है जो उसके संवेदी ग्राहक को प्रभावित करता है।
2. **संवेदी ग्राहक (Sensory receptors):** उद्दीपक व्यक्ति के संवेदी ग्राहक अर्थात् कान, नाक, आँख आदि को प्रभावित करता है जिससे सूचनाएं केंद्रीय तंत्रिका तंत्र (Central Nervous System) में पहुँचती हैं।
3. **केंद्रीय तंत्रिका तंत्र (Central Nervous System):** केंद्रीय तंत्रिका तंत्र उन सूचनाओं को ग्रहण करता है। ऐसी सूचनाएं वहाँ पूर्व में उपस्थित सूचनाओं से प्रभावित होती हैं। पूर्व में उपस्थित सूचनाओं को मनोवैज्ञानिक शोर (psychological noise) कहा जाता है।
4. **कॉर्टिकल मस्तिष्कीय केंद्र (Cortical Brain Center):** केंद्रीय तंत्रिका तंत्र द्वारा ग्रहण की गई सूचनाओं को मस्तिष्क के विभिन्न केंद्रों द्वारा प्रसंस्कृत किया जाता है।
5. **अनुक्रिया (Response):** अंत में कॉर्टिकल मस्तिष्कीय केंद्रों से प्राप्त सूचना के आधार पर व्यक्ति प्रत्यक्षण की अनुक्रिया सही ढंग से कर पाता है।

सूचना प्रसंस्करण दृष्टिकोण कई मान्यताओं पर आधारित है, जिसमें निम्न सम्मिलित हैं:

- बाह्य वातावरण द्वारा उपलब्ध कराई गई जानकारी प्रसंस्करण प्रणालियों की एक श्रृंखला द्वारा संसाधित की जाती है (जैसे ध्यान, धारणा, अल्पकालिक स्मृति);
- ये प्रसंस्करण प्रणालियां सूचना को व्यवस्थित तरीके से परिवर्तित करती हैं;
- अनुसंधान का उद्देश्य संज्ञानात्मक प्रदर्शन करने वाली प्रक्रियाओं और संरचनाओं को निर्दिष्ट करना है;

- मनुष्यों में सूचना प्रसंस्करण कंप्यूटर में मिलता जुलता है।

के दशक में कंप्यूटर के विकास का मनोविज्ञान पर एक महत्वपूर्ण प्रभाव था और 1960 और 1950 यह विकास आधुनिक मनोविज्ञान में प्रमुख दृष्टिकोण बनने वाले संज्ञानात्मक दृष्टिकोण के लिए जिम्मेदार था। कंप्यूटर ने संज्ञानात्मक मनोवैज्ञानिकों को एक रूपक, या सादृश्य दिया, जिससे वे मानव मानसिक प्रसंस्करण की तुलना कर सकते थे। कंप्यूटर का उपयोग यह सोचने के लिए एक उपकरण के रूप में किया जाता है कि मानव मन जानकारी को कैसे संभालता है, इसे कंप्यूटर सादृश्य के रूप में जाना जाता है।

10.4 सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत

इस सिद्धांत को 1950 के दशक में अमेरिकी मनोवैज्ञानिक जॉर्ज मिलर द्वारा विकसित किया गया जिसमें उन्होंने मानव मस्तिष्क की तुलना कंप्यूटर से की। "Input या निविष्ट "वह सूचना है जो हम कंप्यूटर या हमारे दिमाग को देते हैं जबकि -CPU या केंद्रीय प्रक्रमन एकक की तुलना हमारी अल्पकालिक स्मृति से की जाती है, और हार्ड ड्राइव हमारी दीर्घकालिक स्मृति-होती है।

हमारी संज्ञानात्मक प्रक्रिया जानकारी को फ़िल्टर/शुद्ध करती है, जो यह तय करती है कि हमारी संवेदी स्मृति से हमारी अल्पकालिक स्मृति में संग्रहित करने हेतु कौनसी- जानकारी पर्याप्त है और अंततः किस जानकारी को हमारी दीर्घकालिक स्मृति में सांकेतिक शब्दों में बदलना है। हमारी संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं में सोच, धारणा, स्मृति, अभिज्ञान, तार्किक तर्क, कल्पना, समस्यासमाधान-, निर्णय और योजना का हमारा ज्ञान शामिल हैं।

वास्तव में सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत एक ढांचा है जिसके भीतर कुछ सामान्य धारणाओं से संबंधित सिद्धांतों की एक निश्चित संख्या है। उदाहरण के लिए एक धारणा यह है कि सभी संज्ञानात्मक गतिविधियों में एक मानसिक प्रक्रिया शामिल होती है जो सूचना के आंतरिक, प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व पर काम करती है। सभी प्रकार की जानकारी को संरचनात्मक गुणों के साथ मानसिक अभ्यावेदन के रूप में कोडित किया जाता है। पहली बार किसी भी उद्दीपन, जैसे कोई भी नई वस्तु को देखने पर संवेदन में सम्मिलित प्रक्रियाएं उस उद्दीपन का एक मानसिक चित्र बना लेती हैं। इस अभ्यावेदन (representation) को दीर्घकालिक स्मृति में संग्रहीत किया जाता है जहां से आवश्यक होने पर उसे पुनः प्राप्त किया जा सकता है। वास्तव में ये अभ्यावेदन स्मृति में पहले से मौजूद किसी भी प्रकार के प्रतिनिधित्व से उन्हें जोड़ने के बाद संग्रहीत किए जाते हैं। यह उस वस्तु, उसके रंग,

इसकी बनावट और कई और अधिक जानकारी की व्याख्या करने में मदद करता है ताकि यह तय किया जा सके कि इसे खरीदना अच्छा है या नहीं।

सूचनाप्रसंस्करण सिद्धांत के दृष्टिकोण से-, व्यक्ति उन घटनाओं की एक श्रृंखला में लिप्त होता है जिसमें समय के साथ काम करने वाली प्रक्रियाओं द्वारा वस्तु के मानसिक अभ्यावेदन का निर्माण और हेरफेर किया जाता है। उन प्रक्रियाओं की पहचान की जाती है जो उस वस्तु के विभिन्न पहलुओं और अनूठी विशेषताओं को समझने में मदद करती हैं और वस्तु की खरीद के संबंध में निर्णय लेने में मदद करती हैं।

अगली धारणा यह है कि ये प्रक्रियाएँ और निरूपण एक संगठित प्रणाली के भीतर निश्चित गुणों और बाधाओं के साथ विद्यमान होती हैं। शोध का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य संज्ञानात्मक वास्तुकला अर्थात् सूचनारचनात्मक विशेषताप्रसंस्करण प्रणाली की सामान्य सं-ओं को परिभाषित करना है।

तीसरी धारणा यह है कि संज्ञानात्मक विकास सूचनासंशोधन के -प्रसंस्करण प्रणाली के आत्म-माध्यम से होता है। हालांकि पर्यावरणीय घटनाएँ विकास को गंभीर रूप से प्रभावित करती हैं, लेकिन समय के साथ सूचनापरिवर्तन करने वाले तंत्र को प्रणाली के लिए प्रसंस्करण प्रणाली में-आंतरिक माना जाता है।

विकास के सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत-मूल रूप में अन्य दृष्टिकोणों से काफी भिन्न होते हैं। वे घटनात्मक नहीं होते हैं क्योंकि वे सचेत अनुभव तक सीमित नहीं हैं, और वे स्नायविक (neurological) भी नहीं होते हैं क्योंकि वे स्पष्टीकरण के लिए तंत्रिका या जैव रासायनिक तंत्र पर भरोसा नहीं करते हैं। मानसिक प्रक्रियाओं के विस्तृत विवरण और समय के साथ बातचीत करने वाले अभ्यावेदन पर बल देने के कारण वे पारंपरिक उत्तेजनाप्रतिक्रिया सिद्धांतों से भिन्न होते हैं। -चनात्मक सिद्धांतों के विपरीतसं, जैसे कि जीन पियाजे, ध्यान विशिष्ट प्रक्रियाओं और अभ्यावेदन पर होता है जो प्रदर्शन में कमी लाते हैं।

संभावनाएं

सूचना संसाधन किसी भी तरह से संज्ञानात्मक विकास का अध्ययन करने के लिए एकमात्र दृष्टिकोण नहीं है, लेकिन इसकी धारणाएं और तरीके उन कई तरीकों की खोज करने में मददगार साबित हुए हैं जिनसे बच्चों की सोच विकास के साथ बदलती है। इसकी अब तक की सबसे बड़ी उपयोगिता

कार्य विशिष्ट या-ज्ञानक्षेत्र विशिष्ट प्रक्रियाओं और अभ्यावेदन का अध्ययन करने में-रही है। यह कुछ सीमा तक विकास की ज्ञानक्षेत्रसाथ प्रेरणा और प्रभाव जैसे विषयों के -सामान्य विशेषताओं के साथ-लिए कम सफलता के साथ लागू किया गया है जो विकास को समझने और शिक्षा के अनुकूलन के लिए महत्वपूर्ण हैं।

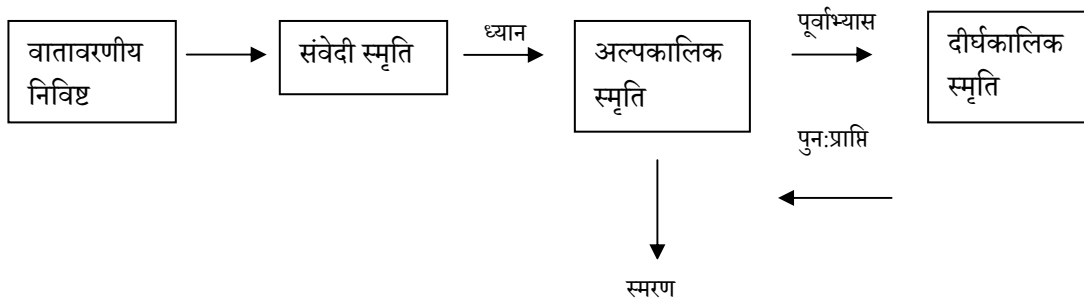
मूल रूप से सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत एक व्यक्ति के संज्ञानात्मक विकास के लिए एक दृष्टिकोण है, जो उन घटनाओं के अनुक्रम के विश्लेषण और अध्ययन से संबंधित है जो कुछ नई जानकारी प्राप्त करते समय एक व्यक्ति के दिमाग में घटती है। संक्षेप में, यह व्यक्ति के कुछ नया सीखने के तरीकों का विश्लेषण है। ऐसी स्थिति में होने वाली घटनाओं का एक निश्चित स्वरूप होता है, और इस स्वरूप को जानकर हम बच्चों और विशेष क्षमता वाले लोगों को नई चीजों को तेजी से सीखने में सक्षम कर सकते हैं।

10.5. सूचना प्रसंस्करण मॉडल (Information Processing Model)

सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत एक निश्चित संरचना का अनुसरण करता है जिसे चार भागों में विभाजित किया जाता है :

- **स्टोर मॉडल-** यह उस मॉडल का विश्लेषण है जो यह बताता है कि जो जानकारी प्राप्त की गई है वह किसी भी प्रसंस्करण इकाई, या उन प्रणालियों में संग्रहीत की जा सकती है जिनके माध्यम से वह गुजरती है। ये प्रणालियाँ संवेदी स्मृति, अल्पकालिक स्मृति और दीर्घकालिक स्मृति हैं।

जानकारी एक रैखिक तरीके से एक से दूसरी प्रणाली में गुजरती है, और एक निविष्ट, प्रक्रिया और उत्पाद के साथ इसे सूचना प्रसंस्करण मॉडल कंप्यूटर की भाँति के रूप में वर्णित किया गया है। (इस मॉडल को एटकिंसन और शिफरीन द्वारा 1968 में प्रस्तावित किया गया था और यह एक संरचनात्मक मॉडल है।



इंद्रिय अंगों द्वारा सूचना का पता लगाया जाता है और यह सूचना संवेदी स्मृति में प्रवेश करती है। यदि इस जानकारी को महत्व दिया जाता है तो यह अल्पकालिक स्मृति में प्रवेश करती है। अल्पकालिक स्मृति से सूचना को दीर्घकालिक स्मृति में तभी स्थानांतरित किया जाता है, जब उस जानकारी का पूर्वाभ्यास किया जाता है। (अर्थात् दोहराया जाता है) यदि पूर्वाभ्यास नहीं होता है, तो जानकारी को भुला दिया जाता है, और विस्थापन या क्षय की प्रक्रियाओं के माध्यम से यह जानकारी अल्पकालिक स्मृति से खो जाती है।

- **संवेदी स्मृति** - यह मानसिक प्रसंस्करण इकाई का वह हिस्सा है जो सभी जानकारी प्राप्त करता है और फिर इसे अस्थायी या स्थायी रूप से संग्रहीत करता है। इसकी अवधि : $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{4}$ सेकेन्ड की होती है तथा संवेदी स्मृति सभी ज्ञानेंद्रियों के लिए पृथक् होती है।
- **अल्पकालिक स्मृति** - यह संवेदी स्मृति का वह हिस्सा है जहाँ सूचना अस्थायी रूप से संग्रहीत होती है। एक बार सूचना के संबंध में निर्णय हो जाने के बाद, सूचना को या तो त्याग दिया जाता है या दीर्घकालिक स्मृति में स्थानांतरित कर दिया जाता है। इसकी अवधि : शून्य से 18 सेकेन्ड की होती है तथा क्षमता $(2 \pm) 7$ वस्तुएं होती है। इसका कूटसंकेत मूलतः श्रवण सम्बंधी होता है।
- **दीर्घकालिक स्मृति**: वह भाग जहाँ सभी जानकारी स्थायी रूप से संग्रहीत होती है। बाद में आवश्यकता पड़ने पर इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता है। इसकी अवधि तथा क्षमता असीमित होती है तथा कूटसंकेत मुख्य रूप से शब्दार्थ होता है लेकिन दृश्य और श्रवण हो सकता है।

10.6. सूचना प्रसंस्करण दृष्टिकोण की- धारणा

- जब व्यक्ति अपने मस्तिष्क में पर्यावरण से जानकारी को ग्रहण, कूट संकेत, प्रतिनिधित्व तथा संग्रहित करता है या उस जानकारी को पुनः प्रतिष्ठापित करता है, तो वह विचार कर रहा होता है। विचार करने में स्मृति प्रक्रियाओं पर किसी भी बाधा या सीमाओं का जवाब देना भी शामिल है।
- अध्ययन का उचित केंद्र विकास में परिवर्तन तंत्र की भूमिका है। बच्चों के संज्ञानात्मक कौशल में परिवर्तन लाने के लिए चार महत्वपूर्ण तंत्र एक साथ काम करते हैं : कूट संकेत, रणनीति निर्माण, स्वचालितकरण और सामान्यीकरण। समस्याओं को प्रभावी ढंग से हल करने के लिए, बच्चों को एक समस्या के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी को सांकेतिक शब्दों में बदलना चाहिए और फिर इस जानकारी तथा प्रासंगिक पूर्व ज्ञान का उपयोग समस्या से निपटने के लिए रणनीति बनाने में करना चाहिए।
- विकास आत्मसंशोधन द्वारा संचालित होता है। पि-याजे के संज्ञानात्मक विकास के सिद्धांत की तरह, सूचना प्रसंस्करण दृष्टिकोण यह मानता है कि बच्चे अपने स्वयं के विकास में सक्रिय -

संशोधन के माध्यम से-भूमिका निभाते हैं। स्व, बच्चा ज्ञान और रणनीतियों का उपयोग करता है जिसे उसने पूर्व की समस्या के समाधान से प्राप्त किया है ताकि वह अपनी प्रतिक्रिया को एक नई स्थिति या समस्या में बदल सके। इस तरह, वह पूर्व ज्ञान से नई और अधिक परिष्कृत प्रतिक्रियाएं बनाता है।

- जांचकर्ताओं को उन बच्चों के सामने आने वाली समस्या स्थितियों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करना चाहिए। इस दृष्टिकोण के अनुसार, न केवल बच्चे के विकास का स्तर, बल्कि कार्य की प्रकृति भी बच्चे के प्रदर्शन को बाधित करती है। इस प्रकार एक बच्चा किसी विशेष कार्य को करने के लिए आवश्यक बुनियादी क्षमता रखता है, जब उसे सरल रूप में प्रस्तुत किया जाता है, बिना अनावश्यक जटिलताओं के। हालांकि, यदि एक ही कार्य में अतिरिक्त या भ्रामक जानकारी जोड़ी जाती है, तो बच्चा भ्रमित हो सकता है और प्रदर्शन करने में असमर्थ हो सकता है।

अभ्यास प्रश्न 1

1. रिक्त स्थान भरिए।

- सूचना के पंजीकरण, भंडारण और पुनर्प्राप्ति की पूरी प्रक्रिया को कहा जाता है।
- का अर्थ होता है जानकारी का मस्तिष्क को उपलब्ध होना।
- सूचना प्रसंस्करण उपागम की यह मान्यता है कि व्यक्ति की प्रत्यक्ष क्षमता होती है।
- केंद्रीय तंत्रिका तंत्र में पूर्व से उपस्थित सूचनाओं को कहा जाता है।
- सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत को 1950 के दशक में अमेरिकी मनोवैज्ञानिक द्वारा विकसित किया गया जिसमें उन्होंने मानव मस्तिष्क की तुलना कंप्यूटर से की थी।
- सूचना प्रसंस्करण के स्टोर मॉडल को द्वारा 1968 में प्रस्तावित किया गया था।
- मानसिक प्रसंस्करण इकाई का वह हिस्सा है जो सभी जानकारी प्राप्त करता है और फिर इसे अस्थायी या स्थायी रूप से संग्रहीत करता है।
- की अवधि तथा क्षमता असीमित होती है तथा कूटसंकेत मुख्य रूप से शब्दार्थ होता है।
- अल्पकालिक स्मृति की अवधि की होती है।

10.7 सारांश

सूचना सिद्धांत अपेक्षाकृत एक नवीन सिद्धांत है जो मानव व्यवहार और विकास की व्याख्या कम्प्यूटर प्रणाली के आधार पर करता है। संज्ञानात्मकता के भीतर एक विशेष रूप से प्रभावशाली प्रवाह सूचना प्रसंस्करण का सिद्धांत रहा है, जो मानव दिमाग की तुलना कम्प्यूटर से करता है तथा संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के कामकाज की व्याख्या करता है जिससे मानव व्यवहार निर्धारित होता है। सूचना प्रसंस्करण की पूरी प्रक्रिया में जानकारी को प्राप्त करना, चित्त में रखना और उपयोग करना शामिल है। जानकारी शरीर के बाहर से मस्तिष्क द्वारा संवेदी स्मृति के माध्यम से प्राप्त होती है। अल्पकालिक स्मृति बहुत छोटी होती है। इसके विपरीत, दीर्घकालिक स्मृति लंबे समय तक जानकारी संग्रहीत करती है। दीर्घकालिक स्मृति में रखने के लिए जानकारी को बारबार दोहराना - नहीं पड़ता है। साथ ही कितनी जानकारी संग्रहीत की जानी है इस पर कोई प्रतिबंध नहीं होता है। संज्ञानात्मक प्रक्रियाएं इस बात से भी संबंधित हैं कि लोग समय के साथ अर्जित की गई उस जानकारी को कैसे समझते हैं, सोचते हैं, संग्रहीत करते हैं और याद रखते हैं। सूचना प्रसंस्करण दृष्टिकोण कई मान्यताओं पर आधारित है जैसे बाह्य वातावरण द्वारा उपलब्ध कराई गई जानकारी प्रसंस्करण प्रणालियों की एक श्रृंखला द्वारा संसाधित की जाती है जैसे ध्यान), धारणा, अल्पकालिक स्मृति(; ये प्रसंस्करण प्रणालियां सूचना को व्यवस्थित तरीके से परिवर्तित करती हैं; अनुसंधान का उद्देश्य संज्ञानात्मक प्रदर्शन करने वाली प्रक्रियाओं और संरचनाओं को निर्दिष्ट करना है; मनुष्यों में सूचना प्रसंस्करण कम्प्यूटर में मिलता जुलता है। सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत को 1950 के दशक में अमेरिकी मनोवैज्ञानिक जॉर्ज मिलर द्वारा विकसित किया गया जिसमें उन्होंने मानव मस्तिष्क की तुलना कम्प्यूटर से की। सूचना संसाधन किसी भी तरह से संज्ञानात्मक विकास का अध्ययन करने के लिए एकमात्र दृष्टिकोण नहीं है, लेकिन इसकी धारणाएं और तरीके उन कई तरीकों की खोज करने में मददगार साबित हुए हैं जिनसे बच्चों की सोच विकास के साथ बदलती है। इसकी अब तक की सबसे बड़ी उपयोगिता कार्यविशिष्ट प्रक्रियाओं और अभ्यावेदन का अध्ययन -विशिष्ट या ज्ञानक्षेत्र-साथ प्रेरणा -सामान्य विशेषताओं के साथ-करने में रही है। यह कुछ सीमा तक विकास की ज्ञानक्षेत्र और प्रभाव जैसे विषयों के लिए कम सफलता के साथ लागू किया गया है जो विकास को समझने और शिक्षा के अनुकूलन के लिए महत्वपूर्ण हैं। सूचना प्रसंस्करण का स्टोर मॉडल उस मॉडल का विश्लेषण है जो यह बताता है कि जो जानकारी प्राप्त की गई है वह किसी भी प्रसंस्करण इकाई, या उन प्रणालियों में संग्रहीत की जा सकती है जिनके माध्यम से वह गुजरती है। ये प्रणालियाँ संवेदी स्मृति, अल्पकालिक स्मृति और दीर्घकालिक स्मृति हैं।

10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. रिक्त स्थान भरिए।

- a. सूचना प्रसंस्करण
- b. निविष्ट
- c. सीमित
- d. मनोवैज्ञानिक शोर (psychological noise)
- e. जॉर्ज मिलर
- f. एटकिंसन और शिफरीन
- g. संवेदी स्मृति
- h. दीर्घकालिक स्मृति
- i. शून्य से 18सेकेन्ड

10.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत की अवधारणा की व्याख्या कीजिए।
2. सूचना प्रसंस्करण दृष्टिकोण कौन-सी मान्यताओं पर आधारित है? टिप्पणी कीजिए।
3. सूचना प्रसंस्करण सिद्धांत का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
4. सूचना प्रसंस्करण मॉडल के बारे में लिखिए।
5. सूचना-प्रसंस्करण दृष्टिकोण की धारणा पर टिप्पणी कीजिए।

इकाई 11: गिब्सन का प्रत्यक्षात्मक विकास का पारिस्थितिक सिद्धांत

- 11.1 प्रस्तावना
- 11.2 उद्देश्य
- 11.3 प्रत्यक्षात्मक विकास (Perceptual Development)
 - 11.3.1 प्रत्यक्षात्मक प्रक्रिया (Perceptual Process)
 - 11.3.2 प्रत्यक्षण का स्वरूप (Nature of Perception)
 - 11.3.3 प्रत्यक्षीकरण का विकास (Development of Perception)
 - 11.3.4 प्रत्यक्षीकरण के विकास को प्रभावित करने वाले कारक
- 11.4 गिब्सन का प्रत्यक्षात्मक विकास का पारिस्थितिक सिद्धांत
- 11.5 गिब्सन के सिद्धांत का मूल्यांकन और अनुप्रयोग
- 11.6 सारांश
- 11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 11.8 निबन्धात्मक प्रश्न

11.1. प्रस्तावना

गिब्सन का पारिस्थितिक सिद्धांत, विकास का एक सिद्धांत है जो के दशक के 1970 और 1960 0मनोवैज्ञानिक एलेनोर जे दौरान अमेरिकी गिब्सन द्वारा दिया गया था। गिब्सन ने अधिगम में पर्यावरण और संदर्भ के महत्व पर जोर दिया तथा यह तर्क दिया कि अनुभूति धारणाएं/अत्यंत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इससे मनुष्यों को अपने वातावरण के अनुकूल होने की अनुमति मिलती है। गिब्सन ने कहा कि "बच्चे दुनिया में वस्तुओं, घटनाओं और परिस्थियों को निर्दिष्ट करने वाली जानकारी का पता लगाना सीखते हैं जो वे अपने दैनिक कार्यों के लिए उपयोग कर सकते हैं"। यह मनुष्य आवश्यकतानुसार सीखता है। गिब्सन ने इस बात पर जोर दिया कि मानव विकास पर्यावरणीय अड़चनों और उन्हें महसूस करने वाले प्रेरित मनुष्यों के बीच जटिल सम्बन्धों से प्रेरित है। उदाहरण के लिए, एक शिशु के लिए चलना सीखने की अलग अलग-अवस्थाओं जैसे घुटने पर

चलना, रेंगना आदि में विभिन्न अड़चनों का सामना करना पड़ता है। जैसे जैसे-बच्चे क्रियात्मक कौशल हासिल करते हैं, वे नए अवसरों की खोज करते हैं और इस तरह से उन्हें नई अड़चनों का सामना करना पड़ता है। बालकों को देखने और बातचीत करने की जितनी अधिक संभावनाएं उपलब्ध की जाती हैं, वे उतनी ही अधिक अड़चनों की खोज करते हैं, और उनकी धारणाएं उतनी ही सटीक होती जाती हैं।

प्रस्तुत इकाई में आप गिब्सन के प्रत्यक्षात्मक विकास के पारिस्थितिक सिद्धांत के बारे में जानेंगे।

11 2. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत शिक्षार्थी;

- बालक के प्रत्यक्षात्मक विकास के बारे में जानेंगे;
- प्रत्यक्षण की प्रक्रिया, स्वरूप, विकास तथा उसे प्रभावित करने वाले कारकों का अध्ययन करेंगे;
- गिब्सन के पारिस्थितिक सिद्धांत को जानेंगे; तथा
- गिब्सन के सिद्धांत के मूल्यांकन तथा अनुप्रयोग के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

113. प्रत्यक्षात्मक विकास (Perceptual Development)

जन्म लेने के तुरन्त बाद से शिशु जीवनपर्यन्त निरन्तर किसी न किसी वातावरण के सम्पर्क में रहता है। वातावरण की अनेक उत्तेजनाएं बालक को अनुक्रिया करने के लिये निरन्तर उत्प्रेरित करती हैं। आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा तथा ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बालक की विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं के बाह्य ज्ञान को सांवेदनिक ज्ञान कहते हैं, परन्तु जब बालक अपनी मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा उस सांवेदनिक ज्ञान की व्याख्या करके उसे अर्थ प्रदान करता है तो इस प्रक्रिया को प्रत्यक्षीकरण कहते हैं। अतः त होने वाली विभिन्नहम कह सकते हैं कि वातावरण से प्राप् : क्षीकरण कहललिक सार्थक ज्ञान कराने वाली मानसिक प्रक्रिया प्रत्यजनाओं का तात्काउत्तेाती है। दैनिक जीवन के अनुभवों के दृष्टिकोण से प्रत्यक्षीकरण एक अति महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया के द्वारा हम अपने चारों तरफ के वातावरण का सार्थक ज्ञान प्राप्त करते हैं।

प्रत्यक्षीकरण के विषय में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने निम्नलिखित प्रकार से अपने विचारों को प्रकट किया है :

आईजेनेक के अनुसार, क्षीकरण वह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्राणी वातावरण प्रत्यक्ष परिवर्तनों की सूचना ग्रहण करता है। की स्थिति तथा

हेबर के अनुसार, प्रत्यक्ष परक प्रक्रियाओं में वे सभी प्रक्रियाएं सम्मिलित होती हैं जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष में आने वाली उद्दीपकज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क को अनुभवात्मक सूचना के रूप में, उद्दीपक के प्रति अनुक्रिया के रूप में तथा उद्दीपन की समाप्ति के बाद भी बनी रहने वाली स्मृति के रूप में अनुवादित करना होता है।“

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया प्राणी के केन्द्रीय नाड़ी संस्थान में घटित होती है जिसको हम प्रत्यक्ष रूप में नहीं देख सकते हैं परन्तु उद्दीपक के प्रति होने वाली प्रतिक्रियाओं को देखकर अनुमान लगा सकते हैं। प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया संरचित तथा संगठित होती है। प्रत्यक्षीकरण किसी भी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से हो सकता है। जैसे आँखों के द्वारा उद्दीपक के रंग, रूप, आकार का ज्ञान होना।

11 3.1. प्रत्यक्षात्मक प्रक्रिया (Perceptual Process)

वातावरण में उपस्थित वस्तुओं या उद्दीपकों के बारे में जिस प्रक्रिया द्वारा हमें सार्थक जानकारी प्राप्त होती है, उस प्रक्रिया को प्रत्यक्षीकरण कहते हैं। प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया एक जटिल संज्ञानात्मक मानसिक प्रक्रिया है और यह प्रक्रिया स्वतः (Automatically) घटित होती है। संवेदना के उत्पन्न होते ही मस्तिष्क प्राप्त सूचनाओं को प्रत्यक्ष ज्ञान में परिवर्तित कर देता है और हमें वातावरण के उस उद्दीपक का बोध होने लगता है। प्रत्यक्षीकरण का अनुभव संवेदनाओं और मस्तिष्क पर आधारित होता है।

आईजेनेक, 1972 के अनुसार, प्रत्यक्षीकरण वह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्राणी प्रत्यक्ष वातावरण की स्थिति या परिवर्तन की सूचना ग्रहण करता है या सूचना को प्रसंस्कृत करता है। हेबर, 1979 के अनुसार, प्रत्यक्ष परक प्रक्रियाओं में वे सभी प्रक्रियाएं सम्मिलित हैं प्रत्यक्ष , जिनका सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों पर पड़ने वाली उद्दीपक ऊर्जा को, उद्दीपन की अनुक्रिया को तथा इस उद्दीपन की समाप्ति तक न मिटने वाली स्मृति को सूचना देने वाले अनुभवों के रूप में अनुवादित या व्याख्या करना है।“

प्रत्यक्षीकरण प्रक्रिया प्राणी के केन्द्रीय नाड़ी संस्थान में घटित होती है जिसका प्रत्यक्ष निरीक्षण सम्भव नहीं है। केवल इसका अनुमान सम्भव है जो उद्दीपक के प्रति की जाने वाली विभेदनशील अनुक्रिया के द्वारा किया जाता है। प्रत्यक्षीकरण प्रक्रिया सर्वथा संरचित (Structured) तथा संगठित (Organized) होती है। संवेदना और प्रत्यक्षीकरण किसी भी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से हो सकता है, उदाहरण के लिए आँखों के द्वारा उद्दीपक के रूप, रंग, आकार का ज्ञान होता है, जीभ के द्वारा उद्दीपक के स्वाद अर्थात् कड़वा, मीठा, नमकीन आदि का ज्ञान होता है, नाक के द्वारा उद्दीपक की

गन्ध का ज्ञान होता है तथा त्वचा द्वारा स्पर्श की अनुभूति होती है। किसी भी उद्दीपक की संवेदना अत्यन्त क्षणिक और धुँधली (Short lined and vague) ही होती है। इसमें उद्दीपक की केवल कुछ ही विशेषताओं की चेतना होती है जबकि प्रत्यक्षीकरण में उद्दीपक के रंग, रूप, आकार, गन्ध आदि से सम्बन्धित अनुभव होते हैं तथा साहचर्य के कारण उद्दीपक से सम्बन्धित अतीत अनुभव भी उपस्थित हो जाते हैं।

11 3.2. प्रत्यक्षण का स्वरूप (Nature of Perception)

प्रत्यक्षण एक महत्वपूर्ण मानसिक प्रक्रिया है। यह मनोविज्ञान व्यवहार एवं मानसिक प्रक्रियाओं के अध्ययन का विज्ञान है। व्यवहार एवं मानसिक प्रक्रियाओं का सही अध्ययन प्रत्यक्षण पर ही निर्भर करता है। प्रत्यक्षण की क्रिया संवेदन (sensation) की प्रक्रिया से प्रारंभ होती है और किसी व्यवहार करने की क्रिया के पहले तक होती रहती है। अतवहार करने क्षण की प्रक्रिया संवेदन तथा व्यप्रत्यः की क्रिया के बीच की प्रक्रिया होती है।

प्रत्यक्षण को भिन्न अलग ढंग से परिभाषित किया है।- लोगों ने अलगभिन्न-

एटकिन्सन तथा हिलगार्ड, 1983 के अनुसार, क्षण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम प्रत्य”

।“ करते हैं ताकि उसे संगठित कर सकें। ख्यालोग वातावरण में उपस्थित उद्दीपकों की व्या

कोलमैन, 1977 के अनुसार, क्षण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा जीव को अपने आंतरिक प्रत्य”

अपने वातावरण के बारे में अंगों तथा सूचना मिलती है।“

सैन्ट्रोक, 2000 के अनुसार, द्वारा इसे संवेदी सूचनाओं को अर्थ प्रदान करने के लिए मस्तिष्क”

।“ क्षण कहा जाता है करने की प्रक्रिया को ही प्रत्यख्यासंगठित एवं व्या

प्रत्यक्षण की एक विस्तृत एवं तुलनात्मक रूप से अधिक वस्तुनिष्ठ परिभाषा निम्न प्रकार दी जा सकती है :

“प्रत्यक्षण एक सक्रिय, चयनात्मक एवं संज्ञानात्मक मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति को अपने आंतरिक अंगों ओं का तथा बाह्य वातावरण में उपस्थित वस्तु (आंतरिक वातावरण)

।“ लिक अनुभव होता है ताका

इस परिभाषा का विश्लेषण किया जाए तो प्रत्यक्षण की प्रक्रिया का स्वरूप बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाता है। इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर हम इसकी निम्नलिखित विशेषताओं पर पहुँचते हैं :

1. प्रत्यक्षण के लिए उद्दीपक का होना अनिवार्य है : प्रत्यक्षण हमेशा किसी वस्तु, घटना या व्यक्ति का होता है। जिन व्यक्तियों, घटनाओं या वस्तुओं का प्रत्यक्षण होता है, उसे उद्दीपक

(Stimulus) कहा जाता है। जब कोई उद्दीपक व्यक्ति के सामने उपस्थित नहीं होगा, उसमें कोई संवेदन नहीं होगा तो उसका प्रत्यक्षण भी नहीं होगा।

2. **प्रत्यक्षण में उद्दीपक का तत्कालिक अनुभव होता है** :जब व्यक्ति के सामने कोई उद्दीपक उपस्थित होता है, तो उसका ज्ञान हमें तुरंत होता है न कि उस उद्दीपक के बारे में कुछ देर तक सोचने के बाद। जैसे यदि कोई व्यक्ति कमरे में बैठकर पढ़ रहा है, इतने में उसका भाई उस कमरे में प्रवेश करता है तो भाई के अन्दर प्रवेश करते ही उसका प्रत्यक्षण हो जाता है। जो उद्दीपक व्यक्ति के सामने उपस्थित नहीं रहता है उसका हम प्रत्यक्षण नहीं कर सकते हैं, परंतु उसके बारे में सोच अवश्य सकते हैं। यही कारण है कि मॉर्गन, किंग तथा रॉबिन्सन, 1981 ने प्रत्यक्षण को परिभाषित करते हुए कहा है, 'क्तियोंव्य' द्वारा किया गया तात्कालिक अनुभव (Immediate experience) ही प्रत्यक्षण है।
3. **प्रत्यक्षण एक सक्रिय मानसिक प्रक्रिया है** :मनोवैज्ञानिकों ने प्रत्यक्षण को एक सक्रिय मानसिक प्रक्रिया कहा है। सक्रिय मानसिक प्रक्रिया से यह तात्पर्य है कि किसी उद्दीपक का प्रत्यक्षण करते हुए व्यक्ति का मस्तिष्क काफी सक्रिय होकर वस्तु या घटना की व्याख्या पूर्व अनुभूतियों के संदर्भ में करता है। उदाहरण के लिए, 'आम' को देखकर मात्र आम का ही प्रत्यक्षण नहीं होता है बल्कि इसका विशेष गुण खट्टा या मीठा होने का भी हम प्रत्यक्षण करते हैं। हम आम देखते ही यह भी कहते हैं कि यह आम खट्टा या मीठा होगा। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि प्रत्यक्षण एक सक्रिय मानसिक प्रक्रिया है जिसमें उद्दीपक का मात्र प्रतिनिधित्व ही नहीं होता है बल्कि मस्तिष्क सक्रिय रूप से पूर्व अनुभूतियों के संदर्भ में उसकी व्याख्या भी करता है।
4. **प्रत्यक्षण एक संज्ञानात्मक प्रक्रिया है** :संज्ञानात्मक प्रक्रिया से तात्पर्य ऐसी प्रक्रिया से है जिसके द्वारा हमें उद्दीपकों के बारे में ज्ञान प्राप्त होता है। कोलमैन, 1977 ने प्रत्यक्षण के इस पहलू पर अधिक बल दिया है और यह स्पष्टतरिक एवं क्षण द्वारा हमें आन्तकहा कि प्रत्यक्ष : ते हैं होता है। बाह्य उद्दीपक वातावरण में होबाह्य दोनों तरह के उद्दीपकों के बारे में ज्ञान प्राप्त होते हैं। किताबरिक शरीर के अन्दर तथा आन्त, टेबल, पेंसिल आदि बाह्य उद्दीपक के उदाहरण हैं तथा पेट ऐंठना, दिल की धड़कन आदि आन्तरिक उद्दीपक के उदाहरण हैं, जिसका भी हमें प्रत्यक्षण होता है।
5. **प्रत्यक्षण में उद्दीपकों को संगठित किया जाता है** :प्रत्यक्षण में सिर्फ उद्दीपकों की व्याख्या ही नहीं की जाती बल्कि उन उद्दीपकों का विशेष नियमों के आधार पर एक खास ढंग से संगठन भी होता है। उदाहरण स्वरूप, यदि किसी व्यक्ति का एक हाथ दुर्घटना या किसी बीमारी के

कारण काट दिया गया है और यदि वह व्यक्ति हमारे सामने उपस्थित होता है तो इसे हम पूर्ण व्यक्ति के रूप में संगठित कर ही उसका प्रत्यक्षण करते हैं।

6. प्रत्यक्षण एक चयनात्मक प्रक्रिया है : प्रत्यक्षण एक चयनात्मक मानसिक प्रक्रिया है। किसी भी समय अनेकों उद्दीपक हमारे ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजित करते हैं। परन्तु उनमें से सभी का हम प्रत्यक्षण नहीं कर पाते हैं। सच्चाई यह है कि हम उन्हीं उद्दीपकों का प्रत्यक्षण करते हैं जिन पर हम अवधान या ध्यान (attention) देते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्यक्षण में अवधान का काफी महत्व होता है। हम किसी वस्तु पर अपनी अभिरुचि, आदत, प्रेरणा आदि के अनुसार ध्यान देते हैं जिसके फलस्वरूप उस उद्दीपक या वस्तु का प्रत्यक्षण हमें होता है। ऐसा भी होता है कि वस्तु या उद्दीपक में ही कुछ ऐसे खास गुण होते हैं जिसके कारण हम उसकी ओर अधिक ध्यान देते हैं और फिर उसका प्रत्यक्षण हमें हो जाता है। जैसे सड़क पर चलते समय दुकान के अनेकों साइनबोर्ड नजर से गुजरते हैं। परन्तु वह साइनबोर्ड जिस पर बड़े अक्षरों में कुछ लिखा होता है, उस पर हमारा ध्यान जल्दी चला जाता है और हम उस साइनबोर्ड का प्रत्यक्षण जल्दी कर लेते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि प्रत्यक्षण का स्वरूप चयनात्मक होता है।

निष्कर्ष तौर पर हम कह सकते हैं कि प्रत्यक्षण एक ऐसी सक्रिय चयनात्मक मानसिक प्रक्रिया है जिसमें उद्दीपकों द्वारा उत्पन्न संवेदन का हम अर्थ ही नहीं जोड़ते हैं बल्कि अपनी पूर्व अनुभूति (Past experience) के संदर्भ में उनकी व्याख्या भी करते हैं एवं उसे कुछ खास नियमों के आधार पर एक संगठित रूप भी देते हैं।

113.3. प्रत्यक्षीकरण का विकास (Development of Perception)

प्रत्यक्षीकरण की क्रिया संवेदना के बिना नहीं होती है। सर्वप्रथम बालक में विभिन्न प्रकार की उद्दीपक सम्बन्धी संवेदनाएँ होती हैं। जेम्स का कथन है कि जब बालक जन्म लेता है उस समय बालक के लिए यह संसार एक विशाल, श्रमपूर्ण, उलझनपूर्ण आश्चर्य के समान होता है। उदाहरणार्थ नवजात शिशु के आसपास ध्वनियाँ रहती हैं, किन्तु चाहे वे दृश्य हों या अदृश्य, उनके लिये वह भ्रम व उलझन पैदा करती हैं क्योंकि शिशु को प्राप्त संवेदनाओं को अर्थ प्रदान करना नहीं आता है। जैसे-कम्पत्तजैसे शिशु को दृश्या, श्रवणात्मक आदि संवेदनाओं का प्रत्यक्षीकरण होने लगता है, वैसेवैसे - ह संसार अर्धीरे शिशु को य- होने लगता है। धीरियह भ्रम व संदेह समाप्तथपूर्ण लगने लगता है। प्रत्यक्षीकरण के विकास के लिये निम्नलिखित कुछ बातें आवश्यक हैं :

1. बालक में प्रत्यक्षीकरण रुचि के आधार पर होता है। छोटे बच्चे अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति वाले पदार्थों में रुचि लेते हैं। अतः प्रति क्षीकरण उसीउनका प्रत्यक्षीकरण होता है।
2. बालक जिन उद्दीपकों पर ध्यान केन्द्रित करता है, प्रत्यक्षीकरण की क्रिया उन्हीं पर आधारित होती है।
3. बालक के उद्दीपक के स्पष्ट स्थान पर भी प्रत्यक्षीकरण के विकास की प्रक्रिया निर्भर करती है।
4. बालक की क्रियात्मक क्षमताएं भी उसके प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करती हैं क्योंकि प्रारम्भ में बच्चा स्पर्श के द्वारा ही प्रत्यक्षीकरण करता है।
5. कहानियों को पढ़कर व चित्रों को देखकर प्रत्यक्षीकरण करना प्रायः तक पाँच वर्ष की अवस्था : हो जाता है। प्रारम्भ
6. बालक की तर्क करने योग्यता भी प्रत्यक्षीकरण के विकास में सहायक होती है क्योंकि तर्क की योग्यतानुसार बालक मन ही मन किसी उद्दीपक के सम्बन्ध में तर्क करता है या किसी क्रिया के विषय में सोचता है और उसके परिणामस्वरूप उद्दीपक को अर्थ प्रदान करके प्रत्यक्षीकरण करता है।
7. प्रत्यक्षीकरण के विकास में व्यक्तिगत भिन्नताएं पायी जाती हैं। इसी प्रकार लैंगिक भिन्नताएं भी पायी जाती हैं। एक ही आयु वाले सभी व्यक्तियों का प्रत्यक्षीकरण एक समान नहीं होता है। लड़कों व लड़कियों के प्रत्यक्षीकरण भिन्न-भिन्न होते हैं क्योंकि उनकी रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं और इसी के आधार पर प्रत्यक्षीकरण का विकास होता है।

प्रत्यक्षीकरण के प्रकार

1. **आकृति का प्रत्यक्षीकरण (Perception of Form) :** आकृति का प्रत्यक्षीकरण कब होता है यह जानने के लिये मैं 1968 ई. में एक प्रयोग किया जिसमें एक सप्ताह से ह तक सप्ता 74 के बच्चे सम्मिलित किए गए। उन्होंने इन बच्चों से एक फीट की दूरी पर अनेक पदार्थ रखे और यह अध्ययन किया कि उन पदार्थों की आकृति का प्रत्यक्षीकरण होता है या नहीं। पदार्थों की आकृति अनेक प्रकार की थी जैसे कुछ आकृति साधारण, ठोस तथा कुछ अंकित थीं तथा कुछ विशेष प्रकार के आकार की निर्मित थीं। इन विभिन्न आकृतियों को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने देखा कि जो बच्चे सबसे छोटे थे उनमें किसी भी प्रकार का आकृति प्रत्यक्षीकरण नहीं पाया गया। कुछ बड़े बच्चों में विभिन्न प्रकार के आकृति प्रत्यक्षीकरण पाये गए। जैसे उन्होंने समतल की अपेक्षा ठोस आकृति को अधिक पसन्द किया। कुछ ने साधारण की अपेक्षा डिजाइन वाली

आकृति को ज्यादा पसंद किया। अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला कि बच्चों में आकृति का विकास धीरे-धीरे होता है। बालक जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं, उन्हें कलात्मक वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण होने लगता है अर्थात् प्रत्यक्षीकरण बालक की आन्तरिक भावनाओं से जुड़ जाता है।

2. **आकार का प्रत्यक्षीकरण (Perception of Size) :** अध्ययनों में देखा गया है कि शिशु में पाँच वर्ष की अवस्था में जो आकार प्रत्यक्षीकरण पाया जाता है उसमें त्रुटियां होती हैं। विल्सेण्ट का कथन है कि एक वर्ष का बालक जितनी उत्सुकता के साथ गेंद लेने का प्रयास करता है, उतनी ही उत्सुकता के साथ चन्द्रमा को पाने का भी प्रयास करता है क्योंकि उस अवस्था तक शिशु को आकार का प्रत्यक्षीकरण ठीक प्रकार से नहीं हो पाता है। इस प्रकार एक चार वर्ष का बालक एक बड़ी कुर्सी पर बैठकर यह प्रयास करता है कि उसके पैर उसके पिता के समान ही जमीन तक पहुँच जाएं। तीन वर्ष का बालक छोटेछोटे खिलौने वाले सामान को बड़े सामान की भाँति ही प्रयोग करता है। विल्सेण्ट ने बताया कि पाँच अथवा छ के वर्ष :बच्चे बड़े और छोटे आकार के सन्दूकों को तो अलगकों को बअलग छाँट लेते हैं पर बीच के आकार के सन्दू-ड़े आकार वाले सन्दूकों से अलग नहीं कर पाते हैं।
3. **रंगों का प्रत्यक्षीकरण (Perception of Colour):** रंगों के प्रत्यक्षीकरण में दैहिक कारक अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। बालक को रंगों का प्रत्यक्षीकरण उस समय तक सही ढंग से नहीं होता है जब तक कि रेटिना में शंकुओं (Cones) का पर्याप्त विकास नहीं होता है। यह विकास तीन से चार माह की अवस्था से प्रारम्भ हो जाता है। इसलिये बालक काफी छोटी आयु से रंगों में विभेदीकरण करने लगता है। अध्ययनों में देखा गया है कि छोटे बच्चे विभिन्न रंग के खिलौनों में से किसी विशिष्ट रंग के खिलौनों को अधिक प्राथमिकता देते हैं। औसत रूप से बच्चे लाल, नीला, पीला, हरा आदि रंग पसन्द करते हैं। रंग के चुनाव में बालकों में व्यक्तिगत भिन्नताएं पाई जाती हैं। हण्ट (Hunt) के अनुसार दस वर्ष के बालक प्रारम्भिक रंगों को अधिक पसन्द करते हैं। रंगों की पसंद बालकों की भावनाओं से सम्बन्धित होती है। प्राथमिक रंगों के प्रत्यक्षीकरण का विकास दस वर्ष की अवस्था तक पूर्ण हो जाता है। मिश्रित रंगों का प्रत्यक्षीकरण अठारह वर्ष की अवस्था के बाद शुरू होता है।
4. **विस्तार का प्रत्यक्षीकरण (Perception of Volume):** जो वस्तु जितनी जगह घेरती है, वह उस वस्तु का विस्तार कहलाता है। इस सम्बन्ध में पियाजे ने अध्ययन के आधार पर बताया कि सात से आठ वर्ष के बालक किसी वस्तु के सम्बंध में इस प्रकार की क्रियाएं तो कर सकते हैं

कि कोई वस्तु कितनी अधिक या कम है परन्तु वास्तविक विस्तार का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर पाते हैं। एलकेट (Elket) ने बताया कि इस प्रकार का प्रत्यक्षीकरण बालक ग्यारह वर्ष की अवस्था के बाद कर पाता है। इस अवस्था में कुछ बच्चों में विस्तार के प्रत्यक्षीकरण का कुछ ज्ञान पाया जाता है। उन्होंने अपने अध्ययन में बताया कि ऐसे पायेप्रतिशत बच्चे 27 गए जिन्होंने विस्तार का प्रत्यक्षीकरण कर लिया था। विस्तार एक जटिल प्रत्यय है जिसका प्रत्यक्षीकरण देर से होता है।

5. **भार का प्रत्यक्षीकरण (Perception of Weight)** : भार का प्रत्यक्षीकरण आकार के प्रत्यक्षीकरण से भी कठिन होता है क्योंकि जब तक बालक को आकार, रचना आदि का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो पाता है तब तक उसे भार का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो पाता। विल्सेण्ट ने बताया कि बच्चों के हाथों से चीजें अधिक टूटती हैं क्योंकि उन्हें उनके भार का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो पाता है। बच्चों में वजन का प्रत्यक्षीकरण देर से होता है। शिशु छोटी वस्तुओं को हल्का एवं बड़ी वस्तुओं को भारी समझता है लेकिन धीरे-धीरे बाल्यावस्था तक आते-आते वस्तुओं के आकार एवं बनावट का स्पष्ट ज्ञान हो जाने पर उसे वजन का प्रत्यक्षीकरण होने लगता है। भार का प्रत्यक्षीकरण लगभग दस से बारह वर्ष की अवस्था में होने लगता है।
6. **दूरी का प्रत्यक्षीकरण (Perception of Distance)** : दूरी का प्रत्यक्षीकरण भार के प्रत्यक्षीकरण से कठिन होता है। दूरी के प्रत्यक्षीकरण में भ्रम की अधिक सम्भावना होती है, क्योंकि दूर की वस्तुएं छोटी एवं निकट की वस्तुएं बड़ी दिखायी देती हैं। इस सम्बंध में विल्सेण्ट ने एक उदाहरण दिया है कि बच्चों को ऊँचे स्थान पर ले जाया जाता है तो नीचे दिखने वाला शहर उनके गुड़ियों के घर जैसा दिखायी देने लगता है। यदि उनको इस वास्तविकता को बताया जाये तो वो यह मानने से मना करता है। वॉम का कथन है कि अपने शहर वर्ष के बच्चे 13-12 की परिचितजगहों की दूरी प्रायदी जाती है तो ठीक बता सकते हैं। यदि दूरियों की दिशा बदल : क्षीकरण नहीं हो पाता है उसे दूरी का प्रत्य जिससे उसमें त्रुटि हो जाती है।
7. **गहराई का प्रत्यक्षीकरण (Perception of Depth)** : बालक की आयु बढ़ने के साथ-साथ उसे गहराई का प्रत्यक्षीकरण होने लगता है। इस सम्बन्ध में गिब्सन ने अपने एक महत्वपूर्ण प्रयोग में बताया है कि बालक में गहराई का प्रत्यक्षीकरण जल्दी शुरू हो जाता है। उन्होंने प्रयोग के अन्तर्गत सात महीने और उससे बड़ी आयु के कुछ बच्चे लिये, उन बच्चों को एक जगह रखा गया तथा कुछ दूरी पर उनकी माताओं को बिठाया गया। बीच में एक शीशे को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया कि बच्चों को गहराई दिखायी दे सके। यह देखा गया कि बच्चे अपनी माँ

के पास जाने के लिये आगे बढ़े, लेकिन शीशे को देखकर गढ़वा समझकर रुक गए और बैठकर रोने लगे। इस प्रकार उन्होंने बताया कि गहराई का प्रत्यक्षीकरण बच्चों को बहुत शीघ्र होने लगता है।

- 8. समय का प्रत्यक्षीकरण (Perception of Time) :**समय का प्रत्यक्षीकरण सबसे देर में होता है। प्रारम्भ में समय का प्रत्यक्षीकरण बच्चों की आवश्यकताओं के अनुसार होता है। जैसे बच्चों को अपने खाने के समय का प्रत्यक्षीकरण शीघ्र हो जाता है लेकिन आयु वृद्धि के साथ-साथ उन्हें घण्टे, मिनट, सेकेण्ड का भी प्रत्यक्षीकरण होने लगता है। सात वर्ष के बच्चे वर्ष (year) का मतलब समझने लगते हैं। दस साल के बालक वर्तमान व आने वाले वर्ष की कल्पना कर सकते हैं। यही समय का प्रत्यक्षीकरण में बच्चे वर्ष की अवस्था 16-15घ्र बना लेते हैं। फलस्वरूप उन्हें समय का सही प्रत्यक्षीकरण होने लगता है। सात से आठ वर्ष के बच्चे घड़ी देखने की कोशिश करने लगते हैं परन्तु वे सही समय बताने में त्रुटि करते हैं। नौ से दस वर्ष की अवस्था में बच्चों में घड़ी देखने का प्रत्यक्षीकरण विकसित हो जाता है। औसत रूप से बालक में समय के प्रत्यक्षीकरण का विकास आठ वर्ष की अवस्था में हो जाता है।

113.4. प्रत्यक्षीकरण के विकास को प्रभावित करने वाले कारक

प्रत्यक्षीकरण के विकास को प्रभावित करने वाले निम्नलिखित कारक हैं :

- 1. पूर्व अनुभव (Past Experience):** जिस उद्दीपक के बारे में बालक को पहले से ज्ञान होता है और फिर वही उद्दीपक बालक के सामने उपस्थित होता है तो वह उसका प्रत्यक्षीकरण शीघ्र कर लेता है। अतः प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करता है। हम कह सकते हैं कि पूर्व अनुभव बालक के प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करता है।
- 2. ध्यान की सार्थकता (Significance of Attention):** जिस वस्तु पर व्यक्ति ध्यान देता है उस वस्तु का प्रत्यक्षीकरण वह शीघ्र कर लेता है। ध्यान को प्रभावित करने वाले सभी कारक प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करते हैं।
- 3. उद्दीपक की तीव्रता (Intensity of Stimulus):** उद्दीपक की तीव्रता का भी प्रत्यक्षीकरण पर प्रभाव पड़ता है। जो उद्दीपक अधिक तीव्र होता है उसका प्रत्यक्षीकरण भी उतना ही शीघ्र होता है।
- 4. उद्दीपक का स्वरूप (Nature of Stimulus):** उद्दीपक के स्वरूप का भी प्रत्यक्षीकरण पर प्रभाव पड़ता है। अध्ययनों से स्पष्ट है कि अन्य संवेदनाओं की अपेक्षा रंग एवं आवाज से सम्बन्धित उत्तेजनाओं पर व्यक्ति का ध्यान अपेक्षाकृत शीघ्र जाता है। जिसके परिणामस्वरूप

उनका प्रत्यक्षीकरण भी शीघ्र होता है। इसी प्रकार शब्दों की अपेक्षा चित्रों का प्रत्यक्षीकरण शीघ्र होता है।

5. **उद्दीपक का आकार (Size of Stimulus):** उद्दीपक का आकार जितना अधिक होता है, उसका प्रत्यक्षीकरण उतनी ही जल्दी हो जाता है।
6. **उद्दीपक की स्थिति (Location of Stimulus):** प्रत्यक्षीकरण पर उद्दीपक की स्थिति का भी प्रभाव पड़ता है। जैसे जो उद्दीपक आँखों के ठीक सामने स्थित होता है तो उसका प्रत्यक्षीकरण शीघ्र होता है।
7. **रुचि (Interest):** व्यक्ति का प्रत्यक्षीकरण उसकी रुचि के द्वारा भी प्रभावित होता है। जिस वस्तु में प्राणी की रुचि होती है उस पर उसका ध्यान शीघ्र जाता है तथा उसका प्रत्यक्षीकरण शीघ्र होता है।
8. **मानसिक झुकाव (Mental Setup):** जिन उद्दीपकों के प्रति व्यक्ति का मानसिक झुकाव होता है उनका प्रत्यक्षीकरण भी वह शीघ्र कर लेता है।
9. **मूल आवश्यकतायें (Basic Drives):** व्यक्ति को उन उद्दीपकों का प्रत्यक्षीकरण शीघ्र होता है जिनकी उसे आवश्यकता होती है। जैसे बच्चों को खाने और खेलने की वस्तुओं का शीघ्र प्रत्यक्षीकरण हो जाता है।
10. **अर्थपूर्ण (Meaningful):** जो उद्दीपक अर्थपूर्ण एवं स्पष्ट होते हैं उनकी ओर हमारा ध्यान शीघ्र जाता है तथा उसका प्रत्यक्षीकरण भी शीघ्र होता है।
11. **लक्ष्य (Aim):** जो उद्दीपक हमारे लक्ष्य से सम्बन्धित होता है उनकी ओर हमारा ध्यान शीघ्र जाता है। जिसके कारण उसका प्रत्यक्षीकरण आसानी से होता है।
12. **उद्दीपकों का एकाकीपन (Isolation of Stimulus):** जब बालक के सामने एक साथ अधिक उद्दीपक उपस्थित होते हैं, तो उसे उनका प्रत्यक्षीकरण करने में कठिनाई होती है। परन्तु एक ही उद्दीपक होने पर उसका प्रत्यक्षीकरण शीघ्र हो जाता है।

11.4 गिब्सन का प्रत्यक्षात्मक विकास का पारिस्थितिक सिद्धांत

गिब्सन ने प्रत्यक्षण की व्याख्या करने के लिए एक प्रत्यक्ष सिद्धान्त (Direct Theory) का प्रतिपादन किया। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान गिब्सन सेना वायु कॉर्प्स (Army Air Corps) में एक अफसर के रूप में कार्य करते थे जहाँ उनकी मुख्य भूमिका हवाई जहाज के उड़ने-उतरने के समय होने वाली समस्याओं का गहन रूप से अध्ययन करना था। इसी अध्ययन के दौरान उनके मन में एक

विचार आया जिसमें प्रत्यक्षण के प्रत्यक्ष सिद्धान्त की नींव थी। वह विचार था कि व्यक्ति के आँख के अक्षिपटल (retina) पर पड़ने वाली रोशनी अपने आप में काफी संगठित तथा ज्ञानप्रद होती है और उसे अर्थपूर्ण होने के लिए केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र द्वारा उसकी विस्तृत व्याख्या एवं विस्तार की आवश्यकता नहीं होती है। व्यक्ति के संवेदी तंत्र पर्यावरण से मिलने वाली सूचनाओं से अच्छी तरह सुमेलित होते हैं। अतः की जरूरत नहीं मददइसे अतिरिक्त :होती है।

1950के दशक में गिब्सन ने गठन प्रवणता (Texture gradient) तथा दृष्टि प्रवाह पैटर्न (Optical flow pattern) के संप्रत्यय को इसलिए विकसित किया ताकि उस पौराणिक विचार का खण्डन किया जाए कि अक्षिपटलीय प्रक्रियाओं (retinal processing) का उत्पाद जिसे अक्षिपटलीय प्रतिमा (retinal image) कहा जाता है, अपने आप में प्रत्यक्ष रूप उत्पन्न करने के लिए सक्षम नहीं है। गिब्सन का तर्क यह था कि चूँकि हम लोग अक्षिपटलीय प्रतिमा को नहीं देखते हैं, अतःउसके :।कार्य का वर्णन करने से फायदा नहीं पहुँचता है गिब्सन का मत था कि दृष्टि प्रत्यक्षण का आधार अक्षिपटलीय प्रतिमा नहीं होकर कुछ निश्चरों (invariant) का समूह होता है। अतःन का गिब्स : नहीं करता है कि किस तरह से अक्षिपटलीय प्रतिमाओंख्या की व्या इस तथ्यसिद्धान्तका मस्तिष्क द्वारा विश्लेषण किया जाता है ताकि वे प्रत्यक्षण का आधार बन सके। बल्कि इनका सिद्धान्त प्रत्यक्ष रूप से वातावरण में उपस्थित सूचनाओं के स्वरूप जो व्यक्ति को उपलब्ध हो पाते हैं, की व्याख्या करता है।

गिब्सन का मानना था कि हमारी आँख में जो रोशनी प्रवेश करती है, काफी संगठित (organic) एवं संरचित (structured) होती है। इस प्रश्न का उत्तर गिब्सन ने बहुत ही सीधे ढंग से दिया और कहा कि हमारी आँख में जो रोशनी प्रवेश करती है, वातावरण की वस्तुओं (objects) से परावर्तित (reflect) होती है, और इस रोशनी में इन वस्तुओं की सारी संगत सूचनाएं सम्मिलित होती हैं। चूँकि वातावरण की ऐसी वस्तुएं अपने आप में संगठित एवं संरक्षित होती हैं और रोशनी का परावर्तन (reflection) भी क्रमबद्ध ढंग से होता है, अतः ओं के गुणों का संगठनरोशनी में उन वस्तु : (organization) स्वयं आ जाता है। इस तरह से गिब्सन ने इस बात पर विशेष रूप से बल डाला कि प्रत्यक्षण को उस वातावरण को विश्लेषित करके ठीक ढंग से समझा जा सकता है जिसमें वह अनुकूलित हो चुका है। गिब्सन के लिए प्रत्यक्षण वातावरण को सक्रिय ढंग से खोजबीन करने तथा अपनी क्रियाओं को उसके साथ समायोजित करने से होता है, न कि वातावरण से मिलने वाले उद्दीपकों का निष्क्रय रूप से सिर्फ ग्रहण करने से।

गिब्सन द्वारा प्रत्यक्षण की इस तरह की व्याख्या से यह भी स्पष्ट है कि इन्होंने प्रत्यक्षण में अधिगम के महत्व को कम कर दिया है। इसके अनुसार वातावरण से मिलने वाली अस्पष्ट सूचनाओं की व्याख्या करना हमें सीखना नहीं होता है क्योंकि सूचनाएं अस्पष्ट होती ही नहीं हैं। पूर्व अनुभूतियाँ प्रत्यक्षण के लिए लाभदायक अवश्य होती हैं।

इस तरह प्रत्यक्षण का यह सिद्धान्त उन सिद्धान्तों से निश्चित रूप से भिन्न है जिसमें यह दावा किया जाता है कि प्रत्यक्षणकर्ता को अक्षिपटलीय प्रक्रियाओं की व्याख्या करना निश्चित रूप से सीखना आवश्यक होता है। गिब्सन ने दूसरी तरफ इस बात पर बल डाला कि प्रत्यक्षकर्ता को वातावरण में गति (Motion) के माध्यम से किस तरह से उच्च क्रम निश्चरों (higher order invariants) का ज्ञान होना चाहिए। इस तरह की गति से प्रत्यक्षणकर्ता को ज्यामितीय सतह के गठन जैसे किनारा (edges), कोना (corner), उत्तलता (convexities) तथा अवतलता (concavity) आदि का ज्ञान होता है। वस्तुओं के इन ज्यामितीय आकारों के ज्ञान को गिब्सन ने प्रत्यक्षणीय स्थान का प्रदर्शन (layout of perceivable space) कहा है। सभी प्रत्यक्षणीय स्थान या वस्तु का एक निश्चित प्रदर्शन (layout) होता है, जिससे होकर गुजरने से उनका ज्ञान मजबूत हो जाता है। इस तरह से दृष्टि प्रत्यक्षण के इस पारिस्थितिक संदर्भ (ecological perspective) में प्रत्यक्षणीय स्थान या वस्तु (perceivable space) के प्रदर्शन को विशिष्ट रूप से समझने पर बल दिया जाता है। इसमें प्रदर्शन की विशिष्टता पर सर्वाधिक बल दिया गया है।

गिब्सन ने अपने सिद्धान्त में एफोर्डेन्स (affordance) के संप्रत्यय का प्रतिपादन किया गया है जिसके माध्यम से परावर्तित रोशनी में वातावरण की विशेषताओं को अधिक विशिष्ट करने के कार्य को सरल बनाने का प्रयास किया गया है। एफोर्डेन्स से तात्पर्य विशिष्ट वस्तु के बारे में विभिन्न विशेषताओं या गुणों के एक पुलिंदे से होता है जो व्यक्ति को कुछ विशिष्ट प्रत्यक्षण करने में वातावरण में एक खास ढंग से आगे बढ़ने में मदद करता है। इसका अर्थ यह है कि एफोर्डेन्स किसी चीज या वस्तु की विशिष्टता को खास ढंग से वातावरण में आगे बढ़ने में मदद करता है। परावर्तित रोशनी से जो निश्चर व्यक्ति को प्राप्त होते हैं उनमें से कुछ निश्चरों को व्यक्ति धीरे-धीरे स्वीकार कर लेता है परंतु कुछ को स्वीकार नहीं कर पाता है। स्वीकृत निश्चर ही एफोर्डेन्स कहलाता है। कुछ एफोर्डेन्स ऐसे होते हैं जो मनुष्यों में ही अधिकतर पाये जाते हैं और जिसके कारण इनके प्रत्यक्षण में अपनी एक विशिष्टता उत्पन्न हो जाती है। जिस सीमा तक हम लोग इस तरह के एफोर्डेन्स से अवगत होते हैं हम लोग अपने मानसिक जीवन को उचित ढंग से प्रवाहित कर पाते हैं। मानसिक जीवन को उचित ढंग से प्रवाहित करने का अर्थ हुआ कि कुछ हद तक मन की अंतर्वस्तु हमारे

प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक तंत्र के स्वरूप से बाधित तथा प्रभावित होती है। ईजार्ड द्वारा किये गए अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ कि मानव आनन अभिव्यक्ति (Human Facial expression) में सार्वजनिकता पायी जाती है। विभिन्नताओं के बावजूद आनन अभिव्यक्ति समान ढंग से की जाती है। बासिली ने इस तथ्य की जाँच कुछ असाधारण प्रविधि द्वारा की। इस प्रविधि में पेशेवर अभिनेताओं के चेहरे पर एक काफी धीमी रोशनी को लटका दिया गया और उनसे कुछ विशेष संवेग को दर्शाने वाली आनन अभिव्यक्ति करने के लिए कहा गया। इस तरह की अभिव्यक्ति उन्हें एक अंधेरे कमरे में करनी थी ताकि सिर्फ रोशनी ही स्पष्ट रूप से नजर आए। इस दृश्य की फिल्म को प्रयोज्य को दिखलाया गया जिन्होंने आनन अभिव्यक्ति की सही पहचान करने में कोई कठिनाई नहीं महसूस की जबकि अभिनेताओं के चेहरे भली प्रकार दृश्य नहीं थे।

इन अध्ययनों से गिब्सन के कार्य को समर्थन प्राप्त होता है। मात्र प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक तंत्र वातावरण में घूमती वस्तुओं से सूचनाओं को खींच निकालने में सक्षम होते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मानव प्रत्यक्षा ज्ञानात्मक तंत्र कुछ विशेष तरह की गतियों (motives) से समस्वरित होती हैं क्योंकि इन गतियों की पहचान अनुकूल होती है।

11.5 गिब्सन के सिद्धांत का मूल्यांकन और अनुप्रयोग

गिब्सन के प्रत्यक्षण सिद्धान्त पर यदि हम ध्यान दें तो यह स्पष्ट होता है कि गिब्सन के इस सिद्धान्त से अब तक दृष्टि प्रत्यक्षण के बारे में चली आ रही अवधारणा खत्म हो गयी। अब तक दृष्टि प्रत्यक्षण की व्याख्या के लिए मनोवैज्ञानिकों द्वारा अक्षिपटलीय प्रतिमाओं के स्वरूप से ही संतुष्ट होना पड़ता था परन्तु अब गिब्सन के सिद्धान्त से यह उजागर हो गया कि दृष्टि प्रत्यक्षण के लिए वस्तुओं एवं धरातल से परावर्तित रोशनी को खास ढंग से संगठित होना अनिवार्य होता है। गिब्सन के इस सिद्धान्त की एक अन्य विशेषता यह है कि उन्होंने प्रत्यक्षण में सूचना संसाधन की भूमिका की अवहेलना की और इसी तरह से उन्होंने प्रत्यक्षण में मस्तिष्क की भूमिका के दैहिक लेखे-जोखे के महत्व को भी सीमित किया। गिब्सन के संदर्भ के अनुसार संवेदन एवं प्रत्यक्षण के बीच पाये जाने वाली हॉफडिंग अवस्था (Hoffding step) भी तब महत्वपूर्ण नहीं होती क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार संवेदी तंत्रिकीय घटना (sensory neural events) को प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक तंत्रिकीय घटना में बदलने की जरूरत नहीं होती है। एक ही तंत्रिकीय प्रक्रिया द्वारा संवेदन एवं प्रत्यक्षण दोनों की प्रक्रिया की व्याख्या हो जाती है।

इन सभी नये समाधानों के बावजूद गिब्सन के सिद्धान्त में कुछ समस्याएं हैं जो निम्न प्रकार हैं :

- गिब्सन ने प्रत्यक्षण की व्याख्या करने के लिए स्थापित एवं सत्यापित शब्दों तथा संप्रत्ययों का उपयोग नहीं करके कुछ विशेष शब्दों तथा संप्रत्ययों को विकसित किया है जिसे आम लोगों के लिए समझना थोड़ा कठिन है।
- गिब्सन सिद्धान्त के लिए प्रस्तावित आनुभाविक समर्थन का स्वरूप मिश्रित है। कुछ अध्ययनों के परिणाम से गिब्सन के निष्कर्ष को समर्थन मिलता है जबकि कुछ अध्ययनों के परिणाम से इनके निष्कर्ष को समर्थन नहीं मिलता। जैसे लैरिस एवं फ्लैक, 1970 द्वारा किये गये प्रयोगों के परिणाम से गिब्सन के सिद्धान्त को समर्थन मिलता है जबकि टॉय, 1986 द्वारा किये गये प्रयोग के परिणाम से इस सिद्धान्त को समर्थन नहीं मिलता है।
- गोल्डस्टीन, 1984 ने यह बताया कि यद्यपि गिब्सन ने यह दावा किया है कि गठन प्रवणता सदैव उपस्थित रहती है, कुछ ऐसी परिस्थितियां ऐसी होती हैं जिसमें गठन प्रवणता का पता लगाना काफी कठिन होता है।
- कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि गिब्सन के कार्य को एक पर्याप्तता विश्लेषण (sufficiency analysis) माना जा सकता है जिसमें यह तो पता चलता है कि किस तरह से किसी चीज को किया जा सकता है परंतु यह नहीं पता चलता है कि वह किस तरह से पूरा किया जाता है। जैसे गिब्सन का सिद्धान्त यह तो कहता है कि व्यक्ति को गहराई प्रत्यक्षण प्रत्यक्ष रूप से गति (motion) के माध्यम से होता है परंतु इससे यह व्याख्या नहीं होती है कि गति रहित होने पर गहराई का प्रत्यक्षण समाप्त क्यों नहीं हो जाता है।
- मार्र, 1982 ने अपने सिद्धान्त में जिन निश्चरों (Invariants) को प्रस्तावित किया था, उनके उपयोग एवं पहचान में होने वाली कठिनाइयों को जानबूझ कर कम महत्व दिया गया है।
- हेफ्ट, 1982 तथा हिल, 1979 ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह बतलाया कि गिब्सन ने अपने सिद्धान्त में मूल्य संसाधन प्रक्रिया को महत्वहीन बताया है परंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रत्यक्षणीय स्थान के प्रदर्शन (layout of perceivable space) के बारे में जब भी व्यक्ति जानने की कोशिश करता है तो उसमें मूल्य संसाधन की प्रक्रिया कुछ हद तक ही हो पाती है। इन परिसीमाओं या समस्याओं के बावजूद गिब्सन का यह प्रत्यक्ष सिद्धान्त जो पारिस्थितिक संदर्भ (ecological perspective) पर अधिक बल देता है, आज संज्ञानात्मक मनोवैज्ञानिकों के बीच एक लोकप्रिय सिद्धान्त है।

अभ्यास प्रश्न 1

1. सही अथवा गलत बताइए।
 - a. ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बालक की विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं के बाह्य ज्ञान को सांवेदनिक ज्ञान कहते हैं।
 - b. प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया एक जटिल संज्ञानात्मक मानसिक प्रक्रिया है और यह प्रक्रिया स्वतःघटित होती है। :
 - c. प्रत्यक्षीकरण प्रक्रिया असंरचित तथा असंगठित होती है।
 - d. प्रत्यक्षण एक चयनात्मक मानसिक प्रक्रिया है।
 - e. शिशु में रंगों का प्रत्यक्षीकरण देर से प्रारम्भ होता है। इसलिये बालक छोटी आयु में रंगों में विभेदीकरण नहीं कर पाता।
 - f. बच्चों में समय का प्रत्यक्षीकरण सबसे देर में होता है।

11.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने गिब्सन के प्रत्यक्षात्मक विकास के पारिस्थितिक सिद्धांत के बारे में जाना। गिब्सन का पारिस्थितिक सिद्धांत, विकास का एक सिद्धांत है जो के दशक के 1970 और 1960 दौरान अमेरिकी मनोवैज्ञानिक एलेनो जेगिब्सन द्वारा दिया गया था। वातावरण की अनेक उत्तेजनाएं बालक को अनुक्रिया करने के लिये निरन्तर उत्प्रेरित करती हैं। आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा तथा ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बालक की विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं के बाह्य ज्ञान को सांवेदनिक ज्ञान कहते हैं, परन्तु जब बालक अपनी मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा उस सांवेदनिक ज्ञान की व्याख्या करके उसे अर्थ प्रदान करता है तो इस प्रक्रिया को प्रत्यक्षीकरण कहते हैं। प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया एक जटिल संज्ञानात्मक मानसिक प्रक्रिया है और यह प्रक्रिया स्वतः घटित होती है। संवेदना के उत्पन्न होते ही मस्तिष्क प्राप्त सूचनाओं को प्रत्यक्ष ज्ञान में परिवर्तित कर देता है और हमें वातावरण के उस उद्दीपक का बोध होने लगता है। प्रत्यक्षीकरण का अनुभव संवेदनाओं और मस्तिष्क पर आधारित होता है। प्रत्यक्षण की कई विशेषताओं के बारे में प्रस्तुत अध्याय में बताया गया है जैसे उद्दीपक की उपस्थिति, उद्दीपक का तत्कालिक अनुभव, चयनात्मकता आदि। प्रत्यक्षीकरण के कई प्रकार हैं; आकृति का प्रत्यक्षीकरण, आकार का प्रत्यक्षीकरण, रंगों का प्रत्यक्षीकरण, विस्तार का प्रत्यक्षीकरण, भार का प्रत्यक्षीकरण, दूरी का प्रत्यक्षीकरण, गहराई का

प्रत्यक्षीकरण तथा समय का प्रत्यक्षीकरण। प्रत्यक्षीकरण के विकास को कई कारक प्रभावित करते हैं। गिब्सन के प्रत्यक्षण सिद्धान्त से यह स्पष्ट होता है कि इससे अब तक दृष्टि प्रत्यक्षण के बारे में चली आ रही अवधारणा खत्म हो गयी। गिब्सन ने प्रत्यक्षण में सूचना संसाधन (information processing) की भूमिका की अवहेलना की और इसी तरह से उन्होंने प्रत्यक्षण में मस्तिष्क की भूमिका के दैहिक लेखे को भी सीमित किया। जोखे के महत्व-

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सही अथवा गलत बताइए।

- सही
- सही
- गलत
- सही
- गलत
- सही

11.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रत्यक्षीकरण से क्या आशय है? इसका विकास किस प्रकार होता है?
2. प्रत्यक्षात्मक विकास का अर्थ स्पष्ट कीजिये तथा प्रत्यक्षीकरण के प्रकार एवं उनके विकास की विवेचना कीजिए।
3. प्रत्यक्षीकरण कितने प्रकार का होता है? वर्णन कीजिए।
4. प्रत्यक्षीकरण के विकास को प्रभावित करने वाले कारकों का उल्लेख कीजिए।
5. गिब्सन के सिद्धांत के मूल्यांकन और अनुप्रयोग की व्याख्या कीजिए।

खण्ड 5: बाल मार्गदर्शन, मनोवैज्ञानिक समायोजन और असामाजिक व्यवहार

इकाई 12: बाल निर्देशन

- 12.1 प्रस्तावना
- 12.2 उद्देश्य
- 12.3 बाल निर्देशन का अर्थ
- 12.4 निर्देशन की परिभाषाएँ
- 12.5 बाल निर्देशन के उद्देश्य
- 12.6 बाल निर्देशन की प्रकृति
- 12.7 बाल निर्देशन का कार्य क्षेत्र
 - 12.7.1 शैक्षिक निर्देशन
 - 12.7.2 व्यवसायिक निर्देशन
 - 12.7.3 व्यवहारिक निर्देशन
 - 12.7.4 विकासात्मक निर्देशन
 - 12.7.5 उपव्यवसायिक निर्देशन
 - 12.7.6 स्वास्थ्य निर्देशन
- 12.8 बाल निर्देशन का महत्व
- 12.9 सारांश
- 12.10 पारिभाषिक शब्दावली
- 12.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 12.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 12.13 निबन्धात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

मनुष्य के भीतर एक ऐसी क्षमता विद्यमान है जिससे वह दूसरों से परामर्श ले सकता है और दूसरों को परामर्श एवं निर्देशन प्रदान कर सकता है। वह अपने सामान्य एवं संकट के क्षणों में एक-दूसरे की मदद करने के लिए अपेक्षित निर्देशन देता है जिससे उसकी वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवनधारा निर्वाध रूप से चलती रहती है। निर्देशन अर्थात् दिशा दिखाने की प्रवृत्ति हर सामाजिक व्यवस्था में किसी न किसी रूप में कार्यशील रही है। इसका वर्तमान स्वरूप 20वीं शताब्दी की देन है।

वैसे तो निर्देशन का अर्थ बताने के लिए भिन्न-भिन्न मत देखने को मिलते हैं फिर भी निर्देशन को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि निर्देशन एक ऐसी क्रिया है जिसमें कुछ विशेष प्रकार के निर्देशन कर्मियों के माध्यम से व्यक्ति को उसकी समस्या तथा विकल्प बिन्दुओं से निपटने में अपेक्षित राय एवं सहायता प्रदान की जाती है। बाल निर्देशन एक ऐसी अवस्था है जिसमें बच्चे को अपने आप को समझ पाने अपनी योग्यताओं तथा सीमाओं के अन्तर्निहित समर्थ्य को समझने एवं उसी स्तर के कार्य-कलापों को करने में सक्षम बनाता है। बाल निर्देशन प्रत्येक अवस्था की समस्याओं के समाधान में सहायक सिद्ध होने के अतिरिक्त आगामी समस्याओं की पूर्व तैयारी में भी विशेष सहायक होता है। निर्देशन किसी व्यक्ति की आयु या अवस्था से बँधा हुआ नहीं होता है। यह जीवन पर्यन्त विद्यमान रहने वाली आवश्यकता है। निर्देशन बच्चों, किशोर, प्रौढ़ों एवं वृद्धों सभी के लिए महत्वपूर्ण होता है। निर्देशन की प्रक्रिया के अन्तर्गत निर्देशन प्राप्त करने वाले व्यक्ति में निहित विशेषता को तथा शैक्षिक, व्यवसायिक एवं वैयक्तिक क्षेत्र से सम्बन्धित जानकारी का समन्वित अध्ययन आवश्यक है। कुछ विद्वान निर्देशन और शिक्षा दोनों को ही एक दूसरे के पूरक मानते हैं।

निर्देशन का महत्व मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होता है। निर्देशन व्यक्ति की पूर्णता के साथ-साथ उसके समस्त विकास, उसकी प्रसन्नता, समाज में उसकी सार्थकता बढ़ाने के उद्देश्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वर्तमान में निर्देशन की उपयोगिता के आधार पर उसका कार्यक्षेत्र दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा है। शिक्षा, व्यक्तिगत समस्याएँ, व्यवसायिक, स्वास्थ्य, विकास की प्रक्रिया एवं चिकित्सा के ये विभिन्न क्षेत्र हैं, इन सभी क्षेत्रों में निर्देशन की विशेष आवश्यकता होती है।

निर्देशन का व्यक्ति के जीवन में महत्व अत्यधिक बढ़ता जा रहा है। जैसा ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि जीवन के अनेक क्षेत्रों में आज इसकी उपयोगिता बढ़ गयी है। चाहे व्यवसाय का क्षेत्र हो या सामाजिक क्षेत्र, व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान में भी निर्देशन की आवश्यकता पड़ती है।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;

- बाल निर्देशन का अर्थ;
- बाल निर्देशन के प्रमुख उद्देश्य;
- बाल निर्देशन की प्रकृति एवं उसके कार्य क्षेत्र; तथा

- बाल निर्देशन का व्यक्ति के जीवन में महत्व।

12.3 बाल निर्देशन का अर्थ

बाल निर्देशन का अर्थ है एक व्यक्ति द्वारा किसी बच्चे को निर्देशित करना। निर्देशन आदेश से भिन्न होता है, क्योंकि आदेश में अधिकार भाव की प्रधानता होती है। जबकि निर्देशन एक प्रकार का सलाह या सुझाव होता है। निर्देशन का तात्पर्य होता है किसी व्यक्ति या बालक को दी जाने वाली सहायतार्थ सलाह। निर्देशन बुद्धिमत्तापूर्ण चयन एवं समायोजन के लिए दिया जाता है। बाल निर्देशन किसी बच्चे की आवश्यकता को ध्यान में रखकर न मागे जाने पर भी स्वतः उपलब्ध करायी जाने वाली सहायता होती है, जो बच्चे को विभिन्न प्रकार की समस्याओं के समाधान हेतु समर्थ बनाती है।

निर्देशन एक ऐसा समप्रत्यय है जो न तो सरल है और न ही आसानी से समझे जाने योग्य है। निर्देशन किसी व्यक्ति की आयु या अवस्था से बँधा हुआ नहीं होता है। प्रत्येक अवस्था में निर्देशन उस अवस्था विशेष की समस्याओं के समाधान में सहायक सिद्ध होने के अतिरिक्त अगली अवस्थाओं की सम्भावित समस्याओं के लिए पूर्व तैयारी हेतु भी सहायता देता है।

बाल निर्देशन की प्रक्रिया के अन्तर्गत निर्देशन प्राप्त करने वाले बच्चे में निहित विशेषताओं तथा शैक्षिक, व्यवसायिक एवं वैयक्तिक क्षेत्र से सम्बन्धित जानकारी का समन्वित अध्ययन आवश्यक है। कुछ विद्वानों के अनुसार निर्देशन एवं शिक्षा दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। निर्देशन को सहायता प्रदान करने वाली प्रक्रिया के रूप में भी प्रदर्शित किया जाता है। जब निर्देशन को शिक्षा की उपप्रक्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं तब निर्देशन की भूमिका का विशेष महत्व होता है। शिक्षा के क्षेत्र में निर्देशन के इस रूप का उद्देश्य छात्रों हेतु निर्धारित किए गये लक्ष्यों की प्राप्ति करना माना जाता है।

12.4 निर्देशन की परिभाषाएँ

निर्देशन को परिभाषित करने वाले कुछ विद्वानों के कथन इस प्रकार हैं -

शर्ले हैमरिन के अनुसार- “व्यक्ति के स्वयं के पहचानने में इस प्रकार सहायता प्रदान करना, जिससे वह अपने जीवन में आगे बढ़ सके। इस प्रक्रिया को निर्देशन कहा जाता है”।

लेस्टर डी क्रो ने अपनी पुस्तक 'एन इंट्रोडक्सन टू गाइडेन्स' में निर्देशन को परिभाषित करते हुए लिखा है - "निर्देशन से तात्पर्य, निर्देशन के लिए स्वयं निर्णय लेने की अपेक्षा निर्णय कर देना नहीं है और न ही दूसरे के जीवन का बोझ ढोना है। इसके विपरित योग्य एवं प्रतिक्षित व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति को चाहे व किसी भी आयु वर्ग का हो अपनी जीवन क्रियाओं को स्वयं गठित करने, अपने निजी दृष्टिकोण विकसित करने, अपने निर्णय स्वयं ले सकने तथा अपना भार स्वयं वहन करने में सहायता करना ही वास्तविक निर्देशन है।"

आर्थर जे० जॉन्स के शब्दों में - "निर्देशन एक प्रकार की सहायता है, जिसके अन्तर्गत एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को उसके समक्ष आए विकल्पों के चयन, समायोजन एवं समस्याओं के समाधान के प्रति सहायक होता है। यह निर्देशन प्राप्त करने वाले व्यक्ति में स्वाधीनता की प्रवृत्ति एवं अपने उत्तरदायी बनने की योग्यता में वृद्धि लाती है। यह विद्यालय अथवा परिवार की परिधि में आबद्ध न रहकर एक सार्वभौम सेवा का रूप स्वयं धारण कर लेती है। यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र यथा परिवार व्यापार एवं उद्योग, सरकार, सामाजिक जीवन, अस्पताल व कारागृहों में व्यक्त होती है। वस्तुतः निर्देशन का क्षेत्र प्रत्येक ऐसी परिस्थिति में विद्यमान होता है जहां इस प्रकार के व्यक्ति हो जिन्हें सहायता की आवश्यकता हो और जहाँ सहायता प्रदान करने की योग्यता रखने वाले व्यक्ति हों।"

गाइडेन्स कमेटी ऑफ सॉल्ट लेक सिटी स्कूल ने निर्देशन को परिभाषित करते हुए लिखा है कि - "वास्तविक अर्थ में प्रत्येक प्रकार की शिक्षा के अन्तर्गत किसी न किसी प्रकार का निर्देशन व्याप्त है। इसके द्वारा शिक्षा को वैयक्तिक बनाने की चेष्टा प्रकट होती है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक शिक्षक का यह उत्तरदायित्व है कि अपने छात्र की रुचियां, योग्यताओं एवं भावनाओं को समझे, वह उसकी आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए शैक्षिक कार्यक्रमों में अनुकूल परिवर्तन लाये।" दूसरे अर्थ में, निर्देशन का एक विशेष प्रकार की सेवाओं की श्रृंखला कहा जाता है। इसके अन्तर्गत विद्यालयी कार्यक्रम को प्रभावी बनाने के लिए वे क्रियायें सम्मिलित की जाती हैं जो छात्रों की आवश्यकताओं को पूरा सकें इसके अन्तर्गत निम्नलिखित योजनाएँ उल्लेखनीय हैं-

1. छात्रों की वास्तविक आवश्यकताओं एवं समस्याओं की जानकारी प्राप्त करना।
2. छात्रों के सम्बन्ध में प्राप्त सूचनाओं के आधार पर उनकी वैयक्तिक आवश्यकताओं के अनुदेशन को अनुकूलित करने में सहायता प्राप्त करना।

3. शिक्षकों में बालक की वृद्धि एवं विकास के सम्बन्ध में अधिकाधिक अवबोध की क्षमता का विकास करना।

4. विशिष्ट सेवायें यथा-अभिविन्यास, वैयक्तिक तालिका, उपबोधन, व्यवसायिक सूचना, समूह निर्देशन, स्थापन स्नातकों व शिक्षा से वंचित छात्रों के अनुवर्तन इत्यादि का प्रावधान करना।

5. कार्यक्रम की सफलता ज्ञात करने वाले शोधों का संचालन।

डब्लू0एल0 रिन्कल व आर0एल0 गिलक्रिस्ट के अनुसार - “निर्देशन का आशय है - छात्र में उपयुक्त एवं प्राप्त हो सकने योग्य उद्देश्यों के निर्धारण कर सकने तथा उन्हें प्राप्त करने हेतु वांछित योग्यताओं का विकास कर सकने में सहायता प्रदान करना व प्रेरित करना। इसके आवश्यक अंग इस प्रकार हैं- उद्देश्य का निरूपण, अनुकूल अनुभवों का प्रावधान करना, योग्यताओं का विकास करना तथा उद्देश्यों की प्राप्ति करना। बुद्धिमत्तापूर्ण निर्देशन के अभाव में शिक्षण को उत्तम शिक्षा की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है तथा अच्छे शिक्षण के अभाव में दिया गया निर्देशन भी अपूर्ण होता है। इस प्रकार शिक्षण एवं निर्देशन एक दूसरे के पूरक है।”

अमेरिका की वोकेशनल गाइडेन्स एसोसिएशन ने निर्देशन को परिभाषित करते हुए लिखा है- “निर्देशन वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति को विकसित करने, अपने सम्बन्ध में पर्याप्त व समान्वित करने तथा कार्य क्षेत्र में अपनी भूमिका को समझने में सहायता प्राप्त होती है। साथ ही इसके द्वारा व्यक्ति अपनी इस धारणा को यथार्थ में परिवर्तित कर देता है।”

मायर्स के अनुसार- “निर्देशन व्यक्ति की जन्मजात शक्तियों व प्रशिक्षण से अर्जित क्षमताओं को संरक्षित रखने का एक मूल प्रयास है। इस संरक्षण के लिए वह व्यक्ति को उन समस्त साधनों से सम्पन्न बनाता है, जिससे वह अपनी तथा समाज की संतुष्टि के लिए अपनी उच्चतम शक्तियों का अन्वेषण कर सके।”

ट्रेक्सर के अनुसार- “निर्देशन वह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यताओं एवं खामियों को समझने, उन्हें यथासम्भव विकसित करने, उन्हें जीवन लक्ष्यों से संयुक्त करो तथा अंततः अपनी सामाजिक व्यवस्था के वांछनीय सदस्य की दृष्टि से एक पूर्ण एवं परिपक्व आत्म-निर्देशन की स्थिति तक पहुँचने में सहायक होता है।”

स्किनर के अनुसार- “निर्देशन नवयुवकों को अपने से, दूसरों से और परिस्थितियों से सामंजस्य करना सीखने के लिए सहायता देने की प्रक्रिया है।”

टाइडमैन के अनुसार- “निर्देशन का लक्ष्य लोगों को उद्देश्यपूर्ण बनने में न केवल उद्देश्यपूर्ण क्रिया में सहायता देना है।”

निर्देशन के सन्दर्भ में उपलब्ध जो अनेक परिभाषाएँ ऊपर प्रस्तुत की गयीं हैं उसके कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु अग्रलिखित हैं-

1. निर्देशन का उद्देश्य लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में गति करना है।
2. निर्देशन एक शैक्षिक, सतत, सुव्यवस्थित व क्रमबद्ध प्रक्रिया होती है।
3. निर्देशन एक व्यक्ति द्वारा अन्य दूसरे व्यक्ति को दी जाने वाली ऐसी सहायता है जिसे एक व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है और दूसरा व्यक्ति देने को तत्पर होता है।
4. निर्देशन देने वाला पर्याप्त सामर्थ्य, बौद्धिक तथा प्रभावशाली व्यक्ति का होना चाहिए, जबकि निर्देशन प्राप्त करने वाला व्यक्ति ग्रहीता स्वभाव का होना आवश्यक है।
5. निर्देशनदाता पर्याप्त प्रशिक्षण एवं योग्यता प्राप्त होना चाहिए।
6. निर्देशन किसी आयु वर्ग या अवस्था विशेष तक सीमित नहीं है और उसे किसी भी व्यक्ति को दिया जा सकता है।
7. निर्देशन प्रक्रिया में अनेक अभिग्रह या मान्यताएँ व अभिमत तथा सिद्धान्त भी सम्मिलित किये जाते हैं। अर्थात् निर्देशन में इन सबका भी ध्यान रखा जाता है।
8. निर्देशन आदेश, नियन्त्रण तथा पर्यवेक्षण में पूरी तरह अलग प्रकार की प्रक्रिया है।
9. निर्देशन में व्यक्ति में सम्मान, स्वतंत्रता, अधिकार, गरिमा (प्रतिष्ठा) योग्यता आदि का भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता है।
10. निर्देशन एक प्रकार की विभिन्न साधनों हेतु व्यक्ति की सामर्थ्य तथा उसके योग्यता को विकसित करने वाली प्रक्रिया मात्र है।

11. निर्देशन से व्यक्ति को आत्मसंतुष्टि व आत्मसिद्धि जैसा संतोष भी प्राप्त होता है जो कि उसके मनोबल वृद्धि में सहायक होता है।
12. निर्देशन शिक्षा की एक आवश्यक कड़ी है जिसके बिना शिक्षण-प्रशिक्षण सम्भव नहीं हो सकता।

12.5 बाल निर्देशन के उद्देश्य

बाल निर्देशन के प्रकार्यात्मक पक्ष के वर्णन में निर्देशन के उद्देश्यों का उल्लेख सहायक सिद्ध होगा। क्रिबिन ने निर्देशन के उद्देश्यों को परम् उद्देश्यों और समीपस्थ उद्देश्यों के रूप में दो वर्गों में विभाजित किया है-

बाल निर्देशन के परम उद्देश्य

1. बच्चे का पूर्णतः परिष्कृत विकास
2. बच्चे का सर्वोत्तम विकास
3. अधिकतम सम्भव विकास
4. पूर्ण एवं संतुलित विकास
5. शारीरिक, बौद्धिक, संवेगिक, सामाजिक और नैतिक विकास
6. विस्तृत विकास
7. आत्म निर्देशनात्मक विकास और वैयक्तिक परिवक्वता का विकास
8. बच्चे को बेहतर जीवन जीना सिखाना
9. वैयक्तिक प्रसन्नता और सामाजिक निपुणता
10. बच्चे को आत्मावलम्बी बनाना
11. बच्चे को आत्म-संयमी बनाना
12. बच्चे को आन्तरिक संसाधनों से परिपूर्ण बनाना

बाल निर्देशन के समीपस्थ उद्देश्य

बाल निर्देशन के समीपस्थ उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. बालकों में अपने लक्ष्यों का बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से चयन करने की क्षमता का विकास करना।
2. बालकों में पहल शक्ति, जिम्मेदारी, आत्मदिशा एवं आत्मनिर्देशन का विकास करना।
3. बालकों को स्वयं अपने विषय, विद्यालय के बारे में अभिज्ञान का विकास कराना तथा इस योग्य बनाना कि विद्यालय में बालक अपनी उपलब्धियों आदि के कारण जाना जाए।
4. बालकों के जीवन में आने वाले संकटों के पूर्वानुमान करने, उनका परिहार करने तथा उनसे बचाव करने की योग्यता का विकास करना।
5. अध्यापकों को अधिक प्रभावी शिक्षण सम्पन्न करने हेतु सहयोग प्रदान करना।
6. बालकों को विद्यालय तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में समायोजन स्थापित करने हेतु सहायता प्रदान करना।
7. बालकों को उनकी अपनी समस्याओं की पहचान करने के योग्य बनाना। समस्याओं को समझने तथा समाधान करने की प्रक्रिया में उनकी सहायता करना।
8. जीवन की संकटकालीन परिस्थितियों में विवेकपूर्ण चयन करने योग्य बनाने तथा परिस्थितियों की व्याख्या करने में बच्चों को सहयोग देना।
9. बालकों के भावी जीवन में समुत्पन्न होने वाली अनेक समस्याओं के समाधान हेतु आवश्यक अन्तर्दृष्टि एवं तकनीकी सामर्थ्य अर्जित करने के लिए सहयोग प्रदान करना।
10. विद्यालय के सभी कार्यक्रमों के प्रति अपना अधिकतम योगदान सम्भव बनाने हेतु विद्यालय प्रबन्धकों को अधिक दक्षतापूर्वक प्रशासन सम्पादित करने के लिए सहायता देना।
12. इनके अलावा निर्देशन के अन्य समीपस्थ लक्ष्यों के अन्तर्गत परिवारों की सहायता करना, नैतिक चरित्र के विकास में समुदायों की सहायता करना, बेहतर मानवीय सम्बन्धों को प्रोत्साहन देना

और पोषण करना, तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझदारी के विकास को भी निर्देशन के समीपस्थ उद्देश्यों के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है।

अभ्यास प्रश्न 1

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।
 - a. बाल निर्देशन का एक समीपस्थ उद्देश्य है; बालकों को अपने लक्ष्यों का बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से चयन करने की का विकास करना।
 - b. बाल निर्देशन का परम उद्देश्य है; आत्म निर्देशनात्मक विकास और वैयक्तिक का विकास।

12.6 बाल निर्देशन की प्रकृति

बाल निर्देशन एक प्रक्रिया है तथा इसका मूर्त स्वरूप एक विशेष प्रकार की सेवा में परिलक्षित होता है। इसके अन्तर्गत एक अधिक जानकार, कुशल एवं प्रबुद्ध व्यक्ति किसी बच्चे को उसके व्यक्तिगत, शैक्षिक, व्यवसायिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में मदद प्रदान करता है तथा उसमें अपेक्षित जानकारी एवं निपुणता विकसित कर उसकी प्रभाविता एवं सफलता की सम्भावना को अधिक से अधिक बढ़ाता है।

बाल निर्देशन की प्रकृति दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्यों में सहजता से आंकी जा सकती है। दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में इसे व्यक्ति के पूर्णतम विकास का पोषक, उसकी स्वाभाविक शक्तियों का संरक्षक तथा जीवनपर्यन्त चलने वाली गतिशील प्रक्रिया का द्योतक माना जाता है। इस रूप में बाल निर्देशन को बच्चे के जीवन की अटूट धारा के रूप में उपकल्पित किया जाता है। मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में बाल निर्देशन एक अन्तः क्रियात्मक व्यापार है जिसके जरिये एक विशेषज्ञता प्राप्त व्यक्ति किसी बच्चे को परामर्श एवं अपेक्षित जानकारी प्रदान कर उसकी सामाजिक, व्यवसायिक एवं शैक्षिक परिस्थितियों से समंजन की प्रक्रिया को सरल एवं सहज बनाने में मदद देता है। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में बाल निर्देशन एक सामाजिक कार्य है, जिसके तहत एक व्यक्ति किसी बच्चे का सहायक बनकर समाज कल्याण के अवसरों में विस्तार करता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर बाल निर्देशन की प्रकृति के बारे में निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है;

1. निर्देशन की कार्यपद्धति 'व्यक्ति' या 'समूह' दोनों पर केन्द्रित हो सकती है।
2. निर्देशन क्रिया का स्वरूप एक जैसा न होकर बहुपक्षीय होता है।
3. निर्देशन का तात्कालिक लक्ष्य सेवार्थी की मौजूदा समस्या का हल प्राप्त कर सकने में मदद देना है, जबकि इसका चरम उद्देश्य उसे "आत्म निर्देशन" की ओर अग्रसर करना है।
4. निर्देशन का सम्बन्ध व्यक्ति के व्यक्तित्व सम्बन्धी सभी पक्षों यथा शारीरिक, मानसिक, सांवेगिक एवं सामाजिक से है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति की अभिरूचियों एवं आकर्षणों पर विशेष ध्यान अपेक्षित है।
5. किसी भी परिस्थिति में निर्देशन की सेवाओं का उद्देश्य व्यक्ति का किसी कार्य विशेष से समायोजन कायम करना है।
6. निर्देशन का वस्तुनिष्ठ स्वरूप तब निखरता है जब इसके अन्तर्गत व्यक्ति को अपने बारे में जानकारी बढ़ाने का आधार किसी न किसी प्रकार की परीक्षा या परख पर निर्भर करता है।
7. निर्देशन में व्यक्ति एवं समाज दोनों के कल्याण सुनिश्चित करने पर बल दिया जाता है, जिससे यह मूलतः सामाजिक प्रक्रिया के रूप में गतिशील होता है।

12.7 बाल निर्देशन का कार्यक्षेत्र

बाल निर्देशन एक आन्दोलन के रूप में व्यक्ति के व्यासायिक एवं समायोजनात्मक विकास हेतु आरम्भ किया गया था। लेकिन धीरे-धीरे बाल निर्देशन के क्षेत्र का विस्तार होता गया और बाल निर्देशन शिक्षा प्रणाली का अभिन्न अंग बन गया है। निर्देशन व्यक्ति की पूर्णता के साथ, उसके समग्र विकास के साथ, उसकी प्रसन्नता के साथ, समाज में व्यक्ति को महत्वपूर्ण बनाने के उद्देश्य के साथ जुड़ गया। इस प्रकार निर्देशन के कार्य क्षेत्र का विकास अनेक दिशाओं में सम्पन्न हुआ। निर्देशन के क्षेत्र को छः प्रमुख की श्रेणियों के अन्तर्गत विभाजित किया जाता है-

1. शैक्षिक निर्देशन

2. व्यवसायिक निर्देशन
3. व्यक्तिगत निर्देशन
4. विकासात्मक निर्देशन
5. उपव्यवसायिक निर्देशन या विश्रामकाल सम्बन्धी निर्देशन या मनोरंजन निर्देशन
6. स्वास्थ्य निर्देशन।

12.7.1 शैक्षिक निर्देशन

जॉर्ज एफ0 मायर्स ने शैक्षिक निर्देशन को एक प्रक्रिया बताया है जिसका सम्बन्ध एक ओर अपनी समस्त प्रभेदक विशिष्टताओं सहित एक विद्यार्थी और दूसरी ओर अवसरों एवं आवश्यकताओं के विभिन्न समूह के मध्य व्यक्ति के विकास या शिक्षा हेतु अनुकूल विन्यास स्थापित करने से है। शैक्षिक निर्देशन की आवश्यकता तब पड़ती है जब विद्यार्थी के सामने और भी पर्याप्त विकल्प होते हैं।

शैक्षिक निर्देशन के क्षेत्र में निर्देशन प्रक्रिया का उपयोग अनेक प्रकार से किया जाता है-

1. वांछित पाठ्यक्रम पर आधारित विषयों का चयन करने में।
2. पाठ्य सहगामी क्रियाओं के चयन हेतु।
3. नवीन पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में निर्णय लेने में।
4. अधिगम प्रक्रिया के निरन्तर अपेक्षित उपलब्धि बनाये रखने की दृष्टि से।
5. राष्ट्रीय एकता पर आधारित कार्यक्रमों के भाग लेने हेतु प्रेरित करने की दृष्टि से।
6. अव्यय एवं अवरोधन की समस्या का समाधान करने के लिए।
7. प्रौढ़शिक्षा पर आधारित कार्यक्रमों की दिशा में प्रेरित करने हेतु आदि।

12.7.2 व्यवसायिक निर्देशन

मायर्स के अनुसार - “व्यवसायिक निर्देशन मूलतः युवकों की अमूल्य क्षमताओं तथा विद्यालयों द्वारा उन्हें प्रदान किये जाने वाले महँगे प्रशिक्षण को संरक्षित करने का प्रयत्न है। यह मानवीय संसाधनों में से सर्वाधिक कीमती संसाधन को संरक्षित करने हेतु व्यक्ति को वहाँ उस क्षेत्र में निवेश करने और उपयोग करने में सहयोग प्रदान करता है, जहाँ उसे अपने लिए सर्वाधिक प्रसन्नता एवं संतुष्टि और समाज को सर्वाधिक लाभ हो।”

व्यवसायिक निर्देशन का उद्देश्य व्यक्ति तथा समाज या व्यवसायिक संगठन दोनों के हितों की रक्षा करना है। इस प्रकार के निर्देशन से व्यक्ति को जीविका/व्यवसाय सम्बन्धी समस्याओं के समाधान हेतु निर्देशन दिया जाता है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति को जीविकोपार्जन के माध्यम/व्यवसाय के चयन करने, व्यवसाय हेतु तैयारी करने, उसमें प्रविष्ट होने तथा उसमें सहयोग प्रदान किया जाता है।

12.7.3 व्यक्तिगत निर्देशन

इसके अन्तर्गत व्यक्ति से सम्बन्धित शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं सांवेगिक विकास से जुड़ी हुई विशेषताओं का अध्ययन व्यक्ति की विशेष परिस्थितियों का जायजा तथा अपसमंजनकारी के मूल्यांकन पर बल दिया जाता है।

रॉबर्ट एच0 मैथ्यूसन के अनुसार - व्यक्तिगत निर्देशन व्यक्तियों को चयन करने, नियोजन और समायोजन तथा प्रभावशाली आत्म निर्देशन करने और व्यक्तिगत जीवन की समस्या का सामना करने में प्रदान किये जाने वाले व्यवस्थित व्यवसायिक सहयोग की प्रक्रिया है।”

निर्देशन के इस क्षेत्र विशेष के अन्तर्गत निम्न निर्देशन आते हैं;

1. विद्यालय/कालेज/विश्वविद्यालय के प्रांगण में विद्यार्थियों के समक्ष प्रकट होने वाली सांवेगिक समस्याएँ।
2. व्यक्तिगत जीवन के अन्दर की उलझनें।
3. सामाजिक जीवन में आने वाली समायोजनात्मक समस्याओं को सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक समायोजन पारिवारिक समायोजन, वैवाहिक समायोजन, अवकाश के क्षणों के साथ समायोजन, भविष्य एवं अल्पकालिक कार्य क्षेत्रों में समायोजन, स्वास्थ्य समायोजन आदि अनेक क्षेत्र व्यक्तिगत समायोजन की सीमा में सम्मिलित किए जाते हैं।

12.7.4 विकासात्मक निर्देशन

विकास प्रक्रिया में सम्बन्धित समस्याओं या प्रश्नों के समाधान के लिए दिये जाने वाले निर्देशन को विकासात्मक निर्देशन कहते हैं। इसमें निर्देशन व्यक्ति को अपने सर्वोत्तम ढंग से विकसित होने में सहयोग करता है।

व्यक्ति की विकास प्रक्रिया में निम्न बिन्दुओं पर मुख्यतः निर्देशन किया जा सकता है;

1. सामाजिक रूप में स्वयं को विकसित कर वयस्कता अर्जित करना।
2. जीवकोपार्जन हेतु स्वयं को तैयार करना।
3. वयस्कों व बड़ों से सांवेगिक स्वतंत्रता प्राप्त करना।
4. आर्थिक रूप से स्वालम्बन व स्वतंत्रता को प्राप्त करना।
5. पारिवारिक व वैवाहिक जीवन तथा उसके उक्त दायित्वों को समझना एवं स्वयं को उसके लिए तैयार करना।
6. बौद्धिक क्षमता व सम्प्रत्यय स्तर को तैयार करना।
7. व्यक्ति के विविध मूल्यों तथा नैतिकता आदि की पृष्ठभूमि को तैयार करना।
8. सामाजिक भूमिका को महिला पुरुष की विविधता के साथ अर्जित करना अर्थात् स्त्री पुरुष दोनों की सामाजिक भूमिका को पूर्णता से जानना।
9. अपने आयुवर्ग के साथ या विषम लिंगियों के साथ उपयुक्त व स्वास्थ्य सम्बन्ध को सहजता से विकसित करना।

12.7.5 उपव्यवसायिक निर्देशन

निर्देशन के इस क्षेत्र को उपव्यवसायिक निर्देशन के अतिरिक्त अवकाश काल निर्देशन या मनोरंजन निर्देशन भी कहते हैं। व्यक्ति के जीवन में प्रतिदिन कुछ घण्टे अथवा सप्ताह या महीने में कुछ एक दिन फुर्सत के होते हैं, जबकि उसे अपनी दैनिक व्यस्तता, शिक्षा या व्यवसाय से अवकाश प्राप्त रहता है, जिसमें वह मनोरंजन प्राप्त करने के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार के कार्य करता है। कोई व्यक्ति अपना अवकाश कैसे व्यतीत करता है, अवकाश काल कितने उपयोगी एवं सुखदायी ढंग से व्यतीत

करता है, उसका महत्व कार्य काल के लिए भी होता है। यदि फुर्सत के क्षणों को प्रभावशाली ढंग से मनोरंजन, शौक शारीरिक-सामाजिक गतिविधियां में इस प्रकार व्यतीत किया जाए की व्यक्ति को सुख की अनुभूति प्राप्त हो समाज के अन्य वर्गों को लाभ पहुँचे और समय का सदुपयोग होने की अनुभूति अर्जित हो तो कार्य के समय व्यक्ति के निष्पादन स्तर में भी सुधार होता है। इसलिए उपव्यवसायिक निर्देशन महत्वपूर्ण है।

12.7.6 स्वास्थ्य निर्देशन

स्वास्थ्य के सन्दर्भ में दिये जाने वाला निर्देशन स्वास्थ्य निर्देशन कहलाता है। स्वास्थ्य निर्देशन जीवनशैली के विकृत रूप में अति महत्वपूर्ण होता जा रहा है। आज अधिकांश व्यक्ति शारीरिक या मानसिक अथवा दोनों ही प्रकार से कम या अधिक रूप में स्वास्थ्य समस्याओं में घिरे हुए हैं। स्वास्थ्य हेतु निम्न उद्देश्यों के आधार पर निर्देशन की आवश्यकता पड़ती है-

1. रोग निदान व उपचार के बाद उस विकृति के दुबारा होने की संभावना उसके बचाव के लिए क्या-क्या सावधानियाँ अपनायी जाए इत्यादि में निर्देशन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।
2. आरोग्य व दीर्घजीवी जीवन की जीवनशैली किस रूप में होनी चाहिए आदि स्वास्थ्य सम्बन्धी जिज्ञासाओं को निर्देशन के रूप में समाधान दिया सकता है।
3. वर्तमान समय की अस्त-व्यस्त जीवन शैली व्यक्ति की स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं की महत्वपूर्ण कारण होती है। यथा-आहार-विहार या खानपान रहन-सहन, कार्य सक्षमशीलता या व्यायाम को जीवन में व्यवस्थित स्वरूप देना।
4. लैंगिक विकृतियों का मुख्य कारण व्यक्ति का अनुचित या विकृत व्यवहार ही होता है। अतः इस सन्दर्भ में व्यक्ति को समुचित रूप से निर्देशन प्रदान करना।
5. विभिन्न रोग बचाव की विधियों से व्यक्तियों को अवगत कराना तथा उन्हें अपनाने के लिए प्रेरित करना। रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाने वाली जीवन शैली के प्रति प्रेरित करना।
6. किसी रोग या विकृति के लिए आवश्यक उपचार किस प्रकार तथा कहाँ से प्राप्त किया जाये, किस रोग में क्या उपचार लेना अधिक लाभकारी होगा आदि विकल्पों के चयन में व्यक्ति की मदद करना।

अभ्यास प्रश्न 2

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।
 - a. निर्देशन के क्षेत्र को प्रमुख की श्रेणियों के अन्तर्गत विभाजित किया जाता है।
 - b.का उद्देश्य व्यक्ति तथा समाज या व्यवसायिक संगठन दोनों के हितों की रक्षा करना है।
 - c. की आवश्यकता तब पड़ती है जब विद्यार्थी के सामने और भी पर्याप्त विकल्प होते हैं।

12.8 बाल निर्देशन का महत्व

जिस प्रकार से मानव जीवन में विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं का अनुभव एवं समाज की मान्यताओं, आदर्शों एवं मूल्यों में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है, संयुक्त परिवार विघटित होते जा रहे हैं। जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है, बेरोजगारी, निर्धनता जैसी गम्भीर समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं, ऐसी स्थिति में निर्देशन का महत्व बढ़ जाता है। व्यक्ति मूलतः एक सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति व समाज का महत्व निरन्तर बना रहे इसके लिए यह आवश्यक है दोनों ही एक दूसरे के लिए जीना सीखें। आज व्यक्ति और समाज दोनों के लिए ही तनावग्रस्त स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावनाओं में तेजी से वृद्धि हो रही है। इस प्रकार की स्थिति से मुक्त रहने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति एवं समाज का समन्वित विकास केवल उन्हीं दिशाओं में होता रहे जो दोनों के लिए कल्याणकारी हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति में शिक्षा एवं निर्देशन ही अधिक सहायक हो सकते हैं।

निर्देशन का महत्व शैक्षिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एवं राजनैतिक दृष्टिकोण से अत्यधिक है। छात्र असंतोष की समस्या का समाधान करने, शैक्षिक उपलब्धि का वांछित स्तर बनाये रखने, परिवार की परिवर्तित स्थिति में भी सामंजस्य बना रहे, अवकाश का समुचित उपयोग हो, वैयक्तिक भिन्नताओं के अनुसार व्यक्तित्व का विकास हो, संवेगात्मक संतुलन बना रहे। राष्ट्रीय एकता की भावना विकसित करने, प्रजातंत्र एवं देश की रक्षा की भावना विकसित हो इन दृष्टियों से निर्देशन का और भी महत्व बढ़ जाता है।

12.9 सारांश

बाल निर्देशन एक व्यवस्थित एवं निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। निर्देशन प्रक्रिया सेवाओं के उस समूह से सम्बद्ध है जो व्यक्तियों को विभिन्न क्षेत्रों में सन्तोषजनक व्यवस्थापन के लिए आवश्यक होती है। निर्देशन के अन्तर्गत वे सभी प्रक्रियाएँ आ जाती हैं जो व्यक्ति की आत्मसिद्धि में सहायक होती हैं। निर्देशन एक व्यक्ति द्वारा अन्य दूसरे व्यक्ति को दी जाने वाली ऐसी सहायता है जिसे एक व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है तथा दूसरा देने को तत्पर होता है। निर्देशन से व्यक्ति को आत्मसंतुष्टि एवं आत्मसिद्धि जैसा सन्तोष भी प्राप्त होता है, जो उसके मनोबल वृद्धि में सहायक होता है। निर्देशन का परम उद्देश्य लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में गति प्राप्त करना होता है।

निर्देशन की क्रिया चाहे व्यवस्थित हो या अव्यवस्थित औपचारिक हो या आनुसंगिक इसके कुछ महत्वपूर्ण उद्देश्य हैं जैसे- निर्देशन का उद्देश्य व्यक्ति की आत्म अभिज्ञता को बढ़ाना है। निर्देशन का चरम उद्देश्य व्यक्ति का मदद न करना ही होकर समाज कल्याण तथा बेहतर समाज की रचना भी है। निर्देशन का उद्देश्य व्यवसायों तथा व्यक्ति की उनसे संगति बनाना तथा व्यक्ति और उस व्यवसाय के मध्य पायी जाने वाली विसंगतियों को कम के कम बनाना है। निर्देशन का उद्देश्य व्यक्ति के लिए सही प्रकार की शिक्षा, शिक्षा प्रणाली, पाठ्यक्रम तथा शिक्षण अधिगम की विधि का चुनाव करने में मदद देना है। निर्देशन का कार्य व्यक्ति की समस्याओं के समझने एवं उनका प्रभावी हल निकालने में मदद देना भी है। निर्देशन का लक्ष्य प्रभावी व्यक्ति एवं प्रभावी पर्यावरण के सृजन तथा विकास की प्रक्रिया को सुगम, सुन्दर एवं वास्तविक रूप देने में सहयोग प्रदान करना है।

निर्देशन की प्रकृति दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में यदि हम देखें तो कह सकते हैं कि यह व्यक्ति के पूर्णतम विकास का पोषक तो है ही जीवन पर्यन्त चलने वाली गतिशील प्रक्रिया भी है। निर्देशन एक अंतःक्रियात्मक व्यापार है। यह एक सामाजिक कार्य है जिसके तहत एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का सहायक बनकर समाज कल्याण के अवसरों में विस्तार करता है।

बाल निर्देशन वास्तव में एक सेवा है, जो बच्चे को स्वयं के बारे में जानने में सहायता प्रदान करता है तथा इसके साथ-साथ बच्चे का अधिकतम विकास करने में सहायक होता है। आज निर्देशन का क्षेत्र काफी विस्तृत हो चुका है। प्रमुख रूप से शिक्षा, व्यवसाय, व्यक्तिगत समायोजन, व्यक्ति की विकास की प्रक्रिया, उपव्यवसायिक क्षेत्र, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्र हो गये हैं। इन क्षेत्रों में निर्देशन का आज विशेष रूप से महत्व बढ़ गया है।

12.10 पारिभाषिक शब्दावली

- **बाल निर्देशन:** निर्देशन शैक्षिक प्रक्रिया की उस व्यवस्थित एवं गठित अवस्था को कहा जाता है जो व्यक्ति / बच्चे को अपने जीवन में ठोस बिन्दु व दिशा प्रदान करने की क्षमता को बढ़ाने में सहायता प्रदान करता है।
- **शैक्षिक निर्देशन:** शैक्षिक निर्देशन का उद्देश्य व्यक्ति के लिए उचित कार्यक्रम को बनाना तथा उसमें प्रगति करने में सहायता देना है।
- **व्यवसायिक निर्देशन:** व्यवसायिक निर्देशन की प्रक्रिया के अन्तर्गत व्यवसायिक चार्ट, व्यवसायिक विवरण पत्रिका, वार्ता एवं अन्य माध्यमों की सहायता से सेवार्थी की व्यवसायिक रुचि के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जाती है तथा उसकी रुचि के अनुसार व्यवसाय चुनने हेतु निर्देशित किया जाता है।
- **व्यक्तिगत निर्देशन:** इसके अन्तर्गत व्यक्ति की व्यक्तिगत समस्याओं को जानने के पश्चात् उसका समाधान करने के उपरान्त ही उसे एक सन्तुलित जीवन जीने हेतु निर्देशित किया जाता है।
- **विकासात्मक निर्देशन:** विकास प्रक्रिया में सम्बन्धित समस्याओं या प्रश्न के समाधान के लिए दिये जाने वाले निर्देशन को विकासात्मक निर्देशन कहते हैं। इसमें निर्देशन व्यक्ति को अपने सर्वोत्तम ढंग से विकसित होने में सहयोग करता है।
- **उपव्यवसायिक निर्देशन:** इसे अवकाश काल या मनोरंजन निर्देशन भी कहते हैं। उपव्यवसायिक या अवकाश-काल निर्देशन का क्षेत्र व्यापक होता है। इनमें व्यक्ति के ऐसे कार्य-कलापों का चयन करना होता है जो उसकी विशेषताओं और क्षमताओं के अनुरूप हों।
- **स्वास्थ्य निर्देशन:** स्वास्थ्य के सन्दर्भ में दिया जाने वाला निर्देशन स्वास्थ्य निर्देशन कहलाता है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति को यह निर्देशित किया जाता है कि वह ऐसी जीवन शैली अपनाये जिससे उसका स्वास्थ्य समुचित रूप से बना रहे।

12.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. रिक्त स्थान भरिये।

- a. क्षमता
- b. परिवक्वता

अभ्यास प्रश्न 2

1. रिक्त स्थान भरिये।
 - a. छः
 - b. व्यवसायिक निर्देशन
 - c. शैक्षिक निर्देशन

12.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आलम, डॉ० शाह एवं गुफरान डॉ० मुहम्मद (2011): निर्देशन एवं परामर्श का मूलभूत आधार, प्रकाशक - ज्ञानदा प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. राय, अमरनाथ एवं अस्थाना, मधु (2006, तृतीय संस्करण): निर्देशन एवं परामर्श, प्रकाशक - मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।
3. शर्मा, डॉ० आर०ए० एवं चतुर्वेदी डॉ० शिखा (2010): निर्देशन एवं परामर्श के मूलतत्त्व, प्रकाशक - विनय रखेजा ब्ध्व आर० लाल बुक डिपो, निकट राजकीय इण्टर कालेज मेरठ।
4. शर्मा एस०एन० एवं सोलंकी एम० के० (2011): निर्देशन एवं परामर्श, प्रकाशन-माधव प्रकाशक, ए-23 इन्द्रपुरी कालोनी, न्यू आगरा, आगरा।

12.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. निर्देशन का क्या अर्थ है? इसकी प्रकृति व स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
2. निर्देशन के प्रमुख क्षेत्रों का वर्णन कीजिए।
3. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए-
 - शैक्षिक निर्देशन
 - व्यवसायिक निर्देशन
 - व्यक्तिगत निर्देशन
 - स्वास्थ्य निर्देशन

इकाई 13: मनोवैज्ञानिक समायोजन

- 13.1 प्रस्तावना
- 13.2 उद्देश्य
- 13.3 मनोवैज्ञानिक समायोजन: अर्थ और परिभाषाएं
- 13.4 समायोजन प्रक्रिया
- 13.5 समायोजन और समस्याएं
- 13.6 प्रतिबल /तनाव
- 13.7 दबाव
- 13.8 चिंता
- 13.9 अंतर्द्वंद / द्वन्द
- 13.10 कुंठा
- 13.11 समायोजन के तरीके
- 13.12 सारांश
- 13.13 पारिभाषिक शब्दावली
- 13.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 13.15 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 13.16 निबंधात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

इस खंड की पिछली इकाई में आप शैक्षिक व्यवहारिक और व्यवसाय परामर्श तथा बाल परामर्श से संबंधित समस्याओं से भली-भांति परिचित हो चुके हैं। इसी श्रृंखला को आगे बढ़ाते हुए इस इकाई में परामर्श के महत्वपूर्ण तत्व मनोवैज्ञानिक समायोजन के बारे में आप का ज्ञानवर्द्धन किया जाएगा। जिंदगी अस्तित्व और उत्तर जीविता के लिए संघर्षों की एक निरंतर कड़ी प्रदान करती है। यह अवलोकन उपर्युक्त भी है क्योंकि प्रत्येक जीव अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए प्रयास कर रहा है। कुछ प्राप्त करने के संघर्ष में यदि कोई यह देखता है कि परिणाम संतुष्टि पूर्ण नहीं है तो वह या तो अपना उद्देश्य बदल देता है या कार्य विधि को बदल देता है। इसी को करते समय व्यक्ति इससे होने वाले अहंकार को चोट, असफलता या निराशा से भी अपने आप को बचाता है। यह ऐसा है जैसे प्रारंभिक असफलता के बाद परिस्थितियों की चुनौतियों का सामना करने के बजाय रक्षात्मक

स्थिति में स्थानांतरण होना। जीवों की यह विशेष विशेषता समायोजन कहलाती है। समायोजन एक प्रकार से सुव्यवस्था तथा अच्छे ढंग से परिस्थितियों को अनुकूल बनाने की प्रक्रिया है जिससे कि व्यक्तियों की आवश्यकताएं पूरी हो जाएं और उसमें मानसिक द्वंद की स्थिति उत्पन्न ना हो। समायोजन की प्रक्रिया से तात्पर्य व्यक्ति की आवश्यकताएं व उनको पूरा करने वाली परिस्थितियों के बीच तालमेल स्थापित करने से है। जो व्यक्ति परिस्थिति तथा आवश्यकता के बीच तालमेल स्थापित नहीं कर पाता है, वह तनाव, चिंता, कुंठा आदि से ग्रसित होकर असामान्य व्यवहार करने लगता है जिसे असमायोजन या मानसिक रोग ग्रस्तता कहते हैं। आधुनिक काल के समाज में जहां अनेक विरोधात्मक विचारों के होने से जटिलताएं उत्पन्न हो रही हैं वहां मनोवैज्ञानिक समायोजन की प्रक्रिया का विशेष महत्व है।

13.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का मुख्य उद्देश्य छात्रों को मनोवैज्ञानिक समायोजन के विभिन्न पहलुओं से अवगत कराना है। मनोवैज्ञानिक समायोजन वर्तमान परिवारों में व्यवस्था एवं संतुलन बनाए रखने में बहुत मददगार साबित हो रहा है तथा यह वर्तमान परिवार का अनिवार्य अंग है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप;

- मनोवैज्ञानिक समायोजन के अर्थ, प्रकार एवं प्रक्रिया के विषय में जान पाएंगे;
- समायोजन समस्या के अंतर्गत प्रतिबल, दबाव, चिंता, अंतर्द्वंद और कुंठा को समझ पाएंगे; तथा
- समायोजन के तरीके से परिचित हो पाएंगे।

आइए सर्वप्रथम इकाई की शुरुआत मनोवैज्ञानिक समायोजन के अर्थ एवं परिभाषा से करें।

13.3 मनोवैज्ञानिक समायोजन अर्थ और परिभाषाएं

मनुष्य क्रमिक विकास का अद्वितीय उत्पाद है। अन्य जीवों की तुलना में मनुष्य का जो विशिष्ट गुण है वह है, स्वयं के प्रति जागरूकता और स्वयं को समझने की क्षमता। इस गुण के कारण नए विषय मनोवैज्ञानिक समायोजन का विकास हुआ है जिसमें मनुष्य के व्यक्तित्व और समायोजन दोनों दृष्टिकोण से मनुष्य का अध्ययन किया जाता है।

दैनिक जीवन में हम समायोजन शब्द का प्रयोग करते हैं। बहुत से लोग इस शब्द के विभिन्न अर्थों से अनभिज्ञ हैं। उदाहरण के लिए कुछ लोगों के लिए समायोजन खुशी और व्यक्तिगत समस्याओं से स्वतंत्रता की ओर संकेत करता है तो अन्य के लिए सामूहिक मांगों और उम्मीदों का प्रसन्न अनुपालन है। समायोजन से तात्पर्य व्यक्ति विशेष की मनोदशा अथवा किए जाने वाले व्यवहार प्रक्रिया से है जिसमें आवश्यकताओं की संतुष्टि हो रही है और उसका व्यवहार समाज और संस्कृति की अपेक्षाओं के अनुकूल चल रहा है।

एल एस शेफर के अनुसार समायोजन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई जीवधारी अपनी आवश्यकताएं तथा इन आवश्यकताओं की संतुष्टि से संबंधित परिस्थितियों में संतुलन बनाए रखता है।

गेट्स और जर्सिल्ड के अनुसार समायोजन एक ऐसी सतत् प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक व्यक्ति अपने व्यवहार में इस प्रकार से परिवर्तन कर सकता है कि उसे स्वयं तथा अपने वातावरण के बीच और मधुर संबंध स्थापित करने में मदद मिल सके।

गिलमर के अनुसार समायोजन को मनोवैज्ञानिक उत्तरजीविता की तरह सोचा जा सकता है जो ठीक वैसे ही है जैसे जीव वैज्ञानिकों ने शारीरिक उत्तर जीवित का वर्णन करने के लिए अनुकूलता का प्रयोग किया है।

समायोजन की विशेषताएं

समायोजन की निम्नलिखित विशेषताएं हैं -

- समायोजन एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। व्यक्ति की जैसे-जैसे परिस्थितियां बदलती हैं वह समायोजन का प्रयास करता है।
- समायोजन दूरगामी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति और पर्यावरण दोनों में बदलाव होता है।
- समायोजन आत्मबोध की प्रक्रिया है। व्यक्ति संवेदगात्मक रूप से परिपक्व होता है और अपनी क्षमता और रुचि के अनुसार व्यवहार करता है।
- समायोजन विकास प्रक्रिया है क्योंकि जीवन पर्यंत विकास क्रम में व्यक्ति विभिन्न चरणों से गुजरता है और जीवन के प्रत्येक चरण में विभिन्न समस्याएं हैं। इनके साथ समायोजन करने में व्यक्ति का व्यक्तित्व विकास होता है।

सुसमायोजित व्यक्तियों की विशेषताएं

- समायोजित व्यक्तियों की निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं।
- समायोजित व्यक्ति अपनी परिस्थितियों का तिरस्कार नहीं करता है।
- समायोजित व्यक्ति दूसरों के साथ सहानुभूति रखता है।
- समायोजित व्यक्ति के विचार, प्रतिक्रियाएं, भावनाएं और व्यवहार सामान्य होते हैं।
- समायोजित व्यक्ति केवल अपनी समस्याओं के प्रति ही ध्यान केंद्रित नहीं करता, वह अन्य बातों पर भी ध्यान देता है।
- समायोजित व्यक्ति का सामाजिक क्षेत्र विस्तृत होता है।
- समायोजित व्यक्ति को अपनी शक्ति और सीमाओं के प्रति जागरूकता रहती है।
- समायोजित व्यक्ति अपना और दूसरों का सम्मान करता है।
- समायोजित व्यक्ति में पर्याप्त महत्वाकांक्षा का स्तर होता है।
- समायोजित व्यक्ति की आधारभूत जरूरतों की संतुष्टि हो जाती है।
- समायोजित व्यक्ति के व्यवहार में लचीलापन रहता है।
- समायोजित व्यक्ति में विषम परिस्थितियों से लड़ने की क्षमता होती है।
- समायोजित व्यक्ति में दुनिया की वास्तविक अनुभूति होती है, वह किसी कोरी कल्पना में नहीं जीता।
- समायोजित व्यक्ति अपने घर, परिवार, पड़ोस, व्यवसाय के वातावरण से संतुष्ट रहते हैं।
- समायोजित व्यक्ति का अपना जीवन दर्शन होता है जो उसके जीवन को सही दिशा प्रदान करते हैं।
- समायोजित व्यक्ति में आत्मविश्वास होता है जो उन्हें लक्ष्य निर्देशित बनाती है।
- समायोजित व्यक्ति में सुरक्षा और उत्तरदायित्व की भावना होती है।

समायोजन के तत्व

व्यक्ति के स्वस्थ समायोजन के लिए आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु निम्नलिखित प्रधान तत्व होते हैं:

- संवेगात्मक परिपक्वता
- आवश्यकताओं की संतुष्टि
- आवश्यकताओं की प्राप्ति में अवरोध नहीं
- आवश्यकताओं की अनुभूति में दृढ़ इरादे
- आवश्यकता की पूर्ति के लिए साध्य भौगोलिक वातावरण

समायोजन के क्षेत्र

समायोजन के आयाम निम्नलिखित हैं-

1. प्रणय निवेदन, सेक्स और विवाह
2. सामाजिक मनोवैज्ञानिक संबंध
3. व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक संबंध
4. नैतिकता और धर्म
5. घर और परिवार
6. भविष्य, व्यवसाय और शिक्षा
7. स्वास्थ्य और शारीरिक विकास
8. वित्त, निर्वाह दशा और रोजगार
9. सामाजिक और मनोरंजन क्रियाएं
10. विद्यालय और कॉलेज कार्यों से समायोजन
11. पाठ्यक्रम और शिक्षण

13.4 समायोजन प्रक्रिया

समायोजन एक सतत प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपने और अपने वातावरण के मध्य अधिक मधुर संबंध उत्पन्न करने के लिए अपने व्यवहार को परिवर्तित करता है। समायोजन प्रक्रिया व्यक्ति को उसकी आवश्यकताएं और उन आवश्यकताओं को पूर्ण करने की क्षमता के मध्य संतुलन बनाए रखने में सक्षम बना कर खुश और संतुष्ट जीवन जीने की ओर अग्रसर करता है। समायोजन प्रक्रिया व्यक्ति को परिस्थिति की आवश्यकताओं के अनुसार अपने जीवन के तरीकों में बदलाव लाने में सक्षम बनाती है और वातावरण में जहां आवश्यकता होती है वहां की परिस्थितियों में जरूरी बदलाव लाने हेतु वैसे ही शक्ति और योग्यता प्रदान करता है। समायोजन की कल्पना व्यक्ति और उस संसार और अनुभव जिसमें व्यक्ति रह रहा है, में एक गत्यात्मक संवाद आत्मक प्रक्रिया के रूप में करनी चाहिए। अन्य लोगों के साथ पारस्परिक क्रिया भी समायोजन प्रक्रिया में निहित है। हम लोग अन्य लोगों द्वारा प्रभावित होते हैं और बदले में उन्हें भी प्रभावित करते हैं। सामाजिक संसार से समायोजन के अंतर्गत अन्य के साथ नजदीकी संबंध बनाना और उन्हें संतुष्टिपूर्ण जीवन जीने के लिए अग्रसर करना है। समायोजन एक निरंतर चल रही प्रक्रिया है जो जन्म के समय शुरू होती है और जीवन पर्यंत चलती रहती है। यह एक ओर व्यक्ति, उसकी विशेष आवश्यकताओं इच्छाओं और

दक्षताओं तथा दूसरी ओर वो परिस्थितियों जिनमें वह स्वयं को पाता है और उन परिस्थितियों की मांग के मध्य एक दूरगामी प्रक्रिया है। समायोजन का एक प्रक्रिया और उस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली उपलब्धि के रूप में विश्लेषण किया जा सकता है। समायोजन का उपलब्धि के रूप में उल्लेख उस प्रभावशीलता से है जिसके द्वारा व्यक्ति परिवर्तित परिस्थितियों में कार्य कर सकता है। समायोजन एक प्रक्रिया के रूप में हमें खुश और संतुष्ट जीवन जीने की ओर अग्रसर करता है, हमारी आवश्यकताओं और उन आवश्यकताओं को प्राप्त करने की क्षमता के मध्य संतुलन स्थापित करता है, स्थितियों की मांग के अनुसार हमें अपने जीवन के मार्ग को बदलने के लिए सहमत करता है और अपने वातावरण की परिस्थितियों में बदलाव लाने का साहस और क्षमता प्रदान करता है।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कठिनाइयाँ और बाधाएं आती हैं। वह उन्हें दूर करने का प्रयास करता है मगर जब कुछ स्थितियों में उसे सफलता नहीं मिलती तो वह कुंठाओं तनावों, दुष्ट चिंताओं से गिर जाता है फिर वह उन्हें कम करने के प्रयास में लग जाता है। यदि वह इस प्रक्रिया में सफलता प्राप्त करता है तो समायोजित कहलाता है।

13.4.1 समायोजन की प्रक्रिया के तत्व

समायोजन की प्रक्रिया के निम्नलिखित तत्व हैं:

- 1. प्रेरणा-** समायोजन की प्रक्रिया किसी आवश्यकता या प्रेरणा से आरंभ होती है। यह आवश्यकता या प्रेरणा एक मजबूत दृढ़ उद्दीपन के रूप में होता है, जैसे इच्छा, पूर्वानुमानित एक लक्ष्य। प्रारंभ में व्यक्ति के पास कोई आवश्यकता या प्रेरणा होती है जो उसे लक्ष्य निर्देशित व्यवहार के साथ दृढ़ बनाता है।
- 2. वातावरण या मानसिक परिस्थिति-** एक वातावरण या मानसिक स्थिति जो प्रेरणा के साथ द्वंद या उसे विफल करे, परिणामस्वरूप तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जैसे भोजन की अनुपस्थिति, शारीरिक हार का भय।
- 3. विविध अनुक्रियाएं -** यह आवश्यकता की पूर्ति में बाधाएं उत्पन्न करती हैं। यह क्रियाएं सामान्य और असामान्य दोनों हो सकती हैं। व्यक्ति विभिन्न उद्दीपन से सकारात्मक या नकारात्मक तरीकों से प्रतिक्रिया करता है जैसे आगे बढ़ना, पीछे हटना, अति आक्रामक व्यवहार प्रदर्शित करना।

4. उद्दीपन की खोज- उचित उद्दीपन की खोज द्वारा व्यक्ति अनुक्रियाओं को प्रदर्शित करता है जो प्रेरणादायक परिस्थितियों को संतुष्ट करता है जैसे भोजन, डरावनी वस्तु को हटाना, सफलता आदि।

5. संवेगात्मक कुसमायोजन- उद्दीपन की खोज में असफलता, प्रेरणादायक परिस्थितियों को संतुष्ट करने में असफल होने पर संवेगात्मक कुसमायोजन होता है जैसे निरंतर भूख, निरंतर डर, सामाजिक स्थिति पर निरंतर चिंता। अनुक्रियाएं जो अन्य प्रेरणादायक परिस्थितियों के साथ द्वंद करती हैं उनके द्वारा प्रेरणादायक परिस्थितियों की संतुष्टि होती है जैसे तीव्रता से खाना और बीमार होना, डरावनी वस्तु को हटाना मगर उसको संजोना, अति आक्रामक व्यवहार के परिणामस्वरूप अलोकप्रियता।

6. संवेगात्मक असंतुलन से पुनः समायोजन- समस्या को समझने के द्वारा संवेगात्मक असंतुलन से पुनः समायोजन हो सकता है ताकि नई अनुक्रियाएं सीखी जा सकें या नया वातावरण खोजा जा सके। जैसे कैसे या कहां से भोजन प्राप्त करना सीखना, डरावनी वस्तु से अभ्यस्त होना या उससे दूर हट जाना, ऐसे क्षेत्र में सफलता पाना जहां शारीरिक दक्षता की जरूरत नहीं या फिर कमियों को ठीक करना।

समायोजन प्रक्रिया की मुख्य विशेषता है कि यह किसी भी तरीके से व्यक्ति और उसके वातावरण के मध्य मधुरता लाने हेतु व्यक्ति और उसके वातावरण के बीच अंतःक्रिया करता है। समायोजन के इन अंतःक्रिया करने वालों भागों की अपनी मांग है। व्यक्ति की चेतन और अचेतन आवश्यकताएं होती हैं जिनके साथ वह वातावरण पर प्रभाव डालता है और वातावरण की भी अपनी मांगें होती हैं जिसके साथ वह व्यक्ति पर प्रभाव डालती हैं। अतः समायोजन प्रक्रिया आंतरिक आंतरिक तथा आंतरिक बाह्य संबंध को बांधे रखता है। यह संबंध अनुरूप या परस्पर विरोधी हो सकते हैं तो हम यह कह सकते हैं कि समायोजन की प्रक्रिया के प्रारंभ में व्यक्ति के पास एक आवश्यकता या प्रेरणा होती है जो उसे लक्ष्य निर्धारित व्यवहार के साथ दृढ़ बनाती है। अवरोधों पर काबू पाने के लिए व्यक्ति विभिन्न क्रियाओं को ढूंढने लगता है। यही वह अवसर होता है जब व्यक्ति आवश्यकताओं की विफलता का अनुभव करता है। बाद में शुरुआती दौर के अधिकतर व्यवहार निकल जाते हैं जैसे उस समय कोई व्यक्ति लक्ष्य बदल लेता है तो कोई अधिक उत्साह के साथ कार्य करता है और कोई अपने मनोसंसार से में खो जाता है। व्यक्ति लक्ष्य प्राप्त करना सीख जाता है सफल उपलब्धि से व्यक्ति लक्ष्य निर्धारित व्यवहार में निपुणता विकसित करता है।

13.4.2 समायोजन के प्रकार

किसी भी व्यक्ति द्वारा समायोजन चार प्रकार से किया जा सकता है:

- **रचनात्मक समायोजन:** जब व्यक्ति किसी लक्ष्य को प्राप्त करने में कठिनाई का अनुभव करता है तो वह अपनी कार्यशैली में बदलाव करता है। उसमें नवीनीकरण करने हेतु रचनात्मक कार्य करता है। उदाहरण के लिए यदि कोई खिलाड़ी प्रतियोगिता जीतने के लिए कठिनाई अनुभव कर रहा है और उसका समायोजन नहीं हो रहा है तो वह इंटरनेट द्वारा नई खेल तकनीक सीखेगा, अपने कोच की अधिक सहायता लेगा, अभ्यास में अधिक समय देगा और इस तरह वह अभ्यास में रचनात्मकता द्वारा प्रतियोगिता जीतकर सफलता प्राप्त करेगा।
- **प्रतिस्थापित समायोजन:** यदि व्यक्ति सामने उपस्थित लक्ष्य पर रचनात्मक कार्य द्वारा विजय प्राप्त नहीं कर पाता है तो वह संबंधित लक्ष्य का स्थानापन्न अर्थात् उसके स्थान पर अन्य विकल्प चयन करके स्वयं को समायोजित करता है। उदाहरण के लिए यदि खिलाड़ी अभ्यास ना करने के कारण खराब खेल रहा है तो वह अपनी कमजोरी स्वीकार ना करके दूसरों पर प्रतिस्थापित कर देता है जैसे अभ्यास के लिए पर्याप्त समय ना मिलना, खेल का मैदान या अन्य सुविधा ना होना, कोच द्वारा पर्याप्त समय ना देना आदि।
- **प्रत्यक्ष बचाव:** व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से भी लक्ष्य प्राप्ति हेतु समस्याओं का समाधान करता है। इसके अंतर्गत व्यक्ति तनावपूर्ण स्थितियों का सक्रिय और केंद्रित होकर मुकाबला और प्रबंधन करता है। इसके लिए वह क्रोधित होकर आक्रामक हो जाता है या परिस्थितियों से सुलह कर लेता है अथवा परिस्थितियों से पीछे हट जाता है।
- **मानसिक विरचनाएं:** व्यक्ति अपने दैनिक जीवन के व्यवहार में समायोजन करने हेतु मानसिक विरचनाओं जैसे इच्छाओं का दमन, प्रक्षेपण आदि का प्रयोग करके कठिनाइयों से बच सकता है। इस विषय के बारे में हम इसी अध्याय के आगे के भाग समायोजन के तरीके में पढ़ेंगे।

अभ्यास प्रश्न 1

1. निम्न में सत्य/असत्य बताइये।
 - a. गिलमर का मनोवैज्ञानिक उत्तरजीविता का सिद्धांत डार्विन के उत्पत्ति के सिद्धांत से लिया गया है।

-
- b. समायोजन रुक रुक कर चलने वाली प्रक्रिया है।
 - c. समायोजित व्यक्ति के व्यवहार में लचीलापन होता है।
 - d. उद्दीपन की खोज समायोजन का तत्व है।
 - e. रचनात्मक समायोजन में व्यक्ति अपने व्यवहार में बदलाव नहीं लाता है।
-

13.5 समायोजन और समस्याएं

व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत मांगों, इच्छाओं अथवा आवेगों तथा अपने वातावरण के आवेशों के बीच संतुलन बनाने हेतु विभिन्न मानसिक अवस्थाओं में समायोजन करता है जो कि निम्न प्रकार हैं:

1. प्रतिबल
2. दबाव
3. चिंता
4. अंतर्द्वंद
5. कुंठा

आइए अब हम इन मानसिक अवस्थाओं के विषय में विस्तृत अध्ययन करेंगे।

13.6 प्रतिबल /तनाव

मानव के जीवन का प्रत्येक दिन तनाव और खिंचाव से भरा है, इसलिए वर्तमान युग को तनाव युग भी कहा जाता है। प्रतिबल मानसिक स्थिति से उपजा विकार है जो मानसिक स्थिति और परिस्थिति के बीच असंतुलन के कारण उत्पन्न होता है। तनाव मन में चलने वाला ऐसा द्वंद है जो मन एवं भावनाओं में गहरी दरार पैदा करता है। प्रतिबल अन्य अनेक मनोविकारों की जन्मभूमि भी है। इससे मन में अशांति, अस्थिर भावना का अनुभव होता है। इसके साथ साथ तनाव से शरीर भी अस्वस्थता का अनुभव करता है। इन सबसे कार्य क्षमता प्रभावित होती है और शरीर व मानसिक विकास में बाधा उत्पन्न होने लगती है। तनाव मूल रूप से विघर्षण है जिसका अनुभव हमारा शरीर बदलते वातावरण के साथ समायोजन करते हुए करता है। यह हमारे मन और शरीर पर दोनों सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव डालते हैं। सकारात्मक प्रभाव से प्रतिबल हमें मुश्किल हालात में जूझने की

प्रेरणा और ताकत देता है जबकि नकारात्मक प्रभाव हमारे सामाजिक, मानसिक, शारीरिक और स्वास्थ्य का विनाश करता है। अतः यदि तनाव को भलीभांति संभाल लिया जाता है तो व्यक्ति के उत्तरजीविता की संभावना बढ़ जाती है।

13.6.1 प्रतिबल प्रतिक्रिया

प्रतिबल प्रक्रिया शरीर का हमें सुरक्षित करने का तरीका है। जब यह उचित तरीके से कार्य करता है तो यह हमें एकाग्र ऊर्जावान और सबसे सचेत बनाए रखता है। आपातकालीन परिस्थिति में प्रतिबल हमें स्वयं को बचाने हेतु अतिरिक्त शक्ति प्रदान कर हमारे जीवन को बचाता है। प्रतिबल हमें जीवन की चुनौतियों से ऊपर उठने में सहायता प्रदान करता है, यह परीक्षा के समय हमें टीवी देखने के बजाय पढ़ने को बाध्य करता है, खेल में जीतने के लिए हमारा ध्यान केंद्रित रखता है मगर एक बिंदु के बाद यह हमें मदद करना बंद कर देता है और हमारे स्वास्थ्य, मूड उत्पादकता, संबंधों और जीवन की गुणवत्ता को नष्ट करने लगता है। प्रतिबल में सबसे पहले हमारा शरीर आंतरिक रूप से विभिन्न तनावकर्ता (स्ट्रेसर्स) के प्रति प्रतिक्रिया करता है। इस तथ्य का सर्वप्रथम हेंस सेल्ये ने अध्ययन किया। उन्होंने चूहों पर किए परीक्षणों में पाया कि चूहे विभिन्न तनावकर्ता के प्रति एक ही प्रकार की शारीरिक प्रतिक्रिया प्रदर्शित करते हैं। इस तरह हेंस सेल्ये ने सामान्य अनुकूलन संलक्षण (जनरल एडेप्टेशन सिंड्रोम) का प्रतिपादन किया जो शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान पर आधारित था। हेंस ने कहा कि जब व्यक्ति की शारीरिक सुरक्षा या संवेगात्मक असंतुलन के लिए कोई खतरा उत्पन्न होता है तो उसका शरीर तीन अवस्थाओं में प्रतिक्रिया करता है-

- संकट सूचना की अवस्था (अलार्म स्टेज)
- प्रतिरोध की अवस्था (रजिस्टेंस स्टेज)
- थकावट की अवस्था (एग्जॉशन स्टेज)

1. संकट सूचना की अवस्था- जब हमारे शरीर को अपनी ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से खतरे का आभास होता है तो तंत्रिका तंत्र एंड्रीनलिन और कॉर्टिसोल जैसे तनाव हार्मोन स्रावित कर प्रतिक्रिया करता है जिससे शरीर आपातकालीन क्रिया के लिए तैयार होता है। विभिन्न शारीरिक परिवर्तन हमारे संसाधनों को जुटाने में मदद करते हैं जैसे हमारी शक्ति और सहनशीलता बढ़ाते हैं, प्रतिक्रिया अवधि को तेज कर देते हैं और हमारा ध्यान बढ़ा देते हैं। इस तरह शरीर व्यक्ति को खतरे से लड़ने के लिए तैयार करता है।

2. प्रतिरोध अवस्था - प्रथम अवस्था के लड़ने के उपरांत शरीर स्वयं की मरम्मत करने लगता है। यह कम मात्रा में कॉर्टिसोल स्रावित करता है जिससे हृदय और रक्त दाब सामान्य होने लगते हैं हालांकि शरीर स्वास्थ्य लाभ के चरण में तो आता है मगर यह कुछ समय के लिए अधिक चौकन्ना रहता है। यदि आप तनाव पर काबू पा लेते हैं और परिस्थितियां कोई मुद्दा नहीं रह जाती है तो शरीर स्वयं निरंतर मरम्मत करने का कार्य करता रहता है जब तक कि आपका हार्मोन स्तर, हृदय दाब और रक्तदाब तनाव से पूर्व की स्थिति में न पहुंच जाए। इस अवस्था में शरीर उन परिवर्तनों से गुजरता है जिनसे आप तनाव का सामना करने की कोशिश में अनजान होते हैं। चिड़चिड़ापन, निराशा और कमजोर एकाग्रता इस चरण के संकेत हैं।

3. थकावट की अवस्था- यह लम्बे समय तक चलने वाले या पुराने तनाव का परिणाम है। लम्बे समय तक तनाव के साथ संघर्ष आपके शारीरिक, भावनात्मक और मानसिक संसाधनों को उस बिंदु तक ले जा सकता है जहां आपके शरीर में तनाव से लड़ने की ताकत नहीं रह जाती है। थकान, क्रियाशील, अवसाद, चिंता, निम्न तनाव सहनशीलता इस अवस्था के संकेत हैं। इस चरण के शारीरिक प्रभाव से आपकी रोग प्रतिरोधक प्रणाली भी कमजोर हो जाती है और आपको तनाव संबंधी बीमारियां जैसे हृदय रोग, उच्च रक्तचाप, कैंसर आदि का खतरा होता है।

13.6.2 प्रतिबल का वर्गीकरण

प्रतिबल का वर्गीकरण निम्नलिखित तरीके से किया गया है:

1. तनावकर्ता की प्रकृति के अनुसार
 - शरीर क्रियात्मक तनाव
 - मनोवैज्ञानिक तनाव
2. व्यक्ति पर तनाव के प्रभाव के अनुसार
 - सकारात्मक यूस्ट्रेस
 - नकारात्मक विपत्ति
3. तनावकर्ता से प्रदर्शन अवधि के अनुसार
 - तीव्र तनाव (लघु अवधि)
 - मंद तनाव (दीर्घ अवधि)

1. तनावकर्ता की प्रकृति के अनुसार

यह दो प्रकार का होता है:

- **शरीर क्रियात्मक तनाव** यह अप्रिय संवेदी संवेगात्मक और व्यक्तिपरक अनुभव द्वारा सूचित होता है जो कि संभावित शारीरिक ऊतकों के नष्ट होने और दैहिक खतरों से संबंधित होता है। विभिन्न शारीरिक परिस्थितियाँ, इन मानदंडों को पूरा कर सकती हैं जैसे दर्द, भूख, उल्टी, घुटन आदि। यह वह मांगे होती हैं जो हमारे शरीर की स्थिति बदल देती है।
- **मनोवैज्ञानिक तनाव** वह तनाव होता है जिसे व्यक्ति अपने मस्तिष्क में तब उत्पन्न करता है जब वह किसी स्थिति को संभालने के लिए संसाधन ना होने पर असहाय महसूस करता है या अतीत, वर्तमान या कथित भविष्य के बारे में नकारात्मक या अतिशयोक्ति तरीके से सोचता है। उदाहरण के लिए वैवाहिक समस्याएं, किसी परिजन की मृत्यु, वित्तीय संकट आदि।

2. व्यक्ति पर तनाव के प्रभाव के अनुसार

प्रत्येक अनुभव या परिवर्तन मानव प्रणाली के लिए एक चुनौती या तनाव का प्रतिनिधित्व करता है। यह व्यक्ति के ऊपर निर्भर करता है कि वह इसे कैसे लेता है इस आधार पर तनाव दो प्रकार के होते हैं:

- **यूस्ट्रेस या सकारात्मक तनाव:** यह वह तनाव होता है जो व्यक्ति को ऊर्जावान, प्रेरित या प्रतिक्रिया करने के लिए मजबूर करता है ताकि वह उन्नति व लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर हो सके। यह व्यक्ति की कार्य क्षमता को बढ़ाता है और ऊर्जा को केंद्रित रखने में सहायक होता है। उदाहरण के लिए नई नौकरी की शुरुआत करना, विवाह, घर खरीदना, कोई शैक्षणिक कोर्स करना आदि।
- **डिस्ट्रेस या नकारात्मक तनाव:** यह वह निरंतर तनाव है जो व्यक्ति के सर्वोत्तम प्रयासों के बावजूद हल नहीं होता है। परिस्थितियों में यह व्यक्ति में चिंता और अवसाद उत्पन्न करते हैं, यह व्यक्ति की मुकाबला करने की क्षमता से बाहर होते हैं। यह अप्रिय और व्यक्ति की कार्य क्षमता को घटाने वाले होते हैं तथा व्यक्ति की मानसिक और शारीरिक समस्याओं को उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिए बेरोजगारी, जीवनसाथी की मृत्यु, अस्पताल में भर्ती होना, दुर्व्यवहार या उपेक्षा, धन की समस्या आदि।

3. तनावकर्ता से प्रदर्शन अवधि के अनुसार

अवधि के अनुसार तनाव 3 प्रकार के होते हैं:

- **तीव्र तनाव:** यह व्यापक रूप से अनुभव किया जाने वाला तनाव है जो अतीत और भविष्य की दैनिक मांग और दबावों से आता है। यह अल्पकालीन होता है मगर यह हमारे जीवन में उत्साह खुशी और रोमांच लाता है। यह एक नई चुनौती, घटना या मांग के लिए शरीर की तत्काल प्रतिक्रिया है और लड़ाई - उड़ान प्रतिक्रिया को सक्रिय करता है। उदाहरण के लिए बच्चों के स्कूल से आने का समय और भोजन का समय पर न बन पाना, ऑफिस में किसी बात पर तकरार होना, ट्रैफिक में फँसना। क्रोध, चिंता, चिड़चिड़ापन, सिर दर्द, चक्कर आना, दिल की धड़कन का बढ़ना, सांस तकलीफ आदि तीव्र तनाव के लक्षण तभी सामने आ सकते हैं जब तनाव पहले से ही जमा हो।
- **मंद तनाव:** यदि तीव्र तनाव का समाधान नहीं होता है और लंबे समय तक बना रहता है तो यह मंद तनाव में परिवर्तित हो जाता है। यह दीर्घकालीन तनाव होता है क्योंकि व्यक्ति किसी परिस्थिति से बहुत कम बाहर निकल पाता है और महीनों या सालों तक इसमें घिरा रहता है उदाहरण के लिए असफल शादी, अवांछित नौकरी, गरीबी का तनाव, पुरानी बीमारियाँ, रिश्तो में संघर्ष, राजनीतिक समस्याएं, दुविधा में पड़ा परिवार आदि ऐसी तनावपूर्ण स्थितियाँ हैं जिनका कोई अंत न दिखने पर तनाव एकत्रित होता रहता है और अधिक समय तक इनके साथ संपर्क में रहने पर यह जीवन के लिए खतरा बन जाती है और व्यक्ति इन से मुक्ति पाने के लिए हिंसा, आत्महत्या और स्वयं को नुकसान पहुंचाने का सहारा भी ले सकता है। शुष्क मुँह, सांस लेने में तकलीफ, तेज धड़कन, पेट दर्द, सिर दर्द, मांसपेशियों की जकड़न, अचानक चिड़चिड़ापन, एकाग्रता में कमी, नींद में कठिनाई, संकुचित धारणा अधिक तनाव के लक्षण हैं। तनाव के कारण व्यक्ति अन्य बीमारियों जैसे हृदय रोग, कैंसर, फेफड़ों व लीवर रोग, दुर्घटनाओं आदि से भी ग्रसित हो जाता है क्योंकि शारीरिक और मानसिक संसाधनों का लंबे समय तक क्षय होता है। इसलिए दीर्घकालीन तनाव के लक्षणों का इलाज मुश्किल है और चिकित्सीय इलाज के साथ-साथ व्यवहार उपचार और तनाव प्रबंधन की आवश्यकता होती है।

13.6.3 प्रतिबल के स्रोत / कारक

प्रतिबल उत्पन्न करने वाले तत्वों को तनावकर्ता कहते हैं। तनाव के निम्नलिखित स्रोत हैं:

1. बाहरी स्रोत या कारक जैसे जीवन में महत्वपूर्ण बदलाव, नौकरी, व्यवसाय, रिश्तो या संबंधों में समस्या, वित्तीय समस्याएं, अति व्यस्त होना, बच्चे और परिवार, पड़ोसी और असुविधाजनक रहने की स्थिति, जातीय व लैंगिक भेदभाव, ध्वनि प्रदूषण आदि।

2. आंतरिक स्रोत या कारक जैसे निराशावाद, अनिश्चितता स्वीकार करने में असमर्थता, जटिल सोच या लचीलापन की कमी, निम्न व नकारात्मक आत्म बल, वास्तविक अपेक्षाएं या विश्वास, सभी या कुछ भी नहीं रवैया, अत्यधिक या अप्रत्याशित क्रोध, स्वयं की आलोचना।

होम्स और राह स्ट्रेस स्केल के अनुसार वयस्कों के लिए 10 तनावपूर्ण घटनाएं हैं- जीवनसाथी की मृत्यु, तलाक, विवाह विच्छेद, कैद होना, परिवार के किसी करीबी की मृत्यु, चोट या बीमारी, विवाह, नौकरी खोना, विवाह सामंजस्य, सेवानिवृत्ति।

प्रतिबल के स्रोतों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है:

- व्यक्तिगत संकट - नौकरी से हटना, किसी प्रिय की मृत्यु होना।
- जीवन संक्रांति- पहली बार कॉलेज में प्रवेश करना, नौकरी मिलना, विवाह, किशोरावस्था।
- परिस्थिति जन्य घटनाएं- दुर्घटनाएं, प्राकृतिक संकट, भूकंप, युद्ध, सांप्रदायिक दंगे।
- जैविक कारक- शारीरिक रोग, शारीरिक क्षति, शारीरिक अक्षमता।
- मनोवैज्ञानिक कारक- लक्ष्य प्राप्त न होने पर निराशा होना, द्वंद, पारिवारिक उत्तरदायित्व, अभिलाषा स्तर, सामाजिक आभार।
- गलत संज्ञान- वास्तविक चिंतन अर्थात् अपनी सामर्थ्य से अधिक ऊंचा अभिलाषा स्तर एवं उपलब्धि स्तर अपनी, सीमाओं से विमुखता, दुर्बल अहम शक्ति, दोषपूर्ण स्वधारणा।

13.6.4 प्रतिबल/ तनाव के चिन्ह और लक्षण

हमारे हमारे जीवन में तनावकर्ता हमें सांजस्य करने या अपने व्यवहार में कुछ बदलाव करने के लिए प्रेरित करते हैं। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं तो हम अनेक अप्रिय दुष्प्रभाव का अनुभव करते हैं। यह चिन्ह और लक्षण तनाव के स्तर को इंगित करते हैं जो अस्वास्थ्यकर होता है। तनाव के चिन्ह और लक्षण निम्नलिखित हैं-

- **शारीरिक लक्षण-** सिर दर्द या पीठ दर्द, मांसपेशियों में तनाव या जकड़न, दस्त या कब्ज, जी मिचलाना, चक्कर आना और निद्रा, सीने में दर्द, तीव्र हृदय स्पंदन, कम या ज्यादा शारीरिक वजन, त्वचा विकार, हाथ पैर ठंडे होना, अत्यधिक पसीना आना, अस्पष्ट घुटन, थकान दांत किटकिटाना, याददाश्त कम होना, धुंधला दिखना, ड्रग्स का उपयोग, हमेशा थकावट रहना।

- **संवेगात्मक लक्षण-** बदमिजाज, कुंठा, अवसाद, जल्दी क्रोध करना, कुस्वप्न, चिड़चिड़ापन, शीघ्रता से हतोत्साहित होना, चिंता, व्याकुलता, अधीरता, तीव्रता, अकेलेपन का एहसास, अप्रसन्नता, भूल जाना, गुस्सा, चिंता, बेचैनी, रक्षात्मक भाव, शोक या व्यथित, ईर्ष्या, शर्मिंदगी, आत्मघाती विचार।
- **संज्ञानात्मक लक्षण -** कमजोर याददाश्त, निर्णय लेने में असमर्थ, ध्यान केंद्रित करने में अयोग्य, स्पष्ट सोच का अभाव, निराशावादी कथन, नकारात्मक सोच, निरंतर चिंतित, उद्देश्यहीन, निर्णय लेने में असमर्थ, गणना करने में समस्या, नकारात्मक सोच, निरंतर आलोचना और शिकायत करना, अंतर्मुखी, परिस्थितियों से भागना, विपत्तिपूर्ण, अत्यधिक संदेह करना।
- **व्यवहारात्मक लक्षण-** कम या अधिक खाना, कम या अधिक निद्रा, अपने आप को दूसरों से अलग करना, उत्तरदायित्व से दूर भागना या टालना, शराब सिगरेट का प्रयोग, नाखून कुतरना, दांत पीसना या जबड़ों को भिचना, अत्यधिक कार्य जैसे व्यायाम खरीदारी करना दूसरों के साथ झगड़ना और असहनशीलता, छुप जाना और अविश्वास करना, मित्रों से कम संपर्क करना, क्षमा ना करना, दिशा विहीन, झूठ बोलना, खालीपन, शक्की स्वभाव।

13.6.5 प्रतिबल का प्रभाव

प्रतिबल का मनुष्य पर चार प्रकार से प्रभाव पड़ता है:

1. **संवेगात्मक प्रभाव-** तनाव से ग्रसित व्यक्ति का मूड बदलता रहता है। वह अस्थिर व्यवहार प्रदर्शित करता है जो उसे परिवार और दोस्तों से अलग करता है। कुछ स्थितियों में यह निम्न आत्मविश्वास के जटिल चक्र का रूप ले लेता है परिणामस्वरूप गंभीर संवेगात्मक समस्या उत्पन्न हो जाती है उदाहरण के लिए चिंता और अवसाद का अनुभव, अत्यधिक मनोवैज्ञानिक तनाव और मन बदलना।
2. **शारीरिक प्रभाव-** जब मानव शरीर को शारीरिक या मनोवैज्ञानिक तनाव की स्थिति में रख दिया जाता है तो वह कुछ हार्मोन जैसे एड्रीनलिन, कॉर्टिसोल का स्रावण बढ़ा देता है। इन हार्मोन के कारण हृदय दर, रक्तचाप स्तर, चयापचय और शारीरिक गतिविधियों में महत्वपूर्ण बदलाव आते हैं। हालांकि यह हार्मोन कम समय में शरीर को प्रभावशाली तरीके से कार्य करने हेतु मदद करते हैं परंतु लंबी अवधि में यह शरीर पर अत्यधिक हानिकारक प्रभाव डालते हैं उदाहरण के

लिए पाचन तंत्र का धीमा हो जाना, फेफड़ों में वायु मार्ग का विस्तार हो जाना, हृदय दर का बढ़ना और रक्त धमनियों का संकुचन होना।

3. **संज्ञानात्मक प्रभाव-** तनाव के कारण दबाव बने रहने से व्यक्ति मानसिक अधिभार से ग्रसित हो जाता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति सही निर्णय नहीं ले पाता। घर या कार्यस्थल में गलत निर्णय के कारण बहस, असफलता, वित्तीय नुकसान या नौकरी छूट जाने की स्थिति बन जाती है। व्यक्ति में निम्न एकाग्रता और अल्पकालीन स्मृति का ह्रास होता है।
4. **व्यवहारात्मक प्रभाव-** कम पौष्टिक भोजन खाना, चाय कॉफी जैसे उत्तेजकों का अधिक मात्रा में लेना, सिगरेट शराब का अत्यधिक सेवन और अफीम चरस जैसे मादक पदार्थों के सेवन आदि के रूप में तनाव व्यक्ति के व्यवहार में प्रभाव डालता है। तनाव के कारण व्यक्ति में नींद का बाधित स्वरूप, अत्यधिक अनुपस्थिति और कार्य क्षमता में गिरावट देखने को मिलती है।

13.6.6 प्रतिबल प्रबंधन

यह संभव नहीं है कि व्यक्ति अपने जीवन में तनाव से बच जाए मगर कुछ सामान्य उपायों का अनुसरण कर तनाव का प्रबंधन किया जा सकता है। तनाव प्रबंधन का लक्ष्य अपने तनाव की पहचान करना है और कार्य नीति बनाकर उसको दृढ़ता से लागू करता है।

1. तनाव का सामना करना

तनाव का सामना करना दबावपूर्ण स्थितियों या घटनाओं के प्रति मूर्त अनुक्रियाओं का संग्रह होता है जिसका प्रयोजन समस्या का समाधान करना और दबाव को कम करना है। दबाव का प्रबंधन करने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने सोचने के तरीके का पुनः मूल्यांकन करें और दबाव का सामना करने की युक्तियां या कौशल सीखे। यह इसलिए जरूरी है क्योंकि व्यक्ति जिस दबाव का सामना करता है वह उसके स्थाई और गहरी विश्वासों एवं अनुभवों पर आधारित होता है। एन्डलर तथा पार्कर ने दबाव का सामना करने की निम्नलिखित तीन कार्य नीति बताई है।

- **कार्य उन्मुख कार्यनीति-** इसके अंतर्गत तनावपूर्ण स्थितियों, उनके प्रति वैकल्पिक क्रियाओं तथा उनके संभावित परिणामों के विषय में सूचनाएं एकत्रित की जाती हैं। इसके अंतर्गत प्राथमिकताओं को निर्धारित करना और उसमें अमल करना भी शामिल है ताकि तनावपूर्ण स्थितियों से प्रत्यक्ष रूप से सामना किया जा सके।

- **संवेग उन्मुख कार्यनीति-** इसके अंतर्गत मन में आशा बनाए रखना, संवेगों पर नियंत्रण रखना, क्रोध व कुंठा की भावना को निकालना या निर्णय लेना की स्थितियों को बदलने के लिए कुछ नहीं किया जा सकता को सम्मिलित किया जाता है।
- **परिहार उन्मुख कार्यनीति-** इसके अंतर्गत परिस्थितियों की गंभीरता को नकारना या कम समझना, तनावपूर्ण विचारों का सचेत दमन और उनके स्थान पर आत्मरक्षा विचारों की स्थापना करना सम्मिलित है।
- **लेजारस तथा फोकमैन के अनुसार किसी दबावपूर्ण कार्य के संपादन में होने वाली आंतरिक और बाहरी मांगों पर विजय पाने, उन्हें कम करने के लिए या सहने के लिए संज्ञानात्मक तथा व्यवहारात्मक प्रयासों में परिवर्तन करके दबाव का सामना किया जा सकता है। उनके अनुसार तनाव का सामना करने की दो अनुक्रियाये हैं-**
 - i. **समस्या केंद्रित कार्यनीति-** यह स्वयं समस्या पर आक्रमण करती है। यह सूचनाएं एकत्रित करने, घटनाओं को परिवर्तित करने तथा विश्वास और प्रतिबद्धता को परिवर्तित करने वाले व्यवहारों द्वारा करती है। यह व्यक्ति में जागरूकता, ज्ञान का स्तर तथा दबाव का सामना करने के संज्ञानात्मक एवं व्यवहारात्मक विकल्पों में वृद्धि करती हैं।
 - ii. **संवेग केंद्रित कार्यनीति-** मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों के उपयोग द्वारा न्यूनतम प्रयास से घटना में परिवर्तित कर मुख्य रूप से संवेगात्मक विघटन के प्रभाव को सीमित किया जाता है।

तनावपूर्ण स्थितियों का सामना करने हेतु दोनों कार्य नीति उपयुक्त है मगर व्यक्ति समस्या केंद्रित कार्यनीति पर अधिक बल देता है।

2. तनाव प्रबंधन हेतु स्वस्थ विकल्प

तनाव तंत्रिका तंत्र की एक स्वचालित प्रतिक्रिया है मगर कुछ तनाव पूर्व कथनीय समय पर उत्पन्न हो जाते हैं जिसमें आप या तो परिस्थिति परिवर्तित कर सकते हैं या अपनी प्रतिक्रिया परिवर्तित कर सकते हैं। निर्णय लेते समय निम्नलिखित विकल्पों में से चुन सकते हैं:

1. अनावश्यक तनाव से बचें
2. तनाव की स्थिति को बदलें
3. तनाव को स्वीकार करें

4. तनाव के अनुकूल बनें

1. अनावश्यक तनाव से बचें

- सभी तनाव से नहीं बचा जा सकता है। ऐसी तनावपूर्ण स्थिति से बचना स्वास्थ्यकर नहीं है जिसे संभालने की जरूरत है मगर आप अपने जीवन में उन तनावों की संख्या से चकित हो सकते हैं जिन्हें आप समाप्त कर सकते हैं।
- ना कहने का तरीका जानें। अपनी सीमाएं और क्षमताएं जाने तथा उन से चिपके रहे व्यक्तिगत और व्यवसायिक जीवन में आप जितनी जिम्मेदारियां संभाल सकते हैं उतनी संभाल ले उससे अधिक ना लें।
- उन लोगों से बचें जो आपको तनाव देते हैं।
- अपने पर्यावरण पर नियंत्रण रखें। यदि बिजली का बिल जमा करने के लिए पंक्ति में खड़ा होना आपके लिए तनावपूर्ण है तो ऑनलाइन भुगतान करें। शाम को समाचार आपको व्यथित करता है तो टीवी देखना बंद कर दें।
- एक ही विषय पर एक ही व्यक्ति से बार-बार बहस बंद कर दें या जब ऐसी चर्चाएं हों तो बहाना बनाकर हट जाएं।
- अपने कार्यों की सूची में छूटनी करें। अपने कार्यक्रम, जिम्मेदारियों और दैनिक कार्यों का विश्लेषण करें जो कार्य ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं है उन्हें कार्य सूची में नीचे रखें या सूची से हटा दें।

2. तनाव की स्थिति को बदलें

यदि आप तनावपूर्ण स्थिति से बच नहीं सकते तो इसे बदलने की कोशिश करें। यह पता लगाएं कि आप चीजों को बदलने के लिए क्या कर सकते हैं ताकि भविष्य में समस्या खुद को प्रकट ना कर सके। अधिकांशतः इसमें आपके दैनिक जीवन में संचार और संचालन के तरीकों को बदलना शामिल है:

- अपनी भावनाओं को दबा कर रखने के बजाय उन्हें व्यक्त करें।
- समझौता करने के लिए तैयार रहें।
- अधिक मुखर बनें।
- अपने समय का बेहतर प्रबंधन करें।
- संतुलित कार्य अनुसूची बनाएं।

3. तनाव को स्वीकार करें

कभी कभी तनाव के स्रोत अपरिहार्य होते हैं जिन्हें बदला या रोका नहीं जा सकता जैसे किसी प्रियजन की मृत्यु, गंभीर बीमारी, देश में चल रही मंदी, अतः इन परिस्थितियों में तनाव का सामना करने का सबसे उत्तम तरीका है कि चीजों को वैसे ही स्वीकार करें जैसे कि वे हैं।

- अनियंत्रित को नियंत्रित करने का प्रयास न करें।
- स्थिति का अन्य पहलू देखें। जब कोई प्रमुख चुनौतियों का सामना करो तो उन्हें व्यक्तिगत वृद्धि के लिए एक अवसर की तरह देखें।
- क्षमा करना सीखें।
- अपनी भावनाओं का सहभाग करें।

4. तनाव के अनुकूल बनें

यदि तनाव को नहीं बदल सकते तो स्वयं को बदलें। इसके अंतर्गत निम्न उपाय किए जा सकते हैं:

- समस्याओं को पुनः देखना।
- वृहदता से देखें अर्थात् तनावपूर्ण स्थिति का स्वरूप देखें और यह जानने का प्रयास करें कि दीर्घावधि में यह कितना महत्वपूर्ण है।
- अपने मानकों को समायोजित करें।
- आभार का अभ्यास करें।
- तनाव प्रबंधन तकनीकों का उपयोग करें।

वर्तमान जीवन शैली के कारण तनाव की समस्या बढ़ती ही जा रही है अतः हर कोई इससे बचने की तकनीक जानने का इच्छुक है। तनाव प्रबंधन की तकनीकें निम्नलिखित हैं-

विश्रांति तकनीक- विश्रांति तकनीक का अर्थ किसी भी विधि प्रक्रिया या गतिविधि से है जो किसी व्यक्ति को आराम करने में मदद करती है।

ध्यान प्रक्रियाएं- ध्यान एक अभ्यास है जिसमें व्यक्ति ध्यान और जागरूकता को प्रशिक्षित करने तथा मानसिक रूप से स्पष्ट और भावनात्मक रूप से शांत और स्थिर स्थिति को प्राप्त करने हेतु किसी विशेष वस्तु, विचार या क्रिया पर अपना ध्यान केंद्रित करता है।

जैव प्रतिप्राप्ति या बायोफीडबैक- यह एक मन शरीर तकनीक है जिसमें व्यक्ति उपकरणों द्वारा शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य में सुधार लाने के उद्देश्य से अपने शरीर विज्ञान को संशोधित करना सीखते हैं।

सृजनात्मक निर्देशित कल्पना- इस तकनीक में व्यक्ति आराम और ध्यान केंद्रित करने हेतु कल्पना का उपयोग कर मन को सुखदायक दृश्य स्थानों या अनुभव से जोड़ते हैं परिणाम स्वरूप व्यक्ति में नकारात्मक विचारों के स्थान पर सकारात्मक दृष्टि सुदृढ़ होती है।

संज्ञानात्मक व्यवहार तकनीक- इस तकनीक का आधार यह है कि व्यक्ति के विचार और धारणाएं उसके व्यवहार को प्रभावित करती हैं।

व्यायाम- तनाव को कम करने का सबसे सामान्य और आसान तरीका व्यायाम है। नियमित व्यायाम व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ और सक्रिय रखता है। यह न केवल तनाव उत्पन्न करने वाले हार्मोन को कम करता है बल्कि तनाव कम करने व मूड अच्छा करने वाले हार्मोन का स्रावण भी शरीर में बढ़ाता है।

- तनाव प्रबंधन हेतु सकारात्मक स्वास्थ्य और कुशल क्षेम को बढ़ावा देना

सकारात्मक स्वास्थ्य का अर्थ स्वास्थ्य संपत्तियों से है जो एक स्वस्थ लंबे जीवन में योगदान करते हैं। सकारात्मक स्वास्थ्य और कुशल क्षेम के निम्नलिखित तत्वों को बढ़ावा देकर तनाव का प्रबंधन किया जा सकता है:

1. दबाव प्रतिरोधी व्यक्तित्व - इसके अंतर्गत वह लोग आते हैं जिनमें उच्च स्तर का दबाव सहने की क्षमता होती है। इनमें दृढ़ता नामका एक विशेष गुण पाया जाता है। यह अपने कार्य, परिवार, शौक, सामाजिक जीवन के प्रति प्रतिबद्ध रहते हैं। इनमें नियंत्रण की भावना और चुनौतियों का सामना करने की अपेक्षाकृत अधिक क्षमता होती है।

2. जीवन कौशल - जीवन कौशल वह क्षमता और व्यवहार है जो व्यक्ति को दैनिक जीवन की घटनाओं और चुनौतियों से प्रभावी ढंग से निपटने में मदद करते हैं। कुछ जीवन कौशल जो तनाव प्रबंधन में सहायक होते हैं निम्नलिखित हैं-

- आग्रहिता अर्थात् मुखर व्यवहार

- समय प्रबंधन
 - कार्यों को एक के बाद एक सूचीबद्ध न करें या 1 दिन में अधिक कार्यों की सूची ना बनाएं
 - कार्यों को प्राथमिकता दें।
 - कार्यों को छोटे चरणों में विभक्त करें
 - जिम्मेदारियां बांटें।
 - तर्कसंगत चिंतन करें।
 - आत्म देखभाल करें।
- 3. स्वस्थ जीवन-शैली-** जीवन शैली का तात्पर्य व्यक्तिगत व्यवहार एवं आदतों से है जो किसी व्यक्ति के जीवन शैली से तनाव के नकारात्मक प्रभाव का विरोध करने में मदद करती हैं और तनाव को एक समस्या बनने से रोकती हैं। व्यक्ति अपने स्वास्थ्य को बनाए रखने एवं तनाव को रोकने हेतु निम्नलिखित जीवनशैली अपना सकते हैं-
- नियमित व्यायाम करें।
 - स्वस्थ भोजन करें।
 - चाय कॉफी और चीनी के सेवन की मात्रा कम करें।
 - शराब सिगरेट और ड्रग्स से बचें।
 - पर्याप्त नींद लें, यह दिमाग के साथ-साथ शरीर को ईंधन देती है।
- 4. सकारात्मक अभिवृत्ति-** यह तनाव कम करने का सबसे अच्छा तरीका है। हर बुरी परिस्थिति में भी कुछ अच्छाई होती है। सकारात्मक अभिवृद्धि हेतु चुनौतियों को अनुभव के रूप में लें, अस्वीकृति को भी अपनाएं, सकारात्मक शब्दों से अपने जीवन का वर्णन करें।
- 5. सकारात्मक सोच-** यह तनाव का सामना करने की क्षमता बढ़ाती है और कठिनाइयों से बाहर निकलने में सहायता प्रदान करती है। सकारात्मक सोच जीवनकाल बढ़ाता है, स्मृति हानि व अवसाद कम करता है, दैनिक चिंताओं का बोझ कम करता है, हृदय रोग कम करता है। सकारात्मक सोच बढ़ाने हेतु अधिक मुस्कुराएं, व्यायाम करें, दैनिक आभार का अभ्यास करें, आशावादी लोगों के साथ समय व्यतीत करें, समुदाय में योगदान करें।
- 6. सामाजिक समर्थन-** यह दोस्तों, परिवार और साथियों से बनता है। सामाजिक समर्थन बढ़ाने हेतु समाज के संपर्क में रहें, प्रतिस्पर्धा ना करें, अच्छे श्रोता बनें, दोस्तों और परिवार की सराहना करें, उनका आभार व्यक्त करें आदि।

7. मौज मस्ती और आराम के लिए समय निकालें

13.7 दबाव

सी.जी. मॉरिस के अनुसार दबाव एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक प्रतिबल अवस्था है जिसमें व्यक्ति यह अनुभव करता है कि उसे एक विशिष्ट भावना के अनुसार रहना या पहनना या व्यवहार करना है अथवा उसे तीव्रता से हो रहे परिवर्तनों के साथ अनुकूलन करना है। दबाव उस दशा में उत्पन्न होता है जब व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है कि लक्ष्य प्राप्त करने के दृष्टिकोण से उसके प्रयास यथोचित नहीं हैं और उसे अपने व्यवहार में तेजी, सुधार या परिवर्तन की आवश्यकता है। आधुनिक युग में व्यक्ति को अनेक भौतिक, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तनों का सामना करना पड़ता है। यदि व्यक्ति इन परिवर्तनों से सामंजस्य स्थापित कर लेता है तो उसका व्यवहार समायोजित कहलाता है और असफल होने पर वह कुसमायोजन का शिकार हो जाता है।

13.7.1 दबाव के प्रकार

दबाव निम्नलिखित प्रकार के होते हैं-

1. आंतरिक और बाह्य दबाव

आंतरिक दबाव व्यक्ति के आत्म प्रतिष्ठा को बनाए रखने वाले होते हैं। आंतरिक दबाव रचनात्मक तब होते हैं जब व्यक्ति अपनी शारीरिक या मनोवैज्ञानिक योग्यताओं या कौशल या लोकप्रियता के कारण उच्च मानकों के साथ अनुरूपता स्थापित करना चाहता है। विध्वंसात्मक आंतरिक दबाव उस समय होता है जब व्यक्ति अपने आपको लक्ष्यों या आदर्शों को प्राप्त करने में असफल या असंभव समझता है। बाह्य दबाव व्यक्ति पर बाहरी वातावरण के द्वारा पड़ता है उदाहरण के लिए परीक्षा में अच्छे अंक लाने हेतु माता-पिता द्वारा बच्चे पर पढ़ाई का दबाव डालना जबकि बच्चा अपनी मर्जी से पढ़ना चाहता है।

2. वास्तविक तथा कथित दबाव

वास्तविक दबाव वह दबाव होता है जिसका व्यक्ति अपने कार्यों और दैनिक जीवन में महसूस करता है जबकि कथित दबाव वह दबाव है जो एक व्यक्ति अनुभव करता है मगर दूसरे के लिए वह दबाव नहीं है जैसे लालच, बड़े खर्च, पारिवारिक वित्तीय समस्या आदि।

3. व्यक्तिगत और सामूहिक दबाव

व्यक्तिगत दबाव एक व्यक्ति पर पड़ने वाला दबाव है जबकि सामूहिक दबाव एक समूह द्वारा अपने व्यक्तिगत सदस्यों पर लागू किया जाता है ताकि उन्हें अनुरूप बनाया जा सके।

4. अन्य दबाव

समय दबाव तब होता है जब किसी व्यक्ति के पास कार्य पूरा करने का परिणाम प्राप्त करने के लिए आवश्यक समय कम होता है।

साथियों का दबाव साथियों द्वारा लोगों पर प्रत्यक्ष प्रभाव है अथवा प्रभावशाली समूह या व्यक्ति के अनुरूप अपने अभिवृत्ति मूल्यों या व्यवहारों में बदलाव के द्वारा व्यक्ति पर वह प्रभाव है जो व्यक्ति अपने साथियों का अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित होता है। इस प्रभाव का परिणाम सकारात्मक या नकारात्मक हो सकता है।

13.7.2 दबाव का प्रबंधन

दबाव में होने के साथ उसका सामना करने के लिए विभिन्न कदम उठाए जा सकते हैं;

- ऐसे कारणों को पहचानना जो दबाव उत्पन्न करते हैं।
- अपना समय व्यवस्थित करें।
- कार्यो में अन्य लोगों की मदद लें।
- दबाव में घुटने की बजाय अपने संसाधनों को एकत्रित कर दबाव में सामान्य से अच्छा प्रदर्शन करें।

13.8 चिंता

चिंता डर, भय, घबराहट या आशंका की भावनाओं से जुड़ी एक तनावपूर्ण स्थिति के लिए एक स्वाभाविक और अल्पकालीन प्रतिक्रिया है। यह आमतौर पर नई अपरिचित या चुनौतीपूर्ण स्थितियों में होता है जहां व्यक्ति कार्य को महसूस नहीं कर सकता या जहां परिणाम अनिश्चित होता है। जैसे परीक्षा में बैठना, नौकरी हेतु इंटरव्यू में भाग लेना, स्कूल का पहला दिन आदि स्थितियों में व्यक्ति चिंता महसूस करते हैं। दैनिक जीवन में कुछ चिंता अनिवार्य रूप से उत्पन्न होती है और इसे सामान्य माना जाता है लेकिन लगातार तीव्र, पुरानी या आवृत्ति चिंता जो वास्तविक जीवन के तनावों की प्रतिक्रिया में न्याय संगत नहीं है वह एक भावनात्मक विकार का संकेत है। चिंता अहानिकर स्थितियों में उत्पन्न होती है या व्यक्ति पर आंतरिक भावनात्मक बंधुओं का उत्पाद है जिसका कारण स्वयं व्यक्ति को स्पष्ट नहीं होता है

13.8.1 चिंता के लक्षण

चिंता के सामान्य लक्षण हैं- बेचैनी, एकाग्रता में कठिनाई, हृदय का तेज धड़कना, कांपना, पसीना आना, स्तब्ध या बेहोश होना, जी मिचलाना, चिड़चिड़ापन, सिर दर्द या पेट दर्द।

13.8.2 चिंता के कारण

- जब व्यक्ति जानबूझकर अपने अनुभवों भावनाओं और हानिकारक या विचलित आवेगों के दबाने से आंतरिक भावनात्मक संघर्ष की अभिव्यक्ति करता है।
- चिंता व्यक्ति के अहम या आत्मसम्मान को खतरा उत्पन्न होने के कारण भी होती है, जैसे नौकरी में प्रदर्शना।
- जीवन में भयावह घटनाएं और उससे जुड़ी आसपास की परिस्थितियां।
- उद्दीपनों को खतरे के रूप में मात्र मूल्यांकन कर लेने से।

13.8.3 चिंता विकार

हर कोई दैनिक जीवन के कार्यों में चिंतित महसूस करता है जो कि एक सामान्य भाव है मगर एक ही विचार या चिंता की पुनरावृत्ति हो तो वह विकार के चरण तक पहुंच जाती है और व्यक्ति के दैनिक कार्यों में हस्तक्षेप करती है। चिंता विकार मानसिक बीमारियों का एक समूह है जिसमें गंभीर, लगातार, आवृत्ति और दृढ़ चिंता के लक्षण अभिव्यक्त होते हैं।

चिंता विकार के प्रकार

- **मनोग्रस्तता बाध्यता विकृति:** यह आवर्तक, अवांछित विचारों या दोहराए जाने वाला व्यवहार (मजबूरियां) हैं। इसमें व्यक्ति जुनूनी विचारों को रोकने या उन्हें दूर करने की आशा के साथ दोहराए जाने वाले व्यवहार जैसे हाथ धोना, गिनना, जांचना या सफाई करना, चोरी करना स्पर्श करना करता है।
- **सामान्यीकृत चिंता विकार:** यह बिना उत्तेजना के गंभीर चिंता, अतिरंजित चिंता और तनाव की स्थिति है जिसमें व्यक्ति कार्य, परिवार या स्वास्थ्य जैसी दैनिक स्थिति के बारे में लगातार और अत्यधिक चिंता करता है। इसको नियंत्रित करना कठिन होता है और यह व्यक्ति के दैनिक कार्यों व रिश्तों में हस्तक्षेप करता है।

- **आतंक विकृति:** इसमें व्यक्ति तीव्र आतंक और आशंका के संक्षिप्त, अचानक, लगातार हमले का अनुभव करता है जो कुछ ही मिनटों में तीव्र भय और बेचैनी के चरम पर पहुंच जाता है। इन हमलों से कंपकपी, भ्रम, चक्कर आना, मतली और सांस लेने में कठिनाई हो सकती है। यह आमतौर पर भयावह अनुभव या लंबे समय तक तनाव के बाद होते हैं।
- **विशिष्ट भय:** यह किसी खास वस्तु या परिस्थिति के प्रति तीव्र या असंगत भय है जो कि वास्तव में खतरनाक नहीं होता है, इसको फोबिया कहते हैं। यह अन्य चिंता विकारों की तरह नहीं है क्योंकि वे एक विशिष्ट कारण से संबंधित हैं। फोबिया से ग्रसित व्यक्ति को यह पता होता है कि उसका भय अतार्किक या अतिवादी है लेकिन वह उद्दीपकों के आसपास अपनी भावनाओं को नियंत्रित करने में असमर्थ रहता है। व्यक्ति को ऊंची जगह, तंग स्थान, भीड़, पशु, अंधकार, खून, खुले स्थान, सामाजिक स्थितियों आदि का फोबिया हो सकता है।
- **उत्तर आघातीय प्रतिबल विकृति:** यह विकृति किसी दर्दनाक घटना के अनुभव या उसके साक्षी बनने के उपरांत उत्पन्न होती है। इसमें व्यक्ति पूर्व में घटित किसी विशिष्ट मानवीय घटना से संबंधित संवेगात्मक तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओं से इस हद तक पीड़ित हो जाता है कि उसका समायोजन बिगड़ जाता है।

13.8.4 चिंता का उपचार

चिंता और चिंता विकार से ग्रसित व्यक्ति के उपचार के लिए निम्नलिखित चिकित्सा विधियों का उपयोग आवश्यकतानुसार किया जा सकता है:

1. **चिकित्सा उपचार:** यदि लक्षण गंभीर हैं तो कुछ चिकित्सा उपचार सहायक हो सकते हैं। भले ही व्यक्ति अवसाद के लक्षणों का अनुभव ना कर रहा हो फिर भी चिंता प्रबंधन हेतु अवसाद रोधी दवाइयां सहायक होती हैं।
2. **मनोवैज्ञानिक उपचार (मनोचिकित्सा):** इसे वार्तालाप उपचार के नाम से भी जाना जाता है। यह व्यक्ति के सोचने के स्वरूप को बदलने में मदद कर सकता है ताकि व्यक्ति अपनी चिंता पर नियंत्रण रख सके और तर्कहीन चिंताओं को कम कर सके।

13.9 अंतर्द्वंद / द्वन्द

द्वंद्वीय परिस्थिति के कारण समायोजन की समस्या उत्पन्न होती है। समय-समय पर हम सभी कुछ ना कुछ विभिन्न असहमतियाँ प्रकट करते हैं। द्वंद दो या दो से अधिक लोगों या लोगों के समूह के बीच विरोध असहमति या अक्षमता की स्थिति है। द्वंद ज्यादातर टकराव के अस्तित्व को संदर्भित करता है जो रुचियाँ, मूल्य, कार्य या निर्देश हो सकते हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से द्वंद तब उत्पन्न होता है जब एक प्रेरक उत्तेजना कम हो जाती है और दूसरा बढ़ जाता है परिणामस्वरूप एक नया समायोजन होता है। द्वंद जीवन का आवश्यक और स्थाई हिस्सा है और यह स्वाभाविक होता है। द्वंद मामूली संघर्ष हो सकता है जिससे कोई नुकसान ना हो या गंभीर संघर्ष भी हो सकता है जिसके परिणामस्वरूप अपूरणीय क्षति हो। द्वंद ना तो अच्छा है और ना ही बुरा।

द्वंद की परिभाषा

बोरिंग लैंगफिल्ड तथा वेल्ड के अनुसार द्वंद एक ऐसी अवस्था है जिसमें दो या दो से अधिक विरोधी प्रेरणा उत्पन्न हो जाती हैं जिनकी एक साथ तृप्ति संभव नहीं है।

ब्राउन के अनुसार जब दो इच्छाएं इतनी विरोधी होती हैं कि एक दूसरे की तृप्ति में बाधा उत्पन्न करती हैं तो इससे उत्पन्न तनाव की स्थिति को द्वंद कहते हैं।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि व्यक्ति द्वंद का अनुभव उस समय करता है जब उसको दो वांछित लक्ष्यों में से किसी एक का चयन करना होता है या किसी एक लक्ष्य के प्रति व्यक्ति की धनात्मक एवं ऋणात्मक धारणाएं होती हैं। इसके अतिरिक्त द्वंद का अनुभव उन परिस्थितियों में भी होता है जब लक्ष्य प्राप्त करने के लिए दो विकल्प उपलब्ध होते हैं और व्यक्ति यह तय नहीं कर पाता है कि किस विकल्प का चुनाव किया जाए या उपलब्ध विकल्प नकारात्मक है परंतु फिर भी किसी एक का चयन करना ही है।

13.9.1 द्वंद के प्रकार

द्वंद के निम्नलिखित प्रकार होते हैं:

1. **पारस्परिक द्वंद:** यह दोनों व्यक्ति के भीतर एक समय में दो या दो से अधिक उद्देश्यों या लक्ष्यों को प्राप्त करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है अतः इन्हें लक्ष्य द्वंद भी कहते हैं। यह निम्नलिखित प्रकार का होता है:

- **अभिगम द्वंद:** इस प्रकार का द्वंद व्यक्ति में तब उत्पन्न होता है जब उसे दो समान प्रेरणादाई और महत्वपूर्ण सकारात्मक लक्ष्यों या इच्छाओं के मध्य चुनाव करने की समस्या का सामना करना पड़ता है। व्यक्ति के लिए दोनों ही वांछित होते हैं परंतु परिस्थिति वश उसे एक का त्याग करने का निर्णय लेने हेतु संघर्ष करना पड़ता है।
 - **परिहार द्वंद:** इस प्रकार का द्वंद व्यक्ति में तब उत्पन्न होता है जब उसे दो या दो से अधिक नकारात्मक लक्ष्य या इच्छाओं के मध्य चयन करने की समस्या का सामना करना पड़ता है जबकि व्यक्ति के लिए यह लक्ष्य इच्छाएं अनाकर्षक हैं। दूसरे शब्दों में दोनों तरफ व्यक्ति के लिए हार है। उदाहरण के लिए बच्चा नृत्य सीखना नहीं चाहता और अपने नृत्य समूह से हटना भी नहीं चाहता।
 - **अभिगम-परिहार द्वंद:** इस प्रकार का द्वंद व्यक्ति में तब उत्पन्न होता है जब उसके समक्ष एक ही लक्ष्य इच्छा होती है मगर उस लक्ष्य या इच्छा के मजबूत धनात्मक (सकारात्मक) और ऋणात्मक (नकारात्मक) विशेषता होती है अर्थात् व्यक्ति प्राप्त भी करना चाहता है और प्राप्त करने से मना भी कर देता है। उदाहरण के लिए कोई लड़की नए डिजाइन की ड्रेस को देखकर खरीदना चाहती है मगर उसका मूल्य देखकर खरीदना भी नहीं चाहती।
 - **दोहरा अभिगम- परिहार द्वंद** इस प्रकार का द्वंद व्यक्ति में तब उत्पन्न होता है जब उसको 2 लक्ष्यों या इच्छाओं के मध्य चयन करना होता है मगर दोनों में ही समान धनात्मक और ऋणात्मक गुण पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को दो नौकरी में से चुनाव करना है एक नौकरी घर के पास है मगर वेतन कम है जबकि दूसरी नौकरी दूसरे शहर में है मगर वेतन भी अधिक है।
- 2. अंतरवैयक्तिक द्वंद:** दो लोगों के मध्य होने वाले द्वंद को अंतरवैयक्तिक द्वंद कहते हैं। यह तब होता है जब दो व्यक्ति किसी विषय पर एक दूसरे से सहमत नहीं होते हैं क्योंकि लोगों की पसंद नापसंद भिन्न-भिन्न होती है, वह अलग अलग चीजों का आनंद लेते हैं और दुनिया को अलग-अलग दृष्टिकोण से देखते हैं।
- 3. अंतर समूह द्वंद:** यह अंतर वैयक्तिक द्वंद के समान है मगर यह द्वंद दो लोगों के मध्य ना होकर एक समूह के विभिन्न व्यक्तियों के मध्य होता है।

13.9.2 द्वंद के स्रोत या कारक

- **वातावरणीय कारक:** द्वंद के उत्पन्न हेतु आवश्यक आधार प्रदान करते हैं मगर शिक्षक, अभिभावक और समाज भी इसके लिए उत्तरदायी हैं। द्वंद के निम्नलिखित स्रोत हैं-

घर का वातावरण: घर पर दोषपूर्ण परवरिश या पारिवारिक सदस्यों के मध्य अप्रिय रिश्ता बच्चों में द्वंद उत्पन्न करता है। अभिभावकों द्वारा अधिक सुरक्षा, प्रभुत्व, विनम्रता या लापरवाही के कारण बच्चे को विद्यालय में अन्य के साथ सामाजिक संपर्क स्थापित करने में मदद नहीं मिलती और वे भविष्य में विपरीत इच्छाओं का शिकार हो जाते हैं। परिवार के सदस्यों के मध्य होने वाले मतभेदों और अनुपयुक्त वातावरण के कारण वयस्कों में द्वंद होता है। वैवाहिक जीवन में इच्छाओं के अनुरूप चीजें प्राप्त नहीं होती या आर्थिक कठिनाइयों के कारण द्वंद होता है। जीवन की विषम आवश्यकताओं के कारण भी घर के वातावरण में द्वंद की स्थिति उत्पन्न होती है।

विद्यालय का वातावरण: स्कूल या कॉलेज में असौहार्दपूर्ण वातावरण, शिक्षकों का प्रभुत्व, शिक्षण की दोषपूर्ण विधियां, आत्म अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त अवसर ना मिलना, शिक्षकों व साथियों की असंगत मांग के कारण युवा बालकों में द्वंद उत्पन्न होता है।

कार्य क्षेत्र का वातावरण: कार्यक्षेत्र में असौहार्दपूर्ण व अनुचित वातावरण, कार्यपरिस्थितियों, वेतन, साथियों एवं अधिकारियों से असंतुष्टि, बुढ़ापे में सुरक्षा का अभाव, दुर्घटना आदि व्यवसायिक कुसमायोजन के कारण द्वंद उत्पन्न होता है।

सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण: लैंगिक इच्छाओं पर समाज का कठोर नियंत्रण, युवाओं और प्रौढ़ों में लैंगिक द्वंद का कारण हैं। सामाजिक आदर्शों का उल्लंघन करने पर व्यक्ति स्वयं को तनाव में पाता है। व्यक्ति इच्छाओं की पूर्ति चाहता है मगर सामाजिक मान्यताओं को तोड़ना भी नहीं चाहता तो वह द्वंद का अनुभव करेगा। विभिन्न जातियों व धर्मों के बीच मतभेदों के कारण द्वंद उत्पन्न होता है।

- **व्यक्तिगत कारक:** द्वंद का एक प्रमुख कारण व्यक्तिगत असफलता तथा हीनभावना है। जब व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं के स्तर से अधिक स्तर की आवश्यकताओं की पूर्ति चाहता है तो वह अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि में असफल हो सकता है परिणामस्वरूप उसमें द्वंद उत्पन्न हो सकता है।

13.9.3 द्वंद से बचाव

द्वंद से बचाव हेतु निम्नलिखित उपाय किए जा सकते हैं-

- समस्या समाधान करने की अभिवृत्ति का विकास करना।
- द्वंद उत्पन्न होने पर द्वंद उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों पर विचार तथा तर्क वितर्क कर तुरंत निर्णय लेना चाहिए।
- द्वंद परिस्थितियों के विषय में लिए गए निर्णयों का दृढ़ता से पालन करें।
- मनोरचनाओं द्वारा द्वंद की परिस्थिति का समाधान करना चाहिए।
- भावनाओं और व्यवहार को नियंत्रित रखना चाहिए।
- वर्तमान में ध्यान केंद्रित करना चाहिए।

13.10 कुंठा

मानव अपने वातावरण के साथ संतोषजनक संबंध स्थापित करने के लिए लगातार प्रयास करता रहता है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने की कोशिश करता है ताकि खुशी से रह सके और प्रभावी ढंग से कार्य कर सके। मगर आवश्यकताओं को हमेशा सभी स्थितियों में पर्याप्त रूप से संतुष्ट नहीं किया जा सकता है। व्यक्ति को अन्य लोगों के दृष्टिकोण का सामना करना पड़ता है जो आलोचना, गलती खोज, डांट, उपहास, शत्रुता पूर्ण व्यवहार हैं। व्यक्ति के लिए सुरक्षा, मूल्य और सक्षमता की भावनाओं को विकसित करना मुश्किल हो जाता है। व्यक्ति पर सभ्यता द्वारा प्रतिबंध लगाए गए हैं, सामाजिक कानून व मानक हैं। दूसरे शब्दों में व्यक्ति की आवश्यकता और इच्छाओं की संतुष्टि में कई तरह के अवरोध या बाधाएं हैं जिनके परिणामस्वरूप वह असफल हो जाता है। निरंतर असफलता व्यक्ति में कुंठा की भावना उत्पन्न करती है। कुंठा एक प्रकार की आंतरिक अनुभूति है जिसके कारण व्यक्ति का व्यवहार अनियमित, असंगत तथा कभी-कभी असामान्य भी हो जाता है।

कुंठा की परिभाषा

हिल गार्ड के अनुसार कुंठा की एक अवस्था वह है जिसमें लक्ष्य प्राप्ति में किसी पर्यावरणीय कारक द्वारा बाधा उत्पन्न की जाती है और दूसरी अवस्था वह है जिसमें लक्ष्य प्राप्ति में बाधा के कारण असुखद अनुभूति होती है।

कोलमन के अनुसार कुंठा का परिणाम तब होता है जब किसी बाधा के द्वारा जो किसी वांछित लक्ष्य की ओर हमारी प्रगति को अवरुद्ध या बाधित करती है या उपयुक्त लक्ष्य के अभाव द्वारा हमारे उद्देश्यों को विफल कर दिया जाता है।

गुड के अनुसार कुंठा का तात्पर्य है संवेगात्मक तनाव से है जो इच्छा या आवश्यकताओं के अवरोध द्वारा उत्पन्न होती है।

13.10.1 कुंठा के स्रोत/कारण

कुंठा के निम्नलिखित कारण हैं:

1. **बाह्य स्रोत** : यह व्यक्ति से बाहर की स्थितियां होती हैं जो कि अपरिहार्य होती हैं। यह निम्नलिखित हैं-
 - भौतिक कारक: प्राकृतिक आपदा, अवरोध या घटना जैसे बाढ़ व सूखे से फसल नष्ट होना, बिजली आपूर्ति बंद होना, बस ऑटो की हड़ताल, दुर्घटना, आग, ट्रैफिक में फंसना, बारिश के कारण यात्रा ना कर पाना ,मॉल में लंबी कतार आदि।
 - समाजिक कारक: समाज या परिवार द्वारा इच्छा पूर्ति में बाधा उत्पन्न करना जैसे अंतर जातीय विवाह, धर्म परिवर्तन, रीति रिवाज, अंधविश्वास आदि व्यक्ति में कुंठा उत्पन्न करते हैं।
 - आर्थिक कारक: बेरोजगारी, आर्थिक मंदी, मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति ना हो पाना, व्यवसाय में घाटा, उधार या ऋण आदि।
 - व्यवसायिक कारक: सहकर्मी का व्यवहार, काम में देरी, काम की खराब प्रस्तुति, कैटीन सुविधा ना होना, कार्य का अधिक दबाव, पदोन्नति में बाधा, संगठन की नीतियां आदि।
 - प्रतिस्पर्धा: धन, जमीन, जायदाद, संपत्ति, सुंदरता, आकर्षक व्यक्तित्व, नाम, यश आदि की इच्छा हर व्यक्ति में विद्यमान है और इसे पाने हेतु व्यक्ति प्रतिस्पर्धा करता है। ऐसे में कुंठा का शिकार होने की संभावना बढ़ जाती है।
 - राजनीतिक कारक: सरकार की नीतियां, राजनीतिक संगठन से जुड़ाव, चुनाव, राजनीतिक हिंसा आदि।

2. आंतरिक स्रोत: कुंठा के आंतरिक स्रोतों में निराशा शामिल होती है जो तब होती है जब हमारे पास वह नहीं हो सकता जो हम व्यक्तिगत या काल्पनिक कमियों के परिणामस्वरूप चाहते हैं और आत्मविश्वास की कमी या सामाजिक स्थितियों का डर होता है। कुंठा के आंतरिक स्रोत निम्नलिखित हैं:

- शारीरिक विकृति या दोष जैसे अत्यधिक छोटा या बड़ा कद, दुबला पतला शरीर, त्वचा का गहरा रंग, तिरछी आंखें, किसी विशिष्ट कोर्स या कार्य सीखने हेतु बुद्धि का अभाव आदि।
- लक्ष्य की संघर्षपूर्ण इच्छा जैसे एक लड़की कॉलेज में पढ़ाई करना चाहती है मगर नहीं करती क्योंकि उसे अपनी नौकरी खोने का भय है।
- नैतिकता और उच्च आदर्श नैतिक आधार, आचार संहिता और उच्च आदर्शों के कारण व्यक्ति में अपराध की अनावश्यक भावना या दंड का सामान्य भय होता है जैसे व्यक्ति शराब पीना चाहता है मगर नैतिकता और उच्च आदर्शों के कारण नहीं पी पाता है। इसी संकोच और संघर्ष के कारण व्यक्ति में संवेगात्मक तनाव उत्पन्न हो सकता है और वह कुंठित हो सकता है।
- आकांक्षा का उच्च स्तर अप्राप्य लक्ष्य या बहुत ऊंचे लक्ष्य जो किसी व्यक्ति की क्षमता से परे होते हैं कुंठा के महत्वपूर्ण स्रोत होते हैं। जैसे औसत स्तर के शरीर वाला व्यक्ति पहलवान बनना चाहता है।
- प्रयासों में दृढ़ता और निष्ठा का अभाव। साहस, उत्साह और इच्छा शक्ति के साथ निरंतर और दृढ़ प्रयासों को लगाने में व्यक्ति की स्वयं की कमजोरी कुंठा का कारण हो सकती है।

13.10.2 कुंठा के लक्षण

कुंठा मानसिक पीड़ा को बढ़ावा देता है। इसके निम्नलिखित लक्षण हैं-

- क्रोध या आक्रामकता
- छोड़ना या वापस लेना
- दूसरों को सही करना या दोष देना
- आत्मविश्वास का हनन

- आत्मसम्मान की कमी
- तनाव वंचिता
- अवसाद
- प्रतिगमन या अपरिपक्व व्यवहार
- उदासीनता
- शारीरिक कष्ट

13.10.3 कुंठा के प्रति प्रतिक्रियाएं

लोग विभिन्न तरीकों से कुंठा के प्रति प्रतिक्रिया करते हैं। इन प्रतिक्रियाओं को मुकाबला करने वाले व्यवहार कहते हैं जो निम्नलिखित प्रकार के हैं-

1. **प्रत्याहार प्रतिक्रियाएं:** यदि कुंठा का स्रोत डरावना अवरोध या दर्दनाक खतरनाक स्थिति है तो व्यक्ति स्रोत से पीछे हट जाएगा। यह निम्नलिखित रूपों में प्रकट हो सकता है -
 - कोरी कल्पना: कुंठित व्यक्तियों से बचने के लिए कल्पनाशील विचारों का उपयोग करता है।
 - घुमंतूवाद: कुंठित परिस्थितियों से भागने की इच्छा से व्यक्ति में जगह-जगह भटकने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।
 - दमन: इसमें व्यक्ति कुंठा के अनुभवों को भूल जाता है यह भूलने से प्रेरित होता है और इसमें नकारात्मक अनुभवों को पहचानने या याद रखने में विफलता होती है।
 - प्रतिगमन: इसमें मुकाबला करने वाले व्यवहार के प्रभावी रूप को वापस लाने के प्रयास में कुंठित व्यक्ति कुछ बचकाना गुण दिखाता है।
 - प्रतिक्रिया गठन: इसमें कुंठित व्यक्ति इस तरह से काम करता है जो उसकी प्रेरणा के विपरीत है जैसे वह स्वयं या दूसरों को साबित करता है कि वह आश्रित होने के बजाय स्वतंत्र है, भयभीत होने के बजाय निडर है या प्रतिरोधी होने के बजाय अच्छा है।

- उदासीनता: इसमें कुंठित व्यक्ति उदासीनता प्रदर्शित कर संबंधित परिस्थितियों से पीछे हट सकता है या वह असहाय होकर चुपचाप बैठ सकता है।
- प्रयासों को बढ़ाना: प्रयासों की कमी के कारण कुंठित व्यक्ति लक्ष्य पाने में असफल होता है तो वह कुंठा की उपेक्षा कर प्रयास करने हेतु कदम आगे बढ़ाता है।
- उद्देश्यों में बदलाव: यदि कोई व्यक्ति अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल होता है तो वह कुंठित होने के बजाय अपने उद्देश्यों को बदल लेता है।
- हीनता की भावना: लक्ष्य प्राप्त होने पर व्यक्ति स्वयं को कमजोर और असहाय, अभागा और दुर्भाग्यपूर्ण समझने लगता है इस तनावपूर्ण मानसिक स्थिति के कारण व्यक्ति हीन भावना से ग्रसित हो जाता है।

2. आक्रामक प्रतिक्रियाएँ

कुंठा से ग्रसित व्यक्ति वस्तु या लोगों पर आक्रमण कर सकता है। यह आक्रामकता मौखिक रूप से अनुशासनात्मक सजा या शारीरिक रूप से हमले के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। इसमें किसी अन्य व्यक्ति के चरित्र या संपत्ति में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हमला हो सकता है या निष्क्रिय तरीकों से व्यक्त किया जा सकता है। जैसे दूसरे के कामों के लिए आनाकानी करना, निष्क्रियता या असहयोग व्यवहार द्वारा। आक्रामक प्रतिक्रिया के निम्नलिखित रूप हैं-

- विस्थापित आक्रामकता इसमें कुंठित व्यक्ति अन्य व्यक्तियों या वस्तुओं जो कुंठा का कारण हो सकते हैं, उन पर अपना आक्रामक व्यवहार स्थानांतरित कर देता है।
- दूसरों पर आरोप लगाना इसमें कोई व्यक्ति अपनी असफलता या गलतियों का दोष अन्य व्यक्ति या वस्तु पर लगाता है।
- मुक्त प्रवाहित क्रोध इसमें कुंठित व्यक्ति में अत्यधिक क्रोध की लंबी प्रतिक्रिया होती है।
- आत्महत्या इसमें कुंठित व्यक्ति कुंठा के कारण स्वयं को मार देता है। यह आक्रामकता का स्व-निर्देशित विस्थापना है।
- प्रक्षेपण इसमें व्यक्ति चिंता की भावना को कम करने के लिए अपनी समस्या आवेग इच्छा या विचारों को दूसरों पर प्रक्षेपित या सौंप देता है।

3. समझौता प्रतिक्रियाएं

कुछ स्थितियों में व्यक्ति विफलता के कारण अपमान स्वीकार नहीं करना चाहता है, साथ ही वह स्थिति का सामना करने में भी असमर्थ है। अतः वह अपने स्वाभिमान को बचाने के लिए समझौता करने का सहारा लेता है। समझौता प्रतिक्रियाएं विभिन्न प्रकार की होती हैं जैसे उच्च बनने की क्रिया, प्रतिस्थापन, मुआवजा, युक्तिकरण और पूर्वत् करना। इनका उल्लेख आगे मानसिक मनोरचनाओं में किया गया है।

अभ्यास प्रश्न 2

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करो।
 - a. मानसिक स्थिति से उपजा एक विकार है।
 - b. को सकारात्मक तनाव ही कहते हैं।
 - c. अंतरिक दबाव व्यक्ति के को बनाए रखते हैं।
 - d. एक प्रकार का चिंता विकार है।
 - e. आकांक्षा का उच्च स्तर का आंतरिक स्रोत हैं।

13.11 समायोजन के तरीके

विषम परिस्थितियों में समायोजन का प्रयास करने वाला व्यक्ति ही अधिक सफल होता है। समायोजन के निम्नलिखित तरीके होते हैं:

1. प्रत्यक्ष प्रयास (प्रत्यक्ष सामना करने का व्यवहार): इसके अंतर्गत वे प्रत्यक्ष तरीके होते हैं जिनमें व्यक्ति अशांत करने वाली परिस्थितियों को परिवर्तित अथवा हटाना चाहता है। इस हेतु वह तीन प्रकार से समायोजन करता है:

- आक्रामक व्यवहार
- समझौता
- परिस्थिति से पीछे हटना

2. मानसिक मनोरचनाएं

प्रतिबल, अंतद्रवद और कुंठा से बचने के लिए व्यक्ति समायोजन हेतु मनोरचनाओं का उपयोग प्रतिदिन अपने दैनिक व्यवहार में करता है। यह ऐसे तरीके हैं जिनके द्वारा मानसिक संघर्ष का समाधान होता है और व्यक्ति का मानसिक दबाव कम होता है।

जे एफ ब्राउन के अनुसार मनोरचनाएं वह चेतन अचेतन प्रक्रियाएं हैं जिनमें आंतरिक संघर्ष कम होता है अथवा समाप्त हो जाता है।

मानसिक मनोरचनाओं के वर्गीकरण

मनोरचनाओं को दो भागों में विभक्त किया गया है:

प्रधान मनोरचनाएं: यह मनोरचनाएं मानसिक संघर्षों का स्वयं समाधान करते हुए उन्हें या तो दूर कर देती हैं या उनकी तीव्रता को कम कर देती हैं। यह वैज्ञानिक ढंग से समाधान करती हैं। यह निम्नलिखित प्रकार की हैं:

- a) **दमन:** कोल मैन के अनुसार किसी खतरनाक इच्छा या असहनीय स्मृतियों को चेतना से हटा देना ही दमन है। यह प्रक्रिया स्वतः ही हो जाती है। इसे प्रेरित विस्मरण भी कहा जाता है। यह दो प्रकार की होती है:
 - पूर्ण दमन तब होता है जब इच्छाएं सदा के लिए अचेतन मन में दमित हो जाती हैं। ऐसी इच्छाएं सक्रिय नहीं होती।
 - अपूर्ण दमन तब होता है जब दमित इच्छाएं अचेतन मन में सक्रिय रहती हैं और अपनी संतुष्टि के लिए सदा प्रयत्नशील रहती हैं।

दमन का प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार पर विभिन्न रूपों में पड़ता है-

- मानसिक विकृतियाँ जैसे उन्माद, अवरोध, मनोविदलता, स्थिर व्यामोह आदि तब उत्पन्न होते हैं जब व्यक्ति में प्रतिबंधों के कारण अनैतिक और असामाजिक इच्छाओं का दमन अचेतन मन में हो जाता है।
- जब अनैतिक या असामाजिक इच्छाएं या विचार दमित हो जाते हैं तो उनकी अभिव्यक्ति स्वप्न के रूप में होती है।
- दमन के कारण विभिन्न प्रकार की दैनिक विकृतियाँ जैसे बोलना, भूलना, लिखने की भूल, पहचानने में भूल आदि होती हैं। अचेतन स्तर पर इच्छाएं अपनी संतुष्टि के लिए संघर्ष करती हैं। उनकी तृप्ति अप्रत्यक्ष रूप से उपरोक्त भूलों के द्वारा हो जाती है।

- b) **शमन:** इस मनोरचना के अंतर्गत व्यक्ति अप्रिय, दुखद और कष्टकारी घटनाएं, विचार और इच्छाएं, प्रेरणाएं आदि को चेतन मन से जानबूझकर निकाल देता है।
- c) **रूपांतर:** ब्राउन के अनुसार रूपांतर वह मनोरचना है जिसके द्वारा कुंठित तथा दमित मूल प्रवृत्तियों की शक्तियां शारीरिक रोगों के क्रियात्मक लक्षणों में परिवर्तित हो जाती हैं। इसमें मानसिक संघर्ष का समाधान शारीरिक रोग के लक्षणों में अचेतन रूप से होता है।
- d) **उदात्तीकरण:** फिशर के अनुसार काम शक्ति की प्रवृत्तियों या प्रेरकों का नैतिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक विषयों की ओर पुनः निर्देशन की क्रिया को उदात्तीकरण कहते हैं। यह वह मनोरचना है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी अनैतिक इच्छाओं की संतुष्टि समाज स्वीकृत उद्देश्यों के अनुसार करता है। व्यक्ति रचनात्मक कार्य के द्वारा अपनी दमित इच्छाओं की संतुष्टि करता है जिसमें व्यक्ति को हानि नहीं पहुंचती और वह समाज के लिए भी लाभप्रद होता है। उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदास, बैजूबावरा आदि जो प्रेम में ठुकरा दिए जाने के पश्चात महान साहित्यकार व कवि बने।
- e) **युक्तिकरण:** यह वह मनोरचना है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने व्यवहार के लिए समाज द्वारा स्वीकृत तर्कपूर्ण कारणों को प्रस्तुत करता है। यद्यपि ये युक्तियुक्त होते हैं फिर भी वह व्यवहार के वास्तविक कारण या प्रेरक नहीं होते हैं। जैसे परीक्षा में कम अंक आने पर व्यक्ति यह नहीं कहता कि उसने मेहनत कम की वरन् वह प्रश्न पत्र को कठिन बताएगा या कॉपी जांचने में सख्ती की बात करेगा।
- f) **प्रतिगमन:** फिस्टर के अनुसार प्रतिगमन बाल्यावस्था की पुनरावृत्ति है जिसमें शैशवावस्था की कल्पनाओं, भावों और लालसाओं का प्रतिनिधित्व होता है या बाल्यावस्था के व्यवहारों का नवीनीकरण होता है। जब व्यक्ति स्वयं की असमर्थता या बाहरी कारकों के कारण अपनी इच्छाओं की तृप्ति नहीं कर पाता है तो मन में उत्पन्न हो रहे संघर्ष से बचने के लिए वह बच्चों की तरह अपरिपक्व व्यवहार करने लगता है। उदाहरण के लिए इंटरव्यू में असफल होने पर व्यक्ति का फूट फूट कर रोना।
- g) **प्रतिक्रिया संरचना/निर्माण:** पेज के अनुसार यह वह मनोरचना है जिसके द्वारा अवांछनीय गुण ठीक विपरीत गुण के द्वारा दबा दिया जाता है। इसमें व्यक्ति किसी तीव्र प्रेरक या इच्छा को छुपाने के प्रयास में उसके विपरीत व्यवहार करता है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति यदि

अवांछित कार्यों में लिप्त है तो वह समाज सेवा के कार्यों द्वारा समाज में प्रशंसा और सम्मान प्राप्त करने का प्रयास कर सकता है।

गौण मनोरचनाएं: यह वह मनोरचनाएं होती हैं जो संघर्ष के समाधान में मुख्य मनोरचनाओं को सहायता पहुंचाती हैं। इनका उपयोग एक उपकरण के रूप में होता है। यह निम्नलिखित प्रकार की होती हैं-

- **प्रक्षेपण:** पेज के अनुसार अपनी प्रवृत्तियों तथा अपने गुणों को दूसरों पर आरोपित करना तथा देखना प्रक्षेपण कहलाता है। व्यक्ति अपनी कठिनाइयों का दोषारोपण दूसरों पर कर अपने मन का संघर्ष दूर कर लेता है। उदाहरण के लिए खेल में हारने वाला खिलाड़ी अपनी हार का दोष गेंद या ग्राउंड को करे।
- **विस्थापन:** पेज के अनुसार इस मनोरचना के द्वारा किसी विचार या वस्तु से मौलिक रूप से संबंधित संवेग किसी अन्य तटस्थ तथा असंगत विचार या वस्तु पर स्थानांतरित हो जाता है। इसमें व्यक्ति की चेतन इच्छा किसी विशेष वस्तु या व्यक्ति से हटकर किसी अन्य वस्तु या व्यक्ति से संबंधित हो जाती है। उदाहरण के लिए यदि किसी बच्चे का कुत्ता मर जाता है तो वह अपना प्रेम अपने कुत्ते के समान खिलौने पर स्थापित कर देता है।
- **अंतःक्षेपण:** एच0 सी0 मिलर के शब्दों में वातावरण के गुणों को अपने व्यक्तित्व में सम्मिलित करने की प्रवृत्ति को अंतःक्षेपण कहते हैं। उदाहरण के लिए बच्चे द्वारा अपने दादा के व्यक्तित्व को अपनाना।
- **आत्मीकरण:** ब्राउन के अनुसार आत्मीकरण वह मनोरचना है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने ईगो अथवा व्यक्तित्व को दूसरे के व्यक्तित्व के सांचे में ढालने का प्रयास करता है अथवा दूसरों के व्यक्तित्व को अपना व्यक्तित्व समझने लगता है। उदाहरण के लिए बच्चे अपने शिक्षक या किसी अभिनेता की वेशभूषा, बोलने के ढंग का अनुकरण कर आत्मीकरण करने लगते हैं।
- **क्षतिपूर्ति:** रच के अनुसार यह एक ऐसा मनोरचना है जिसमें किसी कमी या अवांछित विशेषता को छुपाकर अन्य वांछित गुणों के विकास पर बल दिया जाता है। इसके द्वारा व्यक्ति अपनी हीनता और अनुपयुक्तता के लक्षणों से अपनी सुरक्षा करता है। उदाहरण के लिए कम

सुंदर लड़की या लड़का प्रतियोगी परीक्षा उत्तीर्ण कर उच्च श्रेणी की नौकरी प्राप्त कर लेते हैं या अच्छे लेखक बन जाते हैं।

- **स्थानांतरण:** ब्राउन के अनुसार स्थानांतरण वह मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति का प्रेम भाव किसी व्यक्ति विशेष या वस्तु से हटकर किसी दूसरे व्यक्ति या वस्तु विशेष पर चला जाता है इसमें व्यक्ति का प्रेम भाव व घृणा भाव दोनों सम्मिलित होता है। उदाहरण के लिए मां से पिटने के बाद बड़े भाई का छोटे भाई को पीटना।
- **दिवास्वप्न:** इसे तरंगमयी कल्पना या हवाई किले बनाना भी कहते हैं जब व्यक्ति तनाव, कुंठा, अंतर्द्वंद की स्थिति में होता है तो वह दिवास्वप्न के सहारे अपना संतुलन बनाने का प्रयास करता है। यह दिवास्वप्न तीन प्रकार के होते हैं- भूतकाल की खुशी के पलों में घूमना, किसी परिस्थिति में विजेता नायक की भूमिका या किसी परिस्थिति का शिकार हुआ नायक।

13.12 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपने जाना कि स्वस्थ समायोजन एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी जैविक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आवश्यकताओं का सफलतापूर्वक निर्वहन करता है और उचित व्यवहारिक प्रतिक्रियाओं द्वारा अपने आंतरिक आवश्यकताओं और वातावरण व मांगों के मध्य संतुलन स्थापित करता है। जब व्यक्ति अपने वातावरण के साथ समायोजन स्थापित नहीं कर पाता है तो वह प्रतिबल, दबाव, चिंता, द्वंद और कुंठा जैसी समायोजन समस्याओं से ग्रसित हो जाता है। इससे निपटने के लिए वह आक्रामक व्यवहार, सुलह या परिस्थितियों से पीछे हट जाता है। इसके अलावा व्यक्ति मानसिक मनोरचनाओं जैसे दमन, उदात्तीकरण, प्रतिगमन, प्रक्षेपण, विस्थापन, आत्मीकरण आदि का भी उपयोग करता है। समायोजन द्वारा व्यक्ति अच्छा इंसान बनता है, व्यक्ति का सामाजिक दायरा बढ़ता है और व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों और जटिल समस्याओं का सामना आत्मविश्वास के साथ करता है।

13.13 पारिभाषिक शब्दावली

- **समायोजन:** वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्ति अपने पर्यावरण के साथ संतुलन स्थापित करता है।

-
- **प्रतिबल:** प्रतिबल मनोवैज्ञानिक तनाव की स्थिति है जो विभिन्न शक्तियों या दबाव से उत्पन्न होती है।
 - **दबाव:** दबाव वह उम्मीदें या मांगें हैं जो किसी को एक निश्चित तरीके से व्यवहार करने के लिए बाध्य करती हैं।
 - **चिंता:** एक भावनात्मक स्थिति जिसके कारण व्यक्ति एक अनजाने भय से ग्रस्त बेचैन एवं प्रसन्न रहता है।
 - **द्वंद:** जब परस्पर दो विरोधी इच्छाएं या प्रवृत्तियां एक ही साथ उत्पन्न होती हैं, तो द्वंद की स्थिति उत्पन्न होती है।
 - **कुंठा:** लक्ष्यों की प्राप्ति के मार्ग में होने वाले व्यवधान के कारण उपजे संवेग को कुंठा कहते हैं।
-

13.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. निम्न में सत्य/असत्य बताइये।
 - a. सत्य
 - b. असत्य
 - c. सत्य
 - d. सत्य
 - e. असत्य

अभ्यास प्रश्न 2

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।
 - a. प्रतिबल
 - b. यूस्ट्रेस
 - c. आत्म प्रतिष्ठा

b. आतंक विकृति

a. कुंठा

13.15 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ0 डी0 एन0 श्रीवास्तव और डॉ प्रीति वर्मा, बाल मनोविज्ञान: बाल विकास, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।
2. मोहम्मद सुलेमान एवं दिनेश कुमार, मनोरोग विज्ञान, द्वितीय संशोधित संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
3. प्रो0 आर0 एन0 सिंह, आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान, ग्यारवां संस्करण, अग्रवाल पब्लिकेशंस, आगरा।
4. डॉ0 कुमार नारायण, अप्लाइड साइकोलॉजी, फोर्थ एडिशन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

13.16 निबंधात्मक प्रश्न

1. समायोजन को परिभाषित कीजिए तथा समायोजन प्रक्रिया पर प्रकाश डालिए।
2. प्रतिबल परिभाषित कीजिए तथा प्रतिबल प्रतिक्रिया समझाइए।
3. तनाव प्रबंधन हेतु स्वस्थ विकल्पों का उल्लेख कीजिए।
4. द्वंद को परिभाषित कीजिए। द्वंद के प्रकार एवं स्रोतों का उल्लेख कीजिए।
5. समायोजन के विभिन्न तरीकों पर प्रकाश डालिए।

इकाई 14: विशिष्ट बालक

- 14.1 प्रस्तावना
- 14.2 उद्देश्य
- 14.3 विशिष्ट बालक: अर्थ एवं परिभाषाएं
- 14.4 विशिष्ट बालकों का वर्गीकरण
- 14.5 शारीरिक अक्षमता से युक्त बालक
- 14.6 मानसिक अक्षमता युक्त बालक
- 14.7 प्रतिभाशाली बालक
- 14.8 समस्यात्मक बालक
- 14.9 सारांश
- 14.10 पारिभाषिक शब्दावली
- 14.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 14.12 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 14.13 निबंधात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

यह देखा गया है कि सभी बालकों का गर्भकालीन विकास समान रूप से होता है मगर जन्म के पश्चात सभी बालकों का शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक और सामाजिक विकास समान रूप से नहीं होता है जो अनुवांशिकता और वातावरण में विभिन्नता के कारण होता है। यह विभिन्नताएं विकास क्रम के क्षेत्र जैसे शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक, शैक्षिक, संवेगात्मक को प्रभावित करती है जिसके परिणाम स्वरूप कोई बालक अधिक बुद्धिमान तो कोई मूर्ख, कोई लोकप्रिय तो कोई एकांत प्रिय, कोई शांत तो कोई उपद्रवी होते हैं। इस प्रकार कुछ बालक अपनी आयु के बच्चों के समान व्यवहार करते हैं तो कुछ उनसे ज्यादा या कम। जो बालक अपनी आयु समूह के मानदंडों के अनुसार शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक, संवेगात्मक, नैतिक, खेल, शैक्षिक अथवा किसी अन्य क्षमताओं व योग्यताओं में औसत बालकों से कम या अधिक हों अथवा सामान्य व्यक्ति से कम या अधिक क्षमता रखते हैं वे विशिष्ट बालक कहलाते हैं। इस तरह के बालक विकास क्रम में सामान्य बालकों की अपेक्षा या तो बहुत आगे रहते हैं या बहुत पीछे। यदि इन विशिष्ट बालकों का पालन पोषण शिक्षा आदि की व्यवस्था पर ध्यान नहीं दिया जाता है तो इनमें पारिवारिक और सामाजिक

सामंजस्य स्थापित करने में मुश्किलें आती हैं। बालकों में विशिष्टता उसके विकास के एक क्षेत्र को प्रभावित नहीं करती वरन् विकास के अन्य क्षेत्रों पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए झगड़ालू प्रवृत्ति का बालक आसानी से बाल अपराध की ओर अग्रसर हो सकता है। अतः शिक्षकों तथा माता-पिता अभिभावकों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे बालकों की विशिष्टता का ध्यान रखते हुए उनका मार्गदर्शन करें जिससे विकास और समायोजन संबंधी समस्याएं उत्पन्न ना हो सके।

14.2 उद्देश्य

इस खंड के अध्ययन के पश्चात आप;

- विशिष्ट बालकों का अर्थ समझ सकेंगे।
- विशिष्ट बालकों के वर्गीकरण को वृहदता से जानेंगे।
- विभिन्न प्रकार के विशिष्ट बालकों की विशेषताओं और उनकी विशिष्टता के कारणों के बारे में ज्ञान अर्जित कर पाएंगे।
- विशिष्ट बालकों की समस्याओं हेतु विभिन्न उपचारात्मक उपायों से परिचित हो सकेंगे।

14.3 विशिष्ट बालक: अर्थ एवं परिभाषाएं

विशिष्ट बालक वह होते हैं जो अपने व्यवहार तथा क्रियाओं द्वारा सामान्य बालकों से भिन्न प्रतीत होते हैं। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा विशिष्ट बालक की परिभाषाएं निम्नलिखित प्रकार से दी गई हैं: एन0 डी0 श्रीवास्तव एवं प्रीति वर्मा के अनुसार विशिष्ट बालक वह है जिनमें समूह प्रतिमान की अपेक्षा अधिक या कम मात्रा में गुण पाए जाते हैं। यह गुण उनकी बुद्धि, शरीर, सामाजिक व्यवहार समायोजन, संवेग, शिक्षा आदि किसी भी एक या अधिक क्षेत्रों से संबंधित हो सकते हैं।

क्रो एंड क्रो के अनुसार विशिष्ट या साधारण शब्द ऐसे गुणों वाले व्यक्ति के लिए किया जाता है जो कि सामान्य व्यक्ति द्वारा प्रदर्शित उन्हीं गुणों से इस सीमा तक भिन्न होते हैं कि व्यक्ति विशेष की और उसके साथियों को ध्यान देना पड़ता है। इसके कारण ही उसकी व्यवहारिक प्रतिक्रियाएं तथा कार्य प्रभावित होते हैं।

अतः कह सकते हैं कि विशिष्ट बच्चे शारीरिक गुणों या सीखने की क्षमता में सामान्य से ऊपर या नीचे इस हद तक भिन्न होते हैं कि उन्हें स्कूली शिक्षा से पूरी तरह से लाभान्वित होने के लिए विशेष शैक्षिक सेवाओं या भौतिक सुविधाओं की आवश्यकता होती है

14.4 विशिष्ट बालकों का वर्गीकरण

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर विशिष्ट बालकों की उनकी ही शारीरिक और मानसिक गुणों के आधार पर निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है

1. शारीरिक अक्षमता से युक्त बालक
2. मानसिक अक्षमता से युक्त बालक
3. प्रभावशाली बालक
4. शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ा बालक
5. अधिगम असमर्थता से युक्त बालक
6. व्यवहार अस्त-व्यस्त व्यस्तता वाले बालक
7. समस्यात्मक बालक
8. संवेगात्मक रूप से को कुसमायोजित बालक
9. अपराधी बालक

आइए अब हम विभिन्न विशिष्ट बालकों का गहराई से अध्ययन करते हैं।

14.5 शारीरिक अक्षमता से युक्त बालक

शारीरिक अक्षमता से युक्त बालक के अंतर्गत वह बालक आते हैं जिनमें कुछ ना कुछ शारीरिक दोष कमी या विकृति होती है जो उनके जन्म से पूर्व, जन्म के समय या जन्म के पश्चात हो सकती है। शारीरिक अक्षमता वाले बालक मानसिक रूप से स्वस्थ होते हैं मगर शारीरिक अक्षमता के कारण इनकी सामान्य दैनिक क्रियाएं प्रभावित होती हैं जिसके कारण इन्हें समायोजन में कठिनाई का अनुभव होता है। सामाजिक समायोजन में सफल ना हो पाने पर यह हीन भावना से ग्रसित हो जाते हैं। यह स्वयं के लिए, अपने माता-पिता तथा अन्य लोगों के लिए गंभीर समस्या बन जाते हैं। इन्हें दोषपूर्ण अंग वाले बालक, विकलांग बालक अथवा दिव्यांग भी कहते हैं।

शारीरिक रूप से अक्षम बालकों की परिभाषा

क्रो एवं क्रो के अनुसार वह बालक जिनके शारीरिक दोष उन्हें साधारण क्रियाओं में भाग लेने से रोकते हैं या सीमित रखते हैं। ऐसे बालक शारीरिक अक्षमता से युक्त बालक कहलाते हैं।

डॉ० डी एस माथुर के अनुसार वह व्यक्ति जो शारीरिक दोषों से युक्त है और जिनके शारीरिक दोष उन्हें सामान्य क्रियाओं में भाग लेने से रोकते हैं अथवा क्रियाओं को सीमित कर देते हैं, शारीरिक रूप से सक्षम कहलाते हैं।

शारीरिक अक्षमता के कारण

शारीरिक अक्षमता निम्नलिखित कारणों से उत्पन्न हो सकती है- आनुवंशिकता, प्रतिकूल पर्यावरण, दुर्घटनाएं, आयु, बीमारियाँ, सामाजिक-आर्थिक स्तर।

शारीरिक अक्षमता से युक्त बालकों की विशेषताएं और प्रकार

शारीरिक रूप से अक्षम बालकों में निम्नलिखित विशेषताएं पाई जाती हैं-

- सामान्य दैनिक क्रियाओं को करने में अक्षमता जैसे अंधा बालक देख नहीं सकता, बहरा बालक सुन नहीं सकता, लंगड़ा बालक चल नहीं सकता आदि।
- शारीरिक अंग खराब होना जैसे हाथ, पैर, आंख, कान, जीभ, तालू आदि।
- हीन भावना व कुंठा से ग्रसित होना।
- आत्मविश्वास की कमी।
- क्रियाओं को देर से सीखना। अक्षमता के कारण बालक को कोई भी नया कार्य सीखने में अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है।
- संवेगात्मक असंतुलन होना। शारीरिक अक्षमता के कारण बालक में कुंठा, जिद, क्रोध, निराशा, हीन भावना देखने को मिलती है जिसको वह विभिन्न आक्रामक व्यवहारों द्वारा प्रदर्शित करते हैं उदाहरण के लिए जैसे जल्दी क्रोधित हो जाना।
- समस्यात्मक व्यवहार होना। शारीरिक अक्षमता के कारण बालक का व्यवहार समस्यात्मक हो जाता है। संवेगात्मक रूप से अस्थिर होने के कारण वे निराश, उदास और चिड़चिड़े हो जाते हैं तथा अपनी निराशा एवं झुंझलाहट आक्रामक व्यवहार और कटु शब्दों के द्वारा प्रदर्शित करते हैं।
- दूसरों पर आश्रित होना।
- सामान्य बालकों से पृथक व्यवहार होना। शारीरिक अक्षमता वाले बालक दूसरों पर आश्रित रहते हैं अतः इनमें हंसमुख, सहयोग सहिष्णुता, परोपकार, उदारता की भावना नहीं होती। यह सामान्य बालकों को देख ईर्ष्या का भाव रखते हैं और उसी के अनुरूप अपना व्यवहार करते हैं।

- समायोजन में कठिनाई। इस तरह के बालकों के साथ सामान्य बालक ना तो खेलते हैं और ना ही इन्हें अपना दोस्त बनाते हैं जिसके कारण इनमें दूसरों के साथ घुलने मिलने व सामंजस्य बैठाने की क्षमता नहीं होती परिणामस्वरूप इनका सामाजिक समायोजन ठीक नहीं हो पाता है।

शारीरिक रूप से असक्षम बालकों के प्रकार

शारीरिक अक्षमतायुक्त बालक निम्नलिखित प्रकार के होते हैं-

1. श्रवण अक्षमता वाले बालक
2. दृष्टिअक्षमता वाले बालक
3. वाणी अक्षमता वाले बालक
4. अपंग बालक
5. नाजुक बालक
6. मिर्गी रोग वाले बालक

श्रवण अक्षमता वाले बालक

इसके अंतर्गत बहरे तथा कम सुनने वाले बालक आते हैं। बहरे बालक वह होते हैं जो बिल्कुल भी नहीं सुन पाते है तथा इशारों व संकेतों से बात समझते हैं। जबकि कम सुनने वाले बालक वह होते हैं जिनकी सुनने की शक्ति सामान्य की तुलना में कम होती है अर्थात यह बालक किसी बात को तीव्र ध्वनि में ही सुन पाते हैं। बालकों में यह दोष जन्मजात या जन्म के बाद किसी दुर्घटना या बीमारी के कारण हो सकता है।

श्रवण अक्षमता वाले बालकों हेतु उपचारात्मक उपाय

शिक्षा व्यवस्था

बहरे बालकों को ऐसे विद्यालय में शिक्षा दी जानी चाहिए जहां का पाठ्यक्रम इनके अनुरूप हो। इनको भाषा, चिन्ह और श्रव्य-दृश्य विधियों के द्वारा शिक्षा प्रदान करनी चाहिए।

श्रवण असक्षम बालकों के समायोजन हेतु उपाय

इस तरह के बालकों के माता-पिता को उन्हें कोसने और स्थिति पर अफसोस जताने के बजाय इनके साथ सहानुभूति पूर्वक व्यवहार करना चाहिए अन्यथा यह बालक हीन भावना, कुंठा, निराशा एवं संवेगात्मक अस्थिरता से ग्रसित हो जाते हैं।

दृष्टि अक्षमता वाले बालक

इसके अंतर्गत वह बालक आते हैं जिन्हें कम दिखाई पड़ता है या बिल्कुल भी दिखाई नहीं पड़ता अर्थात् वह जन्मजात अंधे होते हैं। यह अक्षमता जन्मजात चोट या बीमारी आदि कारणों से हो सकती है।

अंधे बालकों में रचनात्मक प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। अतः कोई भी कला जैसे संगीत या हस्तकला जैसे दरी बनाना, टोकरी बुनना, चटाई बनाना आदि सिखा कर इन्हें आत्मनिर्भर बनाया जा सकता है। अंधे बालकों को ब्रेल लिपि के द्वारा शिक्षित किया जा सकता है। इसके लिए अलग पाठ्यक्रम होता है। इन्हें पढ़ाने के लिए श्रव्य साधनों जैसे टेपरिकॉर्डर, रेडियो आदि का उपयोग करना चाहिए। कम दिखाई देने वाले बालक अंधे बालकों की तुलना में शिक्षा देना आसान होता है।

माता पिता, संरक्षक, शिक्षकों एवं समाज के लोगों को बच्चों को दिल से स्वीकार करना चाहिए ना कि उन्हें कोसना चाहिए। दृष्टि असक्षम बालकों को आत्मनिर्भर बनाने में पूरी सहायता करनी चाहिए। बालकों के साथ प्रेम व सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए ना की दया व उपेक्षा का। इस तरह के बालकों को आत्मनिर्भर बनाने का प्रयास करना चाहिए और उनका उपहास नहीं करना चाहिए। बालकों के अंदर आत्मविश्वास उत्पन्न करना चाहिए और हीन भावना का विकास नहीं होने देना चाहिए।

वाणी अथवा भाषा अक्षमता वाले बालक

वाणी अथवा भाषा अक्षमता वाले बालक वह होते हैं जो बिल्कुल भी नहीं बोल पाते हैं अर्थात् वह गूंगे होते हैं या उनमें वाणी दोष जैसे अस्पष्ट उच्चारण, हकलाना, तुतलाना आदि पाया जाता है। वह अपनी बातें स्पष्ट तौर पर नहीं कर पाते हैं। वाणी दोष का प्रमुख कारण स्वर यंत्र में खराबी, गले, जबड़ों, दांतों का दोष पूर्ण होना आदि है। इसके अलावा संवेगात्मक अस्थिरता, तनावपूर्ण वातावरण, बालक के आत्मविश्वास में कमी आदि भी बालक में वाणी अक्षमता का कारण होता है।

वाणी अक्षमता वाले बालकों के लिए उपचारात्मक उपाय

- बालक में वाणी दोष के कारणों का पता करना चाहिए तथा उसी के अनुसार उपचार किया जाना चाहिए।
- यदि बालक के जीभ, जबड़ा, तालु, स्वर यंत्र आदि में कोई खराबी है तो उचित चिकित्सक से इलाज करवाना चाहिए।
- बच्चे को बचपन से ही साफ-साफ वह स्पष्ट बोलना सिखाना चाहिए।

- बच्चे के तुतलाकर या हकलाकर बोलने पर उसे प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए।
- वाणी दोष वाले बालकों को शिक्षा सामान्य बालकों के साथ भी जा सकती है।
- उन्हें वाद-विवाद भाषण आदि प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।
- उन्हें बोल बोल कर पढ़ने को कहना चाहिए तथा कविता कहानी चुटकुला आदि सुनाने को कहना चाहिए साथ ही साथ उन्हें अखबार पढ़ने को भी कहना चाहिए।

इन बालकों के साथ स्पष्ट शब्दों में अधिक से अधिक वार्तालाप करनी चाहिए। अध्यापक तथा सहपाठियों द्वारा अभिप्रेरणा दी जानी चाहिए। विद्यालय में वाक्य परीक्षा रखनी चाहिए ताकि अच्छे अंक पाने की लालसा में वह अपने भाषा दोषों को स्वयं सुधारने का प्रयास करें। बच्चों को संतुलित एवं पौष्टिक भोजन खिलाना चाहिए। बच्चों के पालन पोषण में समुचित ध्यान देना चाहिए। बालकों को कठोर अनुशासन तथा संवेगात्मक तनाव में नहीं रखना चाहिए। अन्य बालकों की तरह इनके साथ प्रेम पूर्वक व्यवहार करना चाहिए।

अपंग बालक

वह बालक जिन की मांसपेशियां व अस्थियाँ पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाती है जिसके परिणाम स्वरूप वह चलने फिरने तथा किसी अन्य कार्य को करने में पूर्ण रूप अथवा आंशिक रूप से अक्षम या असमर्थ होते हैं अपंग बालक कहलाते हैं। बालकों में अपंगता जन्मजात भी हो सकती है जैसे गर्भावस्था के दौरान मां को पौष्टिक व संतुलित आहार न मिलना, वंशानुक्रम, गर्भकालीन दुर्घटना, एक्स-रे व औषधियां आदि, जन्म के पश्चात दुर्घटना, चोट, शल्य चिकित्सा तथा गंभीर बीमारी के कारण बालक में अपंगता आ जाती है। अपंग बालकों को शिक्षा सामान्य बालकों के साथ ही दी जा सकती है मगर इनके कार्य करने और सीखने की गति अत्यंत धीमी होती है।

अपंग बालकों हेतु उपचारात्मक उपाय

- कुछ अपंग बालकों की सीखने की क्षमता सामान्य बालकों के मुकाबले अधिक होती है अतः उनकी मानसिक एवं बौद्धिक क्षमता को ध्यान में रखते हुए पढ़ाने का कार्य करवाना चाहिए।
- धीमी गति से सीखने वाले बालकों के लिए अलग से पाठ्यक्रम की व्यवस्था की जानी चाहिए।
- ऐसे बालकों को शिक्षित करने के लिए विशेष शिक्षा केंद्र खोले जाने चाहिए जहां मुफ्त शिक्षा के साथ-साथ छात्रवृत्ति भी दी जा सके।

- ऐसे बालकों की व्यवसायिक शिक्षा पर अधिक ध्यान देना चाहिए ताकि वह आत्म निर्भर होकर अपना जीवन यापन कर सकें और परिवार का भी भरण पोषण कर सकें।
- इन बालकों के लिए हल्का पाठ्यक्रम तैयार किया जाना चाहिए।
- शिक्षा की विधि प्रत्यक्ष और रुचिपूर्ण हो।

अपंग बालकों को लंगड़ा, लूला, कूबड़ आदि कहकर चिड़ाया जाता है जिससे वे हीनभावना, कुंठा, निराशा आदि से ग्रसित हो जाते हैं। उनका स्वभाव चिढ़चिढ़ा व क्रोधी हो जाता है जो इनके व्यक्तित्व विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है अतः इन्हें चिढ़ाना नहीं चाहिए। ऐसे बालकों को किसी योग्य कुशल व अनुभवी चिकित्सक को दिखाना चाहिए ताकि उनकी अपंगता को कम करने के लिए आवश्यक उपकरण एवं साधन उपलब्ध करवाए जा सकें। इन बालकों के प्रति समाज, परिवार तथा शिक्षक का व्यवहार सहानुभूति और धैर्य पूर्ण होना चाहिए।

नाजुक बालक

वह बालक जो शारीरिक रूप से निर्बल, कमजोर व दुबले पतले होते हैं नाजुक बालक कहलाते हैं। यह कमजोर हृदय वाले व शरीर में रक्त की कमी होती है परिणाम स्वरूप यह थोड़े से खेल कूद और शारीरिक श्रम में ही थक जाते हैं। इनमें बल व स्फूर्ति का अभाव होता है। इनकी नाजुकता का कारण वंशानुक्रम, गंभीर रोग, दुर्घटना, अधिक रक्तस्राव, संतुलित और पौष्टिक भोजन का अभाव, दोषपूर्ण पालन-पोषण आदि हैं।

नाजुक बालकों हेतु उपचारात्मक उपाय

- बालकों के नाजुकता के कारणों का पता कर उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिए।
- बालको को पौष्टिक तत्वों से युक्त भोज्य पदार्थों को खिलाना चाहिए।

नाजुक बालकों को सामान्य बालकों के साथ ही शिक्षा प्रदान करनी चाहिए मगर इन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इन्हें कक्षा में सबसे आगे बिठाना चाहिए ताकि शिक्षक की नजर इन पर रहे व अन्य बालक इन्हें परेशान ना कर सके। ऐसे खेल खेलने के लिए प्रेरित करें जो थकाए नहीं। पाठ्यक्रम का बोझ अधिक न हो तथा मनोरंजन व स्वतंत्र विचरण का अवसर प्रदान किया जाए। व्यवसायिक प्रशिक्षण के द्वारा आत्मनिर्भर व स्वावलंबी बनाना चाहिए। पाठ्यक्रम इस प्रकार का हो कि बालक बीच-बीच में विश्राम कर सके।

आत्मविश्वास की भावना का विकास करने हेतु छोटे-मोटे कार्य का अवसर प्रदान करना चाहिए। परिवार, शिक्षक व समाज का व्यवहार प्रेम पूर्ण व सहयोगात्मक होना चाहिए। आत्मविश्वास में वृद्धि हेतु प्रेरक कहानियां या प्रसंग सुनाना चाहिए।

मिर्गी रोग वाले बालक

स्नायु तंत्र में गड़बड़ी के कारण मिर्गी रोग उत्पन्न होता है। मिर्गी से पीड़ित बालक के मस्तिष्क में स्नायु तंत्र के ऊपर दबाव पड़ता है जिससे दौरै पड़ते हैं। इस अवस्था में बालक चेतना शून्य हो जाता है, हाथ पैरों को पटक कर छदपटाने लगता है और फिर वह बेहोश हो जाता है। मिर्गी के दौरै जल्दी-जल्दी, महीनों या वर्षों के बाद आते हैं।

मिर्गी रोग वाले बालक हेतु सुधारात्मक उपाय

रोग की जानकारी होने पर माता पिता को बालक का समुचित उपचार करना चाहिए। यदि मिर्गी का दौरा जल्दी-जल्दी आता हो तो बालक को विद्यालय नहीं भेजना चाहिए। यदि बालक को विद्यालय, घर या रास्ते में जब भी मिर्गी का दौरा पड़े तो अन्य लोगों को उसकी यथा संभव मदद करनी चाहिए। बालक का पहचान पत्र बनवाना चाहिए ताकि परिवारजनों को सूचना दी जा सके। बालक को भावनात्मक संवेगों से दूर रखना चाहिए।

14.6 मानसिक अक्षमता युक्त बालक

इसके अंतर्गत वह बालक आते हैं जो मानसिक रूप से अपनी आयु के बालकों के समान परिपक्व नहीं होते हैं। इनका बौद्धिक विकास व मानसिक योग्यता सामान्य रूप से कम होने के कारण यह जीवन निर्वाह हेतु सामान्य दैनिक क्रियाएं जैसे भोजन करना, कपड़े पहनना, मल मूत्र त्यागना आदि भी नहीं कर पाते हैं और दूसरों पर पूर्णतया आश्रित रहते हैं। यह शारीरिक रूप से सुंदर व हठ पुष्ट हो सकते हैं मगर बौद्धिक रूप से न्यूनतम होते हैं। क्योंकि इनके सीखने की गति भी धीमी होती है इनको सभी प्रकार के समायोजन में कठिनाई आती है। इन्हें मंदबुद्धि, मानसिक रूप से दुर्बल, मानसिक न्यूनता आदि बालक भी कहते हैं।

मानसिक अक्षमता युक्त या मंदबुद्धि बालक की परिभाषाएं

क्रो एवं क्रो के अनुसार जिन लोगों की बुद्धि लब्धि 70 से कम होती है उन्हें मंद बुद्धि बालक कहते हैं।

हैबर के अनुसार मानसिक मंदता का तात्पर्य उस असामान्य बौद्धिक क्रियात्मकता से है जो विकास काल में उत्पन्न होती है तथा व्यवहार के अनुकूलन से संबंधित होती है।

एस डी पोरटियस के अनुसार दुर्बल व्यक्ति वह है जिनमें स्थाई मन्दता अथवा सीमित मानसिक विकास पाया जाता है, यह सीमित मानसिक विकास बचपन से ही होता है, मानसिक रूप से दुर्बल व्यक्ति स्वयं अपनी सहायता करने में तथा धन अर्जित करने में असमर्थ होते हैं।

बंडा के अनुसार मानसिक दुर्बल व्यक्ति वह होता है जो अपने आपको तथा अपने क्रियाकलापों को ठीक प्रकार से व्यवस्थित कर पाने में असमर्थ होता है तथा जिस को स्वयं के व समुदाय के कल्याण के लिए निरीक्षण, नियंत्रण एवं देखभाल की जरूरत होती है।

मानसिक अक्षमता युक्त बालकों की विशेषताएं एवं प्रकार

मंदबुद्धि बालकों की निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं

- **बुद्धि की कमी** इन बालकों की बुद्धि लब्धि 70 से कम होती है। अतः यह चिंतन व मनन नहीं कर सकते। इनकी मानसिक दुर्बलता स्थाई होती है जिस में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है अर्थात् इनका बौद्धिक विकास सीमित होता है।
- **बेढंगी कार्य शैली** क्योंकि इनमें बुद्धि का अभाव होता है तो यह कोई भी कार्य कुशलता से नहीं कर पाते हैं। इनके कार्य करने का तरीका फूहड़, बेतरतीब और बेढंगा होता है।
- **सीखने का अभाव** इन बालकों की बुद्धि इतनी नहीं होती है कि वे क्रियाओं को जल्दी से सीख सकें। इनके सीखने की गति काफी मंद होती है और जो सीखते हैं उसे भी जल्दी भूल जाते हैं यह चिंतन, मनन, स्मरण, तर्क आदि नहीं कर पाते हैं।
- **पराश्रितता** मानसिक विकास अपूर्ण होने के कारण यह अपना छोटा से छोटा कार्य कर पाने में भी असमर्थ होते हैं और दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है।
- **समायोजन का अभाव** यह बालक व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक समायोजन करने में असफल होते हैं और जीवन में कोई प्रगति नहीं कर पाते हैं।
- **शारीरिक गुणों अथवा आकर्षक व्यक्तित्व का अभाव** बालकों की शारीरिक बनावट और रचना भी असामान्य होती है, इनका चेहरा भावहीन तथा आकार में बड़ा होता है, मुंह से लार टपकती रहती है तथा हाथ और पैरों की क्रियाओं में समन्वय नहीं होता है, यह तुतलाकर, हकलाकर या अटक अटक कर बोलते हैं।

- **संवेगात्मक अस्थिरता** मानसिक रूप से दुर्बल होने के कारण इनका संवेग छोटे बच्चों की भांति अस्थिर होता है अर्थात् आयु के अनुसार परिपक्वता नहीं होती है जरा सी बात पर चिढ़ जाते हैं।
- **आत्मविश्वास का अभाव** इन बालकों की सीखने और समझने का अभाव होता है, यह अन्य लोगों से समायोजन नहीं कर पाते हैं इसलिए सामान्य बालक इनके साथ ना तो खेलते हैं और ना ही दोस्ती करते हैं परिणामस्वरूप इनमें हीनभावना, निराशा एवं कुंठा आ जाती है तथा आत्मविश्वास भी काफी कम हो जाता है।
- **निर्णयशक्ति का अभाव** इन बालकों में सोचने और समझने की शक्ति का अभाव होता है। इसलिए यह समस्याओं के संबंध में निर्णय नहीं ले पाते हैं। इन्हें जीवन में अनेक कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ता है।

मानसिक अक्षमता बालकों के प्रकार

बुद्धि लब्धि के आधार पर मानसिक अक्षमता वाले बालक तीन प्रकार के होते हैं।

- **मूर्ख** जिन बालकों की बुद्धि लब्धि 50 से 70 के बीच होती है उन्हें मूर्ख कहते हैं। संपूर्ण जीवन काल में इनका बौद्धिक स्तर 8 से 10 वर्ष के बच्चे के समान होता है, इनमें सोचने समझने और निर्णय की क्षमता कम होती है अतः इनको अधिक प्रशिक्षण और अभ्यास की आवश्यकता होती है।
- **मूढ़** जिन बालकों की बुद्धि लब्धि 25 से 50 तक होती है उन्हें मूढ़ या दुर्बल बुद्धि वाला बालक कहा जाता है। संपूर्ण जीवन काल में इनका बौद्धिक विकास 3 से 6 वर्ष के बालक के समान होता है, कठिन कार्य नहीं कर सकते मगर इन्हें प्रशिक्षण देकर साधारण कार्य सिखाया जा सकता है जैसे हस्त कलाओं का प्रशिक्षण ताकि यह अपना जीवनयापन कर सके अतः इन्हें प्रशिक्षण योग्य मंदबुद्धि बालक भी कहा जाता है।
- **जड़** इसके अंतर्गत वह बालक आते हैं जिनकी बुद्धि लब्धि 25 या उससे कम होती है। इनका बौद्धिक विकास 2 वर्ष के बालक के समान होता है अतः यह अपनी सामान्य क्रियाओं जैसे भोजन, वस्त्र, मल-मूत्र त्यागना आदि के लिए दूसरों पर ही निर्भर रहते हैं और बातचीत भी नहीं कर पाते हैं। यह समाज में अपना जीवनयापन अकेले नहीं कर सकते हैं और आजीवन दूसरों के सहारे ही रहना पड़ता है। इनमें शारीरिक विकृतियां भी पाई जाती हैं तथा यह अधिकांशतः बीमार रहते हैं इन्हें पूर्णतः मंद बुद्धि बालक कहा जाता है।

मानसिक अक्षमता के कारण

- **वंशानुक्रम:** यदि माता-पिता की बुद्धि लब्धि अधिक होती है तो संतानों की भी अधिक होने की संभावना रहती है और यदि बौद्धिक स्तर मंद है तो बालक भी मंदबुद्धि का होता है।
- **माता पिता की आयु:** 40 वर्ष या इससे अधिक आयु वाले माता-पिता की होने वाली संतान में मंदबुद्धिता का प्रभाव देखा जा सकता है।
- **मानसिक आघात:** जीवन की प्रारंभिक अवस्था में यदि बालक के मस्तिष्क में चोट लग जाती है तो उसका मानसिक विकास रुक जाता है और वह मंदबुद्धि की श्रेणी में आ जाता है।
- **जन्म के समय आघात:** जन्म के समय यदि शिशु के कोमल मस्तिष्क में आघात लगता है तो ऐसी स्थिति में तंत्रिका तंत्र के क्षतिग्रस्त होने की संभावना बढ़ जाती है और बालक के मानसिक विकास अवरुद्ध होने की संभावना बढ़ जाती है।
- **अपरिपक्व जन्म:** यदि बच्चा समय से पूर्व जन्म लेता है तो उसका शारीरिक और मानसिक विकास अपूर्ण रहता है जिससे उसके मंदबुद्धिता होने की संभावना बढ़ जाती है।
- **मां को संक्रामक रोग:** गर्भवती स्त्री किसी संक्रामक रोग जैसे सिफिलिस, रूबेला आदि से ग्रसित होती है तो गर्भस्थ शिशु में शारीरिक और मानसिक विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं।
- **पौष्टिक व संतुलित भोजन का अभाव:** जन्म से पूर्व एवं जन्म के पश्चात यदि बालक को वृद्धि एवं विकास हेतु पौष्टिक व संतुलित भोजन नहीं मिलता है तो उसका शारीरिक और मानसिक विकास ठीक प्रकार से नहीं हो पाता है ऐसे में बच्चे की मंदबुद्धिता संभावना बढ़ जाती है।
- **गर्भावस्था के दौरान नशीले पदार्थों का सेवन**
- **अंतः स्रावी ग्रंथियों में असंतुलन:** अंतः स्रावी ग्रंथियों के ठीक प्रकार से कार्य न करने पर हार्मोन के स्राव में असंतुलन हो जाता है जिससे बच्चे का बौद्धिक विकास अवरुद्ध हो जाता है।
- **पारिवारिक वातावरण:** यदि परिवार में कलह, लड़ाई झगड़े, मारपीट, मद्यपान, उदासीनता व अभावग्रस्तता रहती है तो इसका बालक के कोमल मस्तिष्क पर बुरा एवं हानिकारक प्रभाव पड़ता है।

मानसिक अक्षमता युक्त बालकों की समस्याएं

मंदबुद्धि बालकों को अपने जीवन में निम्नलिखित समस्याओं का सामना करना पड़ता है-

- परिवार में समायोजन की समस्या

- सामाजिक समायोजन की समस्या
- विद्यालयीय समायोजन की समस्या
- संवेगात्मक समायोजन की समस्या

मानसिक अक्षमता युक्त बालकों की देखभाल और समस्याओं हेतु सुधारात्मक उपाय

मंदबुद्धि बालकों के समायोजन में समाज परिवार और विद्यालय अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं-

- परिवार का योगदान
- उचित शारीरिक देखभाल
- सहानुभूति पूर्ण व्यवहार
- अच्छी आदतों का विकास
- खेलों के प्रति रुचि विकसित करना
- विद्यालय का योगदान
- शिक्षा योग्य मंदबुद्धि बालकों को प्रारंभिक स्तर पर अपनी देखभाल स्वयं करना, वस्त्र पहनना, दूसरों का सम्मान व सहयोग करना, स्पष्ट बोलना, व्यक्तिगत स्वच्छता आदि का प्रशिक्षण देना। माध्यमिक स्तर पर इन बच्चों को पढ़ना लिखना व गणित का ज्ञान देना, भाई बहनों और समूह में सहयोग पूर्ण व्यवहार, विभिन्न रंगों आवाजों तथा नामों की पहचान करना सिखाना चाहिए। उच्च स्तर पर इन बालकों को व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करनी चाहिए ताकि यह दूसरों पर निर्भर ना हो सके और अपने सामाजिक दायित्वों का भी निर्वाह कर सकें।
- खेल प्रशिक्षण
- व्यावसायिक प्रशिक्षण
- मंदबुद्धि बालकों का पाठ्यक्रम ऐसा हो जिससे उनका शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक, क्रियात्मक आदि विकास ठीक प्रकार से हो सके ताकि इनमें आत्मविश्वास बढ़े।
- समाज का योगदान।

14.7 प्रतिभाशाली बालक

समाज में जहां एक ओर निम्न बौद्धिक स्तर के बालक पाए जाते हैं वहीं दूसरी ओर ऐसे बालक भी हैं जिनकी बौद्धिक और मानसिक क्षमता औसत बालक की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। ऐसे बालकों को प्रतिभाशाली बालक, असाधारण बालक या अधिक सामान्य बालक कहते हैं। इनकी बौद्धिक क्षमता उत्कृष्ट श्रेणी व बुद्धि लब्धि 130 से 140 से भी अधिक होती है। ऐसे बालक प्रत्येक देश, वर्ग, लिंग, समुदाय, जाति व धर्म में पाए जाते हैं। ये समाज में 2-3 प्रतिशत होते हैं।

प्रतिभाशाली बालक की परिभाषाएँ

टर्मन एवं आडेन के अनुसार प्रतिभाशाली बालक शारीरिक, सामाजिक समायोजन, व्यक्तित्व, शील गुणों, उपलब्धि, खेल, सूचना एवं रुचियों की बहुलता में सामान्य की तुलना में अति उच्च स्तरीय होते हैं।

फलिगलर और बिश के अनुसार प्रतिभावान शब्द उन सभी बालकों को शामिल करता है जो शैक्षिक रूप से विद्यालय के उच्च 15 से 20 प्रतिशत उपलब्धि वर्ग में आने के लिए कुछ मानसिक योग्यता व कार्य क्षमता रखते हैं या किसी विशेष क्षेत्र जैसे गणित, यांत्रिकी विज्ञान, कलात्मक अभिव्यक्ति, सृजनात्मक लेखन, संगीत व सामाजिक नेतृत्व में उच्च स्तरीय प्रतिभा व अपने वातावरण से मुकाबला करने की अनोखी रचनात्मक सर्जनात्मक योग्यता रखते हैं।

अतः कह सकते हैं कि प्रतिभाशाली बालक वे हैं जिनकी क्षमता एवं बौद्धिक शक्तियाँ उत्पादनशील एवं मूल्यांकन संबंधी दोनों ही प्रकार की वैचारिक प्रक्रिया में इतने उच्च विचारात्मक स्तर की है कि वे पर्याप्त शैक्षिक अनुभवों के मिलने पर भावी संस्कृति के समस्या विचारक, खोजकर्ता तक मूल्यांकनकर्ता बन सकते हैं।

प्रतिभाशाली बालकों की विशेषताएं एवं प्रकार

प्रतिभाशाली बालक को निम्नलिखित विशेषताएं पाई जाती हैं:

- **शारीरिक विशेषताएं** प्रतिभाशाली बालक की शारीरिक रचना, लंबाई, भार और संगठन अपने समय वालों की तुलना में अधिक होता है। इनमें विकास की गति तीव्र और दांत अपेक्षाकृत जल्दी निकलते हैं, शीघ्र ही पढ़ने-लिखने, बोलने, चलने लगते हैं। प्रायः स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है तथा ज्ञान इंद्रियां भी तीव्र गति से विकसित होती हैं।

- **मानसिक विशेषताएं** अधिगम एवं बोध, अमूर्त चिंतन, विज्ञान एवं गणितीय योग्यता, बुद्धि लब्धि 130 से 140 या इससे अधिक होती है। थोड़े से ही मार्गदर्शन में उत्कृष्ट प्रदर्शन करते हैं, भाषा की योग्यता एवं सूझ उच्च स्तरीय पाई जाती है।
- **शैक्षिक विशेषताएं** पठन कार्य में अधिक रुचि लेते हैं, उपलब्धि एवं प्रतिस्पर्धा की भावना उच्च स्तरीय, कम श्रम में भी कुछ अंक प्राप्त कर लेते हैं। विविध प्रकार की पुस्तकें पढ़ना अच्छा लगता है, विद्यालय में होने वाले विभिन्न क्रिया कलापों में भी बढ़ चढ़कर भाग लेना, कक्षा उन्नति जल्दी होती है। ऐसे खेल खेलना पसंद करते हैं जिनमें अधिक कुशाग्रता, चिंतन और मनन की आवश्यकता होती है यह बौद्धिक खेलों में अधिक रुचि लेते हैं।
- **सामाजिक विशेषताएं** नेतृत्व करना तथा अपने से बड़े बालकों के साथ खेलना पसंद होता है, अनुशासन प्रिय तथा विनम्र होने के साथ-साथ अन्य लोगों के प्रति आदर एवं स्नेह भी प्रदर्शित करते हैं। सामाजिक समायोजन अच्छा होता है बावजूद मित्र कम बनाते हैं। मृदुभाषी, शिष्ट, व्यवहार कुशल, वाक पटु तथा बहिर्मुखी होते हैं अतः इनका सामाजिक और वैवाहिक समायोजन भी अच्छा होता है।
- **व्यक्तित्व की विशेषताएं** व्यक्तित्व संगठित एवं गत्यात्मक होता है। साहसी, जोखिम पसंद करने वाले, सृजनशील प्रकृति, जिज्ञासा, कल्पना शक्ति, विचारशीलता, निर्णय की योग्यता तथा विशेष रुचियां पाई जाती हैं। प्रसन्नचित्त, आशावादी, उदार तथा सहयोगी होते हैं। इनमें एकाग्रचित्त होने की क्षमता, संवेगात्मक परिपक्वता अधिक होती है। थोड़ी सी परेशानी से विचलित न हो कर समाधान ढूंढ निदान करने का प्रयास करते हैं। आत्म सुधार की प्रवृत्ति अधिक होती है अतः यह प्रत्येक कार्य को उत्कृष्ट तरीके से करते हैं और अपनी गलतियां ढूंढकर उसे दूर करने का प्रयास करते हैं। योजना बनाकर कार्य करते हैं अतः लक्ष्य के प्रति प्रयत्नशील और आशान्वित रहते हैं। तर्क क्षमता अधिक और दूरदर्शिता पाई जाती है।
- **नकारात्मक विशेषताएं** वातावरण में उनकी उपेक्षा के कारण विकसित होती है। ईर्ष्या, लापरवाही, दोष पूर्ण लेखन, हठ करना, आवश्यकता से अधिक बोलना, उच्चता की भावना, अपनी योग्यता का प्रदर्शन करना, समूह से अलग एकाकी रहना, अधीरता, ध्यान केंद्रित न होना तथा पाठ्यक्रम को अपनी योग्यता के अनुसार सरल समझने के कारण आलस्य का प्रदर्शन करना आदि नकारात्मक गुण पाए जाते हैं।

प्रतिभाशाली बालकों के प्रकार

प्रतिभाशाली बालकों को दो भागों में विभाजित किया गया है:

- **संपूर्ण प्रतिभाशाली** बालक वह सामान्य बुद्धि वाले बालक जो सभी विषयों कथा कार्य में समान रूप से रुचि लेते हैं तथा उत्कृष्ट प्रदर्शन करते हैं उनके लिए कोई भी कार्य अथवा विषय कम या अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता है।
- **विशिष्ट प्रतिभाशाली** बालक वह विशिष्ट बुद्धि वाले बालक जो सभी विषयों एवं कार्यों में समान रूप से रुचि नहीं लेते बल्कि किसी विशेष क्षेत्र या विषय में उच्च स्तरीय प्रदर्शन करते हैं जैसे संगीत, चित्रकला, हस्तकला, गणित विज्ञान आदि।

प्रतिभाशाली बालकों की समस्याएं

प्रतिभाशाली बालकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सभी क्षेत्रों में अच्छा समायोजन करते हैं मगर ऐसा नहीं है इन बालकों को भी समस्या का सामना करना पड़ता है जो निम्नलिखित है-

समायोजन की समस्या

जब प्रतिभाशाली बालकों को परिवार विद्यालय एवं समाज के बीच में एक सामान्य बालक ही समझा जाता है तो बालक को अपने माता पिता, भाई बहनों, मित्रों, शिक्षकों आदि के साथ सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई का अनुभव होता है। हमेशा आगे बढ़ने को प्रयत्नशील रहने बालक को यदि सुविधाएं ना मिले या इन्हें आगे बढ़ने से रोका जाए तो यह अपनी प्रतिभाओं का लाभ प्राप्त नहीं कर पाते हैं उनमें समायोजन की समस्या उत्पन्न हो जाती है और वह निराशा व कुंठा के शिकार हो जाते हैं।

प्रतिभाशाली बालकों की समस्या दूर करने हेतु उपाय और सुधारात्मक सुझाव

प्रतिभाशाली बालक देश की धरोहर होते हैं और देश की प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। अतः परिवार विद्यालय और समाज का यह दायित्व होता है कि वह इनकी समस्याओं का निराकरण करें ताकि इनकी प्रतिभा विकसित हो सके और यह देश व राष्ट्र का गौरव बढ़ाएं। इस हेतु निम्नलिखित सुधारात्मक उपाय किए जा सकते हैं:

विद्यालय द्वारा किए जाने वाले उपाय

समायोजन संबंधी दोष उत्पन्न ना हो इस हेतु निम्नलिखित उपाय किए जाने चाहिए-

- इनको ऐसे शिक्षकों द्वारा पढ़ाया जाना चाहिए जो योग्य, कौशल और कर्मठ हों ताकि वह बालकों के जिज्ञासा पूर्ण प्रश्नों का सही उत्तर देकर उन्हें संतुष्ट कर सकें। बुद्धि के विकास हेतु उन्हें नवीन जानकारियां विशेष तौर पर उपलब्ध करवानी चाहिए।

- शिक्षण हेतु अलग कक्षाओं की व्यवस्था की जानी चाहिए जहां पर यह स्वतंत्र होकर अपने बौद्धिक क्षमताओं का उपयोग कर सकें
- पाठ्यक्रम में जटिल विषयों को अधिक मात्रा में सम्मिलित करना चाहिए।
- यदि किसी पाठ्यक्रम को जल्दी पूरा कर लेते हैं तो उन्हें आगे की कक्षाओं में प्रोन्नत किया जाना चाहिए।
- वाचनालय एवं पुस्तकालय की विशिष्ट सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए जहां पर वह अखबार, पत्र पत्रिकाएं, शोध पत्र, विभिन्न विषयों की पुस्तकें आदि के द्वारा अपनी प्रतिभा का खुलकर विकास और स्वयं का मार्ग प्रशस्त कर सकें।
- आत्मविश्वास और मनोबल ऊंचा रखने के लिए समय-समय पर उत्कृष्ट उत्कृष्ट अंक लाने, सह-शिक्षण गतिविधियों में उच्च स्थान प्राप्त करने पर पुरस्कार देकर सम्मानित किया जाना चाहिए।
- शैक्षणिक गतिविधियों का भी आयोजन किया जाना चाहिए जहां यह वाद-विवाद, भाषण व लेख प्रतियोगिता, नाटक आदि के द्वारा अपने व्यक्तित्व में और निखार ला सकें।
- विशिष्ट शिक्षण विधियों का उपयोग किया जाना चाहिए जैसे लैपटॉप कंप्यूटर आदि।

माता-पिता तथा अभिभावकों द्वारा किए जाने वाले उपाय

प्रतिभाशाली बालकों के माता पिता एवं अभिभावकों को यह जानना जरूरी है कि उनका बालक सामान्य नहीं है अतः अपने बालक की जिज्ञासाओं को संतुष्ट करने हेतु उसे कार्य करने के लिए पर्याप्त स्वतंत्रता साथ ही साथ उसकी प्रतिभाओं के विकास में सहायक साधन व सुविधाएं भी प्रदान करनी चाहिए। बौद्धिक क्षमताओं के विकास के लिए उसे बौद्धिक खेल खेलने के लिए प्रोत्साहित और समय-समय पर उसकी प्रशंसा भी करनी चाहिए और उसका मार्गदर्शन भी करते रहना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न 1

1. सत्य /असत्य बताएं।

- a. जिन बालकों की बुद्धि लब्धि 50 से 70 के बीच होती है उन्हें मूर्ख कहते हैं।
- b. जिन बालकों की बुद्धि लब्धि 70 से 80 तक होती है उन्हें मूढ़ बालक कहा जाता है।
- c. शारीरिक अक्षमता आनुवंशिकता के कारण हो सकती है।
- d. मंदबुद्धि बालकों को विशिष्ट विधियों द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिए।
- e. प्रतिभाशाली बालकों में नकारात्मक विशेषताएं नहीं पायी जाती है।

14.8 समस्यात्मक बालक

जैसे-जैसे बालक बड़ा होता है उसके व्यवहार एवं आचरण में दिखने वाले दोष स्वतः समाप्त होने लगते हैं। बालकों को यह स्वयं समझ में आ जाता है कि समायोजन हेतु उसके द्वारा किए जाने वाले कई आचरण लोगों द्वारा पसंद नहीं किए जाते हैं मगर कुछ बालक समायोजन की प्रक्रिया में अपने व्यवहार एवं आचरण संबंधी दोषों का परित्याग नहीं कर पाते हैं और माता-पिता शिक्षकों एवं समाज के लिए एक समस्या बन जाते हैं। ऐसा तब होता है जब बालक की इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती, उनका सही मार्गदर्शन नहीं होता, प्रेम पूर्वक व्यवहार नहीं किया जाता, उनकी उपेक्षा की जाती है तो उन्हें निरंतर मानसिक द्रुंद एवं तनाव रहता है जो उनके व्यवहार में समस्या उत्पन्न कर देता है। समस्यात्मक बालक किसी वर्ग विशेष के नहीं होते, पारिवारिक एवं सामाजिक परिस्थितियां अनुकूल न होने पर यह समस्यात्मक बन जाते हैं। माता-पिता शिक्षकों एवं समाज के अन्य लोगों का यह दायित्व होता है कि बालकों को उचित समय पर मार्गदर्शन कर उनकी समस्याओं का निराकरण करना चाहिए ताकि उनका व्यवहार थोड़े समय में ही सामान्य हो जाए जो कि उनके सर्वांगीण विकास के लिए अति आवश्यक है।

समस्यात्मक बालकों की परिभाषा

सी डब्ल्यू वैलेंटायन के अनुसार समस्यात्मक बालक शब्द का प्रयोग उन बच्चों की व्याख्या हेतु किया जाता है जिनका व्यवहार या व्यक्तित्व किसी बात में गंभीर रूप से असामान्य होता है।

समस्यात्मक बालकों की विशेषताएं एवं प्रकार

- समस्यात्मक बालकों में एक या एक से अधिक निम्नलिखित विशेषताएं पाई जाती हैं- अनुशासनहीनता, चोरी करना, क्रोधी एवं आक्रामक, झूठ बोलना, लापरवाह होना।
- कक्षा से भाग जाना, अश्लील व्यवहार करना, बेचैन रहना, जिद करना, ईर्ष्यालु होना और अप्रसन्न रहना।
- दूसरों को चिढ़ाना, मारपीट व लड़ाई झगड़ा करना, आज्ञा ना मानना, हीन भावना से ग्रसित होना।
- धूम्रपान एवं मादक पदार्थों का सेवन करना, इधर-उधर बेकार घूमना, निष्क्रिय होना, दूसरों के कार्य में बाधा उत्पन्न करना।

- निर्दयता पूर्ण व्यवहार करना, गाली गलौज करना, कक्षा में पढ़ाई के समय व्यवधान उत्पन्न करना, वस्तुओं को तोड़ना फोड़ना तथा विध्वंसकारी गतिविधियों में लिप्त रहना, बड़ों का सम्मान ना करना।

समस्यात्मक बालकों के प्रकार

समस्यात्मक बालक तीन प्रकार के होते हैं:

- **मनोशारीरिक समस्यात्मक बालक** वह होते हैं जिनकी शारीरिक व मानसिक आवश्यकताएं जैसे भरणभोजन, पौष्टिक भोजन, पर्याप्त नींद, पर्याप्त सुरक्षा व स्नेह, रोगों से बचाव आदि की पूर्ति उचित समय पर नहीं हो पाती है जिसके परिणाम स्वरूप बालकों में अंगूठा चूसने, नाखून काटना, बिस्तर गीला करना, झूठ बोलना आदि समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।
- **संवेगात्मक समस्यात्मक बालक** वह होते हैं जिनकी भावनाओं इच्छाओं व आशाओं को बलपूर्वक दबा दिया जाता है तो वह संक्षोभ हो जाते हैं। ऐसे बालक जिद्दी व आवेश प्रवृत्ति, क्रोध, उद्वेगता, अत्यधिक चंचल व्यवहार, शोर करना, गुमसुम रहना इन के प्रमुख लक्षण हैं। कक्षा में शोर करना, व्यर्थ बातें करना, सहपाठियों के साथ मारपीट व दुर्व्यवहार, दूसरों की कॉपी, किताबों व अन्य चीजों को छेड़ना, शिक्षकों को परेशान करना आदि के कारण विद्यालय में समायोजित नहीं हो पाते हैं। परिणामस्वरूप इनका सामाजिक समायोजन भी खराब हो जाता है तथा माता-पिता परिवार, कक्षा के साथियों, शिक्षकों व समाज के लिए एक चुनौतीपूर्ण समस्या बन जाते हैं।
- **अनुशासन विहीन समस्यात्मक बालक** वह होते हैं जिनका अनुशासनहीन एवं अनुपयुक्त पारिवारिक एवं सामाजिक वातावरण में पालन पोषण किया जाता है। आवश्यकताओं की पूर्ति ना होने पर परिवार एवं समाज के प्रति विरोधी हो जाते हैं। बहुत अधिक लाडलप्यार के कारण भी यह मनमाना व्यवहार करने लग जाते हैं तथा अन्य लोगों का मजाक बनाना और उन्हें अपमानित करने लगते हैं। इसके अलावा झूठ बोलना, चोरी करना, गंदी भाषा बोलना, तोड़फोड़ करना वह दूसरों का नुकसान करना, आज्ञा का उल्लंघन करना इनके व्यवहार में सम्मिलित होता है।

समस्यात्मक बालकों के कारण

सामान्य बालक का समस्यात्मक हो जाना निम्नलिखित कारणों से होता है:

1. पारिवारिक वातावरण

- परिवार के सदस्यों का आपस में लड़ते झगड़ते रहना।
- मारपीट करना आदि से बालक असुरक्षित महसूस करता है तथा भयभीत रहता है।
- माता-पिता का नौकरी या अन्य कारणों से घर से बाहर अधिक समय तक रहने से बच्चा घर में अकेला ही रह जाता है जिसके कारण वे स्वयं को असुरक्षित महसूस करते हैं।
- अधिक कठोर या लचीला अनुशासन बालक को उदंड बना देता है।
- माता या पिता का सौतेला होने पर बालक उपेक्षित व सुरक्षित अनुभव करता है।
- माता-पिता द्वारा सभी संतानों को समान रूप से स्नेह और सुविधाएं ना देना।
- माता-पिता का गलत आचरण जैसे झूठ बोलना, चोरी करना, मादक पदार्थों का सेवन करना आदि का बालक पर दुष्प्रभाव पड़ता है।
- परिवार का आर्थिक रूप से संपन्न होने के बावजूद बच्चों की आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर झूठ बोलना, चोरी करना आदि।
- आर्थिक व सामाजिक स्तर के बालकों की आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर चोरी करने लगना।
- कम स्थान के कारण बालक द्वारा अधिक क्रियाशीलता प्रदर्शित करने पर उन्हें बार-बार टोकना स्वतंत्र रूप से कार्य न करने देने के कारण वे बेचैनी अनुभव करने लगते हैं।

2. सामाजिक वातावरण

दूषित अनैतिक एवं अनाचार युक्त सामाजिक वातावरण बालक को समस्यात्मक बना देता है क्योंकि बालक जो अपने आसपास के वातावरण में देखता है, वह अनुभव करता है, उसी का अनुसरण करने लगता है। समाज में व्याप्त बेकारी, जातीय भेदभाव, भ्रष्टाचार आदि से व्याप्त असमान पूर्ण वातावरण बालक को समस्यात्मक बना देता है।

3. विद्यालय का वातावरण

बालक को समस्यात्मक बनाने में निम्नलिखित विद्यालयी कारण हो सकते हैं:

- अनुपयुक्त पाठ्यक्रम जो बालक के बौद्धिक स्तर के अनुकूल ना हो
- दोषपूर्ण शिक्षा पद्धति एवं परीक्षा पद्धति
- शिक्षक का व्यवहार
- विद्यालय के अधिक कठोर अनुशासन

- गलत सहपाठी

4. शारीरिक अयोग्यताएं या दोष

बालकों में शारीरिक दोष जैसे लंगड़ापन, बौनापन, अधिक लंबापन मोटापन, दुबलापन आदि के कारण वे उपहास का पात्र बनते हैं जिससे उनमें हीनभावना पनपने लगती है और उन्हीं समायोजन में कठिनाई उत्पन्न होती है जिससे वे समस्यात्मक बन जाते हैं

5. बुद्धि

बालकों में अधिक या कम बुद्धि के कारण और असामान्य व्यवहार करने की संभावना बढ़ जाती है जिससे वे समस्यात्मक बन जाते हैं।

6. अश्लील साहित्य व फिल्में

अश्लील साहित्य पढ़ने व अश्लील फिल्म देखने से बालकों का व्यवहार निम्न स्तरीय हो जाता है जो उन्हें अनैतिक व समाज विरोधी बना देता है बालक का व्यक्तित्व खराब हो जाता है और उसमें अनेक समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।

समस्यात्मक बालकों हेतु उपचारात्मक सुझाव

समस्यात्मक बालकों के उपचार हेतु निम्नलिखित सुझाव इस प्रकार हैं

1. **अतिरिक्त कार्य देना** क्योंकि बालक अत्यधिक ऊर्जावान होते हैं जो उन्हें बेचैन व व्यग्र बनाता है। अतः उनको अवांछित और शरारत पूर्ण व्यवहारों से मुक्त करने हेतु उन्हें अतिरिक्त कार्य जैसे चित्रकला, नृत्य, संगीत, जूडो-कराटे आदि में व्यस्त रखना चाहिए।
2. **मार्गदर्शन व परामर्श** माता-पिता व शिक्षकों द्वारा बालक की जिज्ञासाओं का समाधान करना चाहिए, बालक की आयु और बुद्धि के अनुसार उसको समझाना बुझाना चाहिए, उसे उचित और अनुचित व्यवहारों के बारे में बताना चाहिए, वह जिनको अच्छा मानता है उसी के द्वारा उसका मार्गदर्शन करवाना चाहिए।
3. **प्रेम पूर्ण व्यवहार करना।** समस्यात्मक बालक के साथ प्यार स्नेह व सम्मान पूर्वक व्यवहार करना चाहिए अपने आप को उपेक्षित महसूस करने पर वह गलत राह में भटक जाते हैं।
4. **स्वस्थ आलोचना** बालक को समय-समय पर उनके द्वारा की जाने वाली गलतियों पर टोकना डांटना फटकारना भी चाहिए ताकि बालक को अपनी गलतियों का एहसास रहे और वह यह समझ सके कि उन्हें डांटना उनके हित के लिए है मगर बालक को अधिक डांटना या फटकारना नहीं चाहिए अन्यथा वह उद्वेग हो जाते हैं।

5. **दंड** यदि बालक गलतियां दोबारा या जानबूझकर बार बार करता है तो उसे उसके गलत आचरण के लिए दंडित करना चाहिए मगर बालक को यह स्पष्ट होना चाहिए कि उसे दंड क्यों मिल रहा है बालक को शारीरिक दंड या कोई कार्य दंड के रूप में देना चाहिए जैसे घर की सफाई करना आदि
6. **धार्मिक व नैतिक शिक्षा** बालकों को चरित्रवान बनाने हेतु उन्हें अपने धर्म से संबंधित धार्मिक प्रसंग व कहानियां सुनानी चाहिए, धार्मिक व नैतिक शिक्षा त्याग की भावना विकसित करती है जिससे आदर्शों का भी निर्माण होता है
7. **स्वस्थ मनोरंजन** बालकों को समय-समय पर घुमाने व पिकनिक मनाने घर से बाहर ले जाना चाहिए। बच्चे एक समान दिनचर्या से बोर हो इधर-उधर गलत चीजों पर ध्यान लगाने लगते हैं जैसे अश्लील साहित्य व पिकचर देखना अतः उन्हें उनके रुचि के खेल या मनपसंद कार्यों को करने में स्वतंत्रता देनी चाहिए।
8. **उत्तरदायित्व की भावना विकसित करना** समस्यात्मक बालकों को व्यस्त रखने हेतु उन्हें घर के छोटे-मोटे कार्यों की जिम्मेदारियां देनी चाहिए जैसे पौधों में पानी डालना, घर का सामान लाना, गाड़ी धोना आदि। ऐसा करने से उनके अंदर आत्मविश्वास बढ़ेगा कि परिवार में उनका भी कोई महत्व है और उनमें कर्तव्य एवं जिम्मेदारियों की भावना का विकास होता है।
9. **उचित लालन-पालन** बालकों के लालन-पालन में उनकी क्रिया विधि एवं गतिविधियों पर ध्यान रखा जाए कि वे कहां जा रहे हैं, किसके साथ खेल रहे हैं, पढ़ाई कर रहे हैं या नहीं पढ़ाई में कहीं पीछे तो नहीं है तो बालक के समस्यात्मक होने की संभावना नहीं रहती।
10. **अध्यापकों से परामर्श** समस्यात्मक बालकों को सुधारने का तरीका यह भी है कि उनके अध्यापकों के संपर्क में निरंतर रहना चाहिए ताकि बालकों के व्यवहार एवं समस्याओं के संदर्भ में परामर्श लिया जा सके शिक्षक भी ऐसे बालकों पर विद्यालय में नजर रखना चाहिए।
11. **खुशनुमा विद्यालयी वातावरण** जब बालक को पाठ्यक्रम समझ में नहीं आता है या उनका मन पढ़ाई में नहीं लगता या पढ़ने के लिए समय कम होता है तो उनका मन अन्यत्र कार्यों में भटकने लगता है, कक्षा छोड़कर भागने लगते हैं। अतः पाठ्यक्रम रुचि पूर्ण और उनकी बौद्धिक क्षमता के अनुकूल होना चाहिए बच्चों के मनोरंजन हेतु विभिन्न प्रकार के खेल भी होने चाहिए।
12. **दमित संवेगों को निकालना** खेल, मनोरंजन, भ्रमण, चित्रकारी आदि के द्वारा बालकों के अंदर दबी भावनाएं, इच्छाएं, संवेग, कुंठा, हीन भावना को बाहर निकाला जा सकता है जो बालक को समस्या ग्रस्त बनाने के लिए पर्याप्त होती हैं।

13. **शारीरिक दोषों को दूर करना** बालकों में पाए जाने वाले शारीरिक दोषों के कारण अन्य लोग उनका मजाक बनाते हैं जिससे उनमें कुंठा व हीन भावना पनपने लगती है, वह बेचैन हो जाते हैं और समस्या उत्पन्न करने लगते हैं। संभव हो तो उनके शारीरिक दोषों को दूर करने का प्रयास करना चाहिए तथा उनके साथ सहानुभूति व स्नेह का व्यवहार करना चाहिए।
14. **जिज्ञासाओं की संतुष्टि** बालक हमेशा जिज्ञासु प्रवृत्ति का होता है वह अपने आसपास के वातावरण नई चीजों के बारे में जानकारी प्राप्त करना चाहता है मगर ऐसा ना होने पर वह निराशा व कुंठा का शिकार हो जाते हैं। अतः माता पिता एवं शिक्षकों का दायित्व है कि वे उनकी जिज्ञासाओं को शांत कर उनका उचित मार्गदर्शन करें।
15. **सामान्य अनुशासन** बालकों को ना अधिक कठोर और अधिक लचीले वातावरण में पालना चाहिए। अधिक स्वतंत्रता देने पर बालक बिगड़ जाते हैं और कठोर अनुशासन में वे डरे हुए व अपमानित महसूस करते हैं तथा उन्हें बदले की भावना पनपने लगती है अनुशासन की एक सीमा रखनी चाहिए।
14. **सामाजिक अवलंबन** बालकों द्वारा सामाजिक दबाव महसूस करने के कारणों का परित्याग करने की संभावना बढ़ जाती है। सामाजिक सहानुभूति प्राप्त होने से बालकों में आत्मबल बढ़ती है जो उनके व्यवहार को नियंत्रित करने में सहायता प्रदान करता है। बालकों को प्रोत्साहित करने हेतु उन्हें सामाजिक सेवाओं में लगाना चाहिए।

बालकों में पाए जाने वाले कुछ समस्यात्मक व्यवहार हैं; झूठ बोलना, अंगूठा चूसना, नाखून काटना, बिस्तर गीला करना, क्रोधी प्रवृत्ति, आक्रामकता, शर्मीलापन, तुतलाना या हकलाना, चोरी करना, दिवास्वप्न देखना, ईर्ष्या, विध्वंसकारी बालक, भयभीत बालक, लापरवाह बालक, झगड़ालू होना।

14.9 सारांश

इस अध्याय के पश्चात आपने जाना कि विशिष्ट बालकों के अंतर्गत अपंग या विकलांग बालक, मानसिक दृष्टि से पिछड़े बालक, प्रतिभाशाली बालक, समस्यात्मक बालक आते हैं जिनमें हीनता या श्रेष्ठता रहती है। विशिष्ट बालक भी उसी समाज का अंग हैं जिसके की सामान्य बालक हैं मगर इनकी बौद्धिक व शारीरिक क्षमता सामान्य बालकों से भिन्न होती है जिनके कारण इन्हें जीवन के हर क्षेत्र में समायोजन करने में कठिनाई अनुभव होती है। यह कठिनाईयाँ जन्मजात और उनके पारिवारिक, विद्यालय तथा आसपास के वातावरण में उपस्थित कारकों के कारण होती हैं जो उन्हें असामान्य व्यवहार करने के लिए बाध्य करती हैं। मगर उचित मार्गदर्शन, पालन-पोषण,

मनोचिकित्सा, संज्ञानात्मक व्यवहार चिकित्सा द्वारा सकारात्मक बदलाव लाकर इन्हें समाज की मुख्यधारा का हिस्सा बनाकर देश को सुदृढ़ करने में इनका योगदान लिया जा सकता है।

14.10 परिभाषिक शब्दावली

- **विशिष्ट बालक:** बालक जो सामान्य बालकों से शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, शिक्षण और व्यवहार स्तर पर श्रेष्ठ या निम्न होते हैं।
- **मंदबुद्धि बालक:** बालक जिनकी बुद्धि लब्धि 70 से कम होती है।
- **दिव्यांग:** दोषपूर्ण अंग वाले विकलांग बालक।
- **डिकरोली विधि:** शिक्षा जिसमें बालक अपनी ज्ञानेंद्रियों व मांसपेशियों पर संतुलन स्थापित करना सीखता है।
- **मांटेसरी विधि:** जिसमें बालक को उसकी रुचि के अनुसार शिक्षा दी जाती है अर्थात् यदि बालक को संगीत, गीत, नृत्य, चित्रकला, दस्तकारी आदि में रुचि होती है तो उसे उसी क्षेत्र में शिक्षा दी जाती है।
- **ब्रेल लिपि:** दृष्टिबाधितों के पढ़ने हेतु लिपि।

14.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास 1

1. सत्य/असत्य बताएं।
 - a. सत्य
 - b. असत्य
 - c. सत्य
 - d. सत्य
 - e. असत्य

14.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ० वृंदा सिंह, मानव विकास एवं पारिवारिक संबंध, 12 वां संस्करण 2018, पंचशील प्रकाशन, जयपुर।

2. डॉ0 डी एन श्रीवास्तव और डॉ प्रीति वर्मा, बाल मनोविज्ञान बाल विकास, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।
3. प्रो0 आर एन सिंह, आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान, 11 वां संस्करण, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।
4. डॉ0 नीता अग्रवाल और डॉ0 बीना निगम, मातृ कला एवं शिशु पालन, नवीनतम संस्करण, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा।

14.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. विशिष्ट बालकों को परिभाषित कीजिए। इनके लक्षण तथा प्रकार का उल्लेख कीजिए।
2. प्रतिभाशाली बालकों की विशेषताएं और इनकी विभिन्न क्षेत्रों में समायोजन की समस्याओं के बारे में उल्लेख कीजिए।
3. मंदबुद्धि बालक के प्रकार समझाइए। मंदबुद्धि बालकों की देखभाल एवं उपचारात्मक उपायों के बारे में विस्तारपूर्वक लिखिए।
4. समस्यात्मक बालकों के प्रकार समझाइए तथा इनके सुधारात्मक उपायों की विवेचना कीजिए।

इकाई 15: बाल अपराध तथा असामाजिक व्यवहार

-
- 15.1 प्रस्तावना
 - 15.2 उद्देश्य
 - 15.3 बाल अपराध की परिभाषा
 - 15.4 बाल अपराध के कारण
 - 15.5 बाल अपराधी के लक्षण
 - 15.6 बाल अपराध की रोकथाम
 - 15.7 बाल अपराध के उपचार
 - 15.8 भारत में बाल-अपराधियों के सुधार हेतु सरकार द्वारा किए गए प्रयत्न
 - 15.9 भारत में बाल अपराध के लिए न्यायिक प्रणाली
 - 15.10 सारांश
 - 15.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
 - 15.12 निबन्धात्मक प्रश्न
-

15.1 प्रस्तावना

बच्चों को भगवान का रूप माना जाता है। वैयक्तिक रूप से, माता-पिता, अभिभावक और पूरे समाज का नैतिक कर्तव्य होता है कि हम सभी बच्चों के लिये स्वस्थ सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण प्रदान करें ताकि वो भविष्य में जिम्मेदार नागरिक, शारीरिक रूप से तंदुरुस्त, मानसिक रूप से सतर्क और नैतिक रूप से स्वस्थ बन सकें। ये राज्य का कर्तव्य होता है कि सभी बच्चों को उनकी बढ़ती हुई आयु की समयावधि पर विकास के लिये समान अवसर प्रदान हों जिससे असमानता में कमी आए और सामाजिक न्याय सुनिश्चित हो। बाल्यावस्था व्यक्तित्व विकास की अत्यंत महत्वपूर्ण अवस्था होती है जो सम्पूर्ण जीवन का आधार स्तम्भ होती है। बच्चों को शैशवकाल से ही माता-पिता के स्वस्थ संरक्षण, स्नेह, अनुशासन, अच्छी संगति तथा स्वस्थ सामाजिक वातावरण की आवश्यकता होती है। इन सब के न मिलने पर बालक में समायोजन समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं जिससे वे अपराधों की ओर बढ़ जाते हैं। इस तरह के बच्चे अधिकतर अपराधिक गतिविधियों में शामिल हो जाते हैं जिसे बाल अपराध के रूप में जाना जाता है। वर्तमान में बाल अपराध एक गम्भीर

समस्या बन गई है जिसका निदान अत्यंत आवश्यक है। प्रस्तुत इकाई में आप बाल अपराध के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करेंगे।

15.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत शिक्षार्थी;

- बाल अपराध को परिभाषित कर पाएंगे;
- बाल अपराध के कारणों को जान पाएंगे;
- बाल अपराधी के लक्षणों को पहचान पाएंगे;
- बाल अपराध के रोकथाम के उपायों को समझ पाएंगे; तथा
- भारत में बाल अपराध से सम्बंधित कानून प्रणाली के विषय में जानेंगे।

15.3 बाल अपराध की परिभाषा

जब किसी बालक द्वारा कोई कानून-विरोधी या समाज विरोधी कार्य किया जाता है तो उसे बाल अपराध कहते हैं। कानूनी दृष्टिकोण से बाल अपराध 8 वर्ष से अधिक तथा 16 वर्ष से कम आयु के बालक द्वारा किया गया कानूनी विरोधी कार्य है जिसे कानूनी कार्यवाही के लिये बाल न्यायालय के समक्ष उपस्थित किया जाता है। बाल अपराध को कई रूप से परिभाषित किया गया है:

सिरिल बर्ट के अनुसार, “तकनीकी दृष्टि से एक बालक को उस समय अपराधी माना जाता है जब उसकी समाज विरोधी प्रवृत्तियाँ इतनी गम्भीर हो जाएं कि उसके विरुद्ध शासन वैधानिक कार्यवाही करे या कार्यवाही कराना आवश्यक हो जाए”।

मार्टिन न्यूमेयर के अनुसार, “एक बाल अपराधी निर्धारित आयु से कम आयु का वह व्यक्ति है जो समाज विरोधी कार्य करने का दोषी होता है और जिसका दुराचार कानून का उल्लंघन माना जाता है”।

एच. एच. लाऊ के अनुसार, “बाल अपराध किसी ऐसे बालक द्वारा किया गया विधि विरोधी कार्य है जिसकी अवस्था कानून में बाल अवस्था की सीमा में रखी गयी है और जिसके लिए कानूनी कार्यवाही तथा दंड व्यवस्था वयस्कों से भिन्न है”।

मावरर ने बाल अपराध की परिभाषा इस प्रकार दी है, “वह व्यक्ति जो जान बूझकर इरादे के साथ तथा समझते हुए उस समाज की रूढ़ियों की उपेक्षा करता है जिससे उसका संबंध है”।

हीली के अनुसार, “वह बालक जो समाज द्वारा स्वीकृत आचरणों का पालन नहीं करता है, बाल अपराधी कहलाता है”।

15.4 बाल अपराध के कारण

बाल अपराध के कारणों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:

1. वंशानुक्रम सम्बन्धी कारण

कई मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बाल अपराध के आनुवांशिक कारण हो सकते हैं जैसे स्वास्थ्य का ठीक न होना, शारीरिक विकृति, कम विकसित शरीर। ऐसे बालक असमान्य व्यवहार प्रदर्शित करते हैं जिस कारण वह अपराधों की ओर अग्रसर होते हैं।

2. वातावरण सम्बन्धी कारण

ये कारक जन्मजात नहीं होते। बालक जिस वातावरण में रहता है, ये कारक वहाँ से उत्पन्न होते हैं जो बालक को आपराधिक प्रवृत्ति की ओर ले जाते हैं।

वातावरण सम्बन्धी कारक निम्नलिखित हैं:

● सामाजिक कारण

किशोरापराध के कारणों में सर्वाधिक व्यापक कारण सामाजिक कारण हैं। इन कारणों में मुख्य हैं:

1. परिवार: किशोरापराध के कारणों में इलियट व मैरिल ने दूषित पारिवारिक प्रभाव को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना है। परिवार से सम्बंधित मुख्य परिस्थितियां हैं:

परिवार में घनिष्ठता न होना: परिवार का तात्पर्य केवल कुछ व्यक्तियों का इकट्ठा रहना मात्र नहीं है बल्कि उनका परस्पर घनिष्ठ संबंध है। घनिष्ठता की अनुपस्थिति में परिवार विश्रुंखलित हो जाते हैं जिससे बालक अपराधों की ओर आकृष्ट होते हैं।

माता-पिता का व्यवहार: जब बालक को माता-पिता का प्रेम नहीं मिलता तथा बात-बात में कठोर दण्ड मिलता है तो उसमें विद्रोह और क्षोभ बढ़ता है जिससे वह अपराध की ओर अग्रसर हो जाता है।

अपराधी भाई-बहनों का प्रभाव: केवल माता-पिता व बालकों के संबंध का ही नहीं बल्कि भाई-बहनों के व्यक्तित्व का भी बालकों के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। यदि बड़े भाई-बहन अपराधिक प्रवृत्ति के होते हैं तो उसका असर छोटे भाई-बहनों पर अवश्य पड़ता है।

माता-पिता का चरित्र व आचार: माता-पिता के चरित्र और आचार का बालकों के व्यक्तित्व पर बहुत प्रभाव पड़ता है। माता-पिता द्वारा झूठ बोलना, असामाजिक व्यवहार करना, यौन अनैतिकता, चोरी करना आदि का बालकों के अपराधी हो जाने पर बहुत योगदान होता है।

2. विद्यालय: परिवार के बाद बालक के व्यक्तित्व पर उसके विद्यालय का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। इसके अंतर्गत स्कूल से भागना, चोरी करना तथा यौन अपराध प्रमुख अपराध हैं। इसके प्रमुख कारण हैं, माता-पिता द्वारा उपेक्षा, अध्यापक द्वारा दण्ड, बालक का पढ़ने-लिखने में कमजोर होना।

3. बुरी संगति: मनुष्य के व्यवहार पर उसके साथियों का काफी असर पड़ता है। बालक की संगति यदि अपराधी प्रवृत्ति के लोगों की है, ऐसी स्थिति में वह भी अपराधी बन जाता है।

4. मनोरंजन: बालकों के विकास के लिए मनोरंजन के साधनों का भी बहुत महत्व है। विद्यालय के बाद शेष समय में स्वस्थ क्रियाएं करने की प्रेरणा उन्हें अच्छे वातावरण में ही मिल सकती है। खाली समय का सदुपयोग न होना भी अपराधी व्यवहार को प्रेरित करता है। बालकों के सामाजिकरण और नैतिक प्रशिक्षण में खेलकूद प्रमुख तत्व हैं।

5. स्थानान्तरण: स्थानान्तरण का भी बालकों के व्यक्तित्व एवं विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है। नए परिवेश में समायोजन में बालक को परेशानियों का सामना करना पड़ता है जिस कारण वे बुरी संगत में पड़कर अपराध की ओर प्रेरित हो सकते हैं।

6. सामाजिक विघटन: सामाजिक विघटन में व्यक्ति का भी विघटन होता है। समाज के विघटित होने पर अपराधियों की संख्या बढ़ जाती है। अतः सामाजिक विघटन भी बाल अपराध का एक कारण है। आधुनिक औद्योगिक समाज में समन्वय और समानता का अभाव होता है। इससे तनाव बढ़ता है और बालक अपराध की ओर बढ़ते हैं।

● मनोवैज्ञानिक कारण

कई मनोवैज्ञानिक कारणों से भी बालक अपराधिक प्रवृत्ति का बन जाता है। इन कारणों में प्रमुख हैं:

1. मानसिक रोग: मानसिक रोगग्रस्त व्यक्ति को परिवार में उचित देखभाल एवं स्नेह की आवश्यकता होती है। इन सबके अभाव में वह अपराध के लिए प्रेरित होता है।

2. बौद्धिक दुर्बलता: बालक की बौद्धिक दुर्बलता अपराध का कारण बन सकती है।

3. व्यक्तित्व के लक्षण: व्यक्तित्व के लक्षणों और अपराध की प्रवृत्ति में भी बहुत निकट संबंध पाया गया है। व्यक्तित्व व्यक्ति के परिवेश से अनुकूलन करने का ढंग है। अपराधी बालक इस अनुकूलन में अपराधी कार्यों का प्रयोग करते हैं।

4. संवेगात्मक अस्थिरता: संवेगात्मक अस्थिरता अपराध के मनोवैज्ञानिक कारणों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्रेम और सहानुभूति की कमी संवेगात्मक असुरक्षा, कठोर अनुशासन, हीनता तथा अपर्याप्ता की भावना और विद्रोह की प्रतिक्रिया बालकों के व्यक्तित्व को असन्तुलित बना देती है जिससे बालक को अपराधी व्यवहार की प्रेरणा मिलती है।

• आर्थिक कारण

आर्थिक कारण एवं बाल अपराधों के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में विद्वानों में मतभेद है परन्तु यदि भारतीय सन्दर्भों में देखा जाए तो आर्थिक दशा और बाल अपचार में घनिष्ठ सम्बन्ध देखा गया है। आर्थिक कारणों में प्रमुख हैं:

1. निर्धनता: बाल अपचार का एक प्रमुख कारण गरीबी है। गरीबी के कारण माता-पिता अपने बच्चों की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर पाते हैं। परिणामस्वरूप बच्चे पैसे के लिए चोरी, पॉकेटमारी, राहजनी और हेराफेरी आदि असामाजिक कार्य करने लगते हैं। निर्धनता के कारण बच्चों का अचेतन मन उन सभी सुविधाओं को पाने के लिये उत्प्रेरित रहता है जिन्हें सम्पन्न परिवारों के बच्चे भोग रहे होते हैं। इसके लिये वह अवैध तरीके अपनाता है और अपराधी कार्य करने लगता है।

2. भुखमरी: निर्धनता के कारण लोग अपना भरण पोषण उचित ढंग से नहीं कर पाते हैं। अतः उन्हें भुखमरी का सामना करना पड़ता है। भोजन के लिए बालक अपराध की ओर अग्रसर होता है।

3. बाल मजदूरी: यह कारण भी निर्धनता से जुड़ा हुआ है। निर्धनता के कारण परिवार के छोटे बालकों को अपनी आवश्यकताओं के लिए छोटे-मोटे काम करने पड़ते हैं। निर्धन परिवारों के बच्चे होटलों, दुकानों और धनी परिवारों में काम करते हैं। फलस्वरूप उनमें हीन भावनाएं और मानसिक तनाव उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में रहने वाले बालकों में नशाखोरी, धूम्रपान, जुआ, चोरी और वैश्यावृत्ति की बुरी आदतें पड़ जाती हैं।

4. पारिवारिक संघर्ष: अध्ययनों से ज्ञात होता है कि बाल अपराधियों का पारिवारिक जीवन संगठित और शक्तिपूर्ण नहीं होता है। ऐसे परिवार जहाँ तलाक, बंटवारा, परित्याग एवं माता-पिता की मृत्यु के फलस्वरूप वातावरण दूषित हो गया हो, वहाँ बालकों में अपराधिक प्रवृत्ति अधिक पाई

जाती है। ऐसे परिवारों में बच्चों का संवेगात्मक संतुलन बिगड़ जाता है और उनका सामाजिक विकास नहीं हो पाता।

15.5 बाल अपराधी के लक्षण

बाल अपराधियों के कुछ सामान्य लक्षण निम्नलिखित हैं:

- बाल अपराधी की शारीरिक संरचना सामान्य तथा शरीर गठीला होता है। सामान्यतः वे शक्तिशाली तथा निडर होते हैं।
- वे स्वभाव से बेचैन, उग्र, बहिर्मुखी तथा विघटनकारी होते हैं।
- उनका व्यक्तित्व अनैतिक, अत्यधिक संवेगशील, स्वार्थी तथा आत्मकेन्द्रित होता है।
- वे अदूरदर्शी तथा अपराध के परिणाम से अनभिज्ञ रहते हैं।
- बाल अपराधियों में इदम् (id), अहम् (ego) तथा पराहम् (super ego) में समुचित संतुलन का अभाव होता है।
- वे प्रायः विषादग्रस्त, निराश, हताश और गुमसुम दिखाई देते हैं।
- वे शासन सत्ता के विरोधी, नियम कानून का उल्लंघन करने वाले तथा अविश्वासी प्रवृत्ति के होते हैं।
- वे अपनी किसी भी समस्या को सुलझाने के लिए सुनियोजित रूप से किसी कार्ययोजना का पूर्व निर्धारण नहीं करते हैं।

15.6 बाल अपराध की रोकथाम

बाल अपराधों की रोकथाम हेतु यह आवश्यक है कि परिवार, विद्यालय एवं समाज द्वारा इस दिशा में सामूहिक प्रयास किए जाएं। बाल अपराधों की रोकथाम हेतु निम्न उपाय किए जा सकते हैं:

- **समुचित पालन पोषण:** विभिन्न अध्ययनों में यह पाया गया है कि अपराध को प्रेरित होने का मूल कारण बालक का समुचित पालन पोषण न होना है। परिवार में पर्याप्त स्नेह और प्यार न पाने से बालक का भावनात्मक विकास नहीं हो पाता। अतः प्रेम का बालक के जीवन में बहुत महत्व है। मारपीट और अपमान बहुधा बालक को अपराध के रास्ते पर ले जाते हैं। बालक की जिज्ञासाओं के समाधान में भी सावधानी की आवश्यकता होती है। कोई बात पूछने पर यदि बालक को झिड़क दिया जाए या उससे झूठ बोल दिया जाए तो इसका बालक पर बुरा प्रभाव

पड़ता है। आवश्यक यौन शिक्षा के अभाव में अनेक बालक-बालिकाएं बाल अपराध की राह पर अग्रसर हो जाते हैं। माता-पिता बालक के सामने आदर्श होते हैं। उनके आपस में झगड़ों और तनाव का भी बालक के मन पर बुरा प्रभाव होता है।

- **स्वस्थ मनोरंजन:** मनोरंजन का व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। स्वस्थ मनोरंजन के अभाव में बालक की अपराधी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है। दोषपूर्ण चलचित्र, अश्लील साहित्य तथा भ्रामक विज्ञापन आदि बालक को अपराधों की ओर प्रेरित करते हैं। अतः अपराधों को रोकने के लिए स्वस्थ तथा सुसंस्कृत मनोरंजन की सामग्रियों का उपलब्ध होना अत्यंत आवश्यक है। सरकार को भी इस दिशा में आवश्यक कदम उठाने चाहिए।
- **समुचित शिक्षा:** परिवार के बाद बालक पर विद्यालय का प्रभाव पड़ता है। अतः बाल अपराध को रोकने के लिए बालक की समुचित शिक्षा का प्रबंध होना जरूरी है। समुचित शिक्षा में शिक्षक का व्यक्तित्व, विद्यालय का पाठ्यक्रम, शिक्षा की विविधता और पाठ्यक्रम के अतिरिक्त कार्यक्रमों का बहुत महत्व होता है। शिक्षकों को बाल मनोविज्ञान का विशेष ज्ञान होना चाहिए ताकि वे बालकों के सम्मुख अपने विषय को मनोरंजक ढंग से उपस्थित कर सकें और बालक में विषय के प्रति रुचि उत्पन्न कर सकें। शिक्षक का आचरण और व्यवहार सुधरा हुआ होना चाहिए क्योंकि कई बालक अपने शिक्षकों को अपना आदर्श मानते हैं। विद्यालय में शिक्षकों को शारीरिक दण्ड का प्रयोग यथासम्भव नहीं करना चाहिए। पढ़ाई में कमजोर बालकों की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए क्योंकि उनके अपराधी बनने की संभावना अधिक रहती है। विद्यालय में खेलकूद, नाटक, वाद विवाद तथा विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताओं के द्वारा बालक की विभिन्न प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त होने का अवसर मिलने से उसकी अपराध की ओर जाने की संभावना कम हो जाती है। सामान्य शिक्षा के साथ-साथ बालकों को शारीरिक तथा नैतिक शिक्षा की भी आवश्यकता होती है। स्कूल से भागना अपराध की पहली सीढ़ी है, अतः स्कूल का वातावरण तथा शिक्षा पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि बालक विद्यालय से न भागें।
- **मनोवैज्ञानिक परामर्श की सुविधा:** मनोवैज्ञानिक दोष अपराध के महत्वपूर्ण कारण हैं। अतः बालकों को अपराधों से रोकने के लिए उनके मनोवैज्ञानिक दोषों का उपचार अत्यंत आवश्यक है। इसके लिए विद्यालयों में मनोवैज्ञानिक परामर्श की सुविधा होनी चाहिए जिससे बालक की परेशानियों तथा स्थितियों के विषय में उचित जानकारी मिल सके तथा उन्हें उपयुक्त परामर्श मिल सके।

15.7 बाल अपराध के उपचार

बाल अपराधियों का उपचार करने के लिए मनोवैज्ञानिक, मनोचिकित्सा एवं मनोविश्लेषणात्मक प्रविधियों का प्रयोग करना चाहिए। ये प्रविधियाँ निम्न हैं:

- **मनोवैज्ञानिक प्रविधि:** मनोवैज्ञानिक प्रविधियों के द्वारा बाल अपराधों के कारणों का पता लगाया जाता है तथा उनका विश्लेषण कर उपचार के उपाय सुझाये जाते हैं। इस प्रविधि के अन्तर्गत निम्नलिखित विधियों का प्रयोग किया जाता है:

वातावरण उपचार: इस उपचारात्मक विधि के द्वारा सामान्यतः बालक के घर एवं स्कूल के वातावरण को सुधारने का प्रयास किया जाता है। मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि बालकों को खराब वातावरण से हटाकर अच्छे वातावरण में भेजने से उनकी प्रवृत्ति में सुधार होता है।

पुनर्शिक्षा: अपराधी बालक असामाजिक क्रियाएं पूर्व ही में सीख चुका होता है। पुनर्शिक्षा का उद्देश्य बालक को पारिवारिक संबंधों एवं यौन समस्याओं के विषय में सही जानकारी देना और उसका मार्ग प्रदर्शित करना है। बालक की समस्याओं के सम्बंध में वैचारिक स्पष्टता उत्पन्न करना पुनर्शिक्षा का उद्देश्य है।

अनिर्देशित विधि: पारस्परिक विचार-विमर्श एवं वार्ता के द्वारा बालक में अवदमित इच्छाओं एवं संवेगों को स्वतंत्र रूप से व्यक्त करने का अवसर देना इस विधि के अंतर्गत निहित है। इस विधि में मनोवैज्ञानिक बालक के साथ घुल-मिल जाता है। इसी बीच वह बालक की इच्छाओं, भावनाओं एवं संवेगों को जान लेता है और तदनु रूप उपचार के प्रयास किये जाते हैं।

सुझाव और परामर्श: बाल-अपराधियों को सकारात्मक सुझाव देकर सही मार्ग पर लाया जा सकता है। समय-समय बालकों को उचित परामर्श देकर उनकी समस्याओं का निवारण किया जा सकता है।

प्रोत्साहन: मनोवैज्ञानिक बाल अपराधियों को भविष्य में अपराध न करने के लिए प्रोत्साहित करता है। यह प्रोत्साहन तार्किक होना चाहिए जिससे इसका बालक पर उचित प्रभाव पड़ सके।

- **मनोविश्लेषण प्रविधि:** बाल अपराध की मनोविश्लेषणात्मक प्रविधियों के द्वारा बालक के अचेतन मन में छिपे मनोभावों, संवेगों तथा इच्छाओं को समझने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार

बालक के अपराधी व्यवहार के कारण जान कर, उनका विश्लेषण कर उपचारात्मक उपाय सुझाये जाते हैं।

- **मनोचिकित्सा प्रविधि:** मनोचिकित्सक बाल अपराधियों का उपचार अपनी पद्धति से करते हैं और इसके लिए खेल पद्धति सबसे उपयोगी विधि है। खेल में बालक खुलकर व्यवहार करता है। बालक अपनी दमित इच्छाओं और संवेगों का प्रदर्शन खेल में करता है। मनोचिकित्सक बालक के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करता है और इस प्रकार उसके साथ संवेगात्मक संबंध स्थापित करके उसे अपने विश्वास में ले लेता है।

15.8 भारत में बाल-अपराधियों के सुधार हेतु सरकार द्वारा किए गए प्रयत्न

बाल अपराध एक गम्भीर समस्या है। इसको सुधारने की दिशा में प्रायः सभी राष्ट्र प्रयत्नशील हैं। आज के बाल-अपराधी कल के अपराधी बन सकते हैं, इसलिए बाल-अपराधियों का सुधार आवश्यक होता है। बाल-अपराधियों को सुधारने के लिए जिन सुधारात्मक संस्थाओं का विकास हुआ है, वे निम्नलिखित हैं:

1. बाल न्यायालय (Juvenile Courts): यह बाल अपराधी के सुधार की एक ऐसी महत्वपूर्ण संस्था है जिसका उद्देश्य बाल-अपराधियों को दण्ड देना नहीं होता है बल्कि इसका उद्देश्य बालक को संरक्षण प्रदान कर यह जानना होता है कि किन कारणों से बालक ने अपराध किया है तथा उसे सुधारने के क्या उपाय हो सकते हैं? इस न्यायालय में जज एवं जूरी के स्थान पर चिकित्सक मनोविश्लेषक, मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्री होते हैं। इसका अध्यक्ष एक मजिस्ट्रेट होता है। इस मजिस्ट्रेट के कार्यों में सहायता पहुंचाने के लिए महिला मजिस्ट्रेट रहती है। इस न्यायालय में बालक के साथ अपराधी की भाँति व्यवहार नहीं किया जाता है। साथ ही पुलिस भी सादी वेशभूषा में होती है। बालक की बातों को सहानुभूतिपूर्वक सुना जाता है और उन कारणों को खोजने का प्रयत्न किया जाता है जो बालक को अपराध करने के लिए प्रेरित करते हैं। जो बालक दोषी सिद्ध होते हैं उन्हें न्यायालय सजा देकर सुधारगृह में भेजने की स्वीकृति देता है। भारत के विभिन्न राज्यों में किशोर न्यायालय हैं। भारत में सबसे पहला किशोर न्यायालय मुम्बई में स्थापित हुआ था।

2. सुधार गृह (Reformatory Home): सुधार गृह भी बाल अपराधियों के सुधार की एक महत्वपूर्ण संस्था है। इसमें 16 वर्ष से कम उम्र के उन बालकों या बालिकाओं को ही रखा जाता है

जिन्होंने गम्भीर अपराध नहीं किए होते। सुधारगृहों में बच्चों के भोजन, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य, सफाई एवं मनोरंजन की उचित व्यवस्था रहती है। सुधार गृह में बालक को कम से कम 3 वर्ष तथा अधिकतम 7 वर्ष के लिए रखा जाता है। बाल अपराधियों को उनकी रुचि तथा क्षमता के अनुसार विभिन्न व्यवसायों का प्रशिक्षण भी दिया जाता है जिससे कि वे बाहर निकलकर आत्मनिर्भर बन सकें। प्रशिक्षण के उपरांत उन्हें समीप के कार्य स्थलों में भेजा जाता है। दण्ड समाप्ति के उपरांत उन्हें उनके कार्य के प्रतिफल की धनराशि का पूर्ण भुगतान भी किया जाता है।

3. बोस्टल संस्थाएं (Borstal Institutions): बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में किशोर अपराधियों को वयस्कों से पृथक रहने का प्रावधान किया गया जिससे कि सुधार सेवाएं अधिकारवादी वातावरण से मुक्त हों और किशोर अपराधियों के लिए सुधार सम्भव हो सके। इस प्रकार बोस्टल स्कूल 16-21 वर्ष की आयु समूह के किशोर अपराधियों के लिए स्थापित किए गए। प्रत्येक स्कूल की क्षमता 100 से 350 निवासियों के बीच होती है। यद्यपि यह स्कूल जेल महानिरीक्षक के सामान्य निरीक्षण में कार्य करते हैं। तथापि प्रत्येक स्कूल की एक अपनी निरीक्षण समिति होती है जिसमें एक सत्र न्यायाधीश, एक जिला मजिस्ट्रेट, जिला स्तर का स्कूल अफसर और चार गैर सरकारी सदस्य होते हैं। कोई भी निवासी यहां दो वर्ष से कम तथा पांच वर्ष से अधिक नहीं रखा जाता है। इस प्रकार केवल उन्हीं अपराधियों को इन स्कूलों में भेजा जाता है जिन्हें तीन वर्ष से अधिक की सजा होती है। स्कूल में प्रवेश के उपरांत बाल अपराधी की तीन महीने तक विशेष रूप से देखभाल की जाती है और उसे बागवानी जैसा कोई साधारण काम दिया जाता है। साधारण श्रेणी में रखने पर उसे उसकी शिक्षा और क्षमता के अनुरूप उचित प्रशिक्षण कार्यक्रम दिया जाता है।

4. रिमाण्ड गृह (Remand Home): रिमाण्ड गृह भी बाल अपराधियों के सुधार की एक संस्था है। वर्तमान व्यवस्था के अनुसार पकड़े गए बाल अपराधियों को पुलिस की हिरासत में न रखकर एक विशेष गृह में रखा जाता है जिसे रिमाण्ड गृह कहा जाता है। रिमाण्ड होम में बाल अपराधियों के साथ सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार किया जाता है। साथ ही यह भी निश्चित किया जाता है कि चौबीस घण्टे के अंदर उसे किसी न्यायाधीश के सामने पेश किया जाए। रिमाण्ड गृह में प्रोबेशन अधिकारी बच्चे की व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा वातावरण संबंधी समस्या का अध्ययन करता है तथा न्यायालय के सामने अपने विचार प्रस्तुत करता है जिससे बाल अपराधियों को समझने में मदद मिलती है। जब बाल अपराधी को मजिस्ट्रेट के सामने लाया जाता है तथा उसके बाद जब तक पूरी छानबीन समाप्त नहीं हो जाती तब तक उसे रिमाण्ड गृह में रखा जाता है।

5. परिवीक्षण गृह (Probation Homes): परिवीक्षण गृहों में एक परिवीक्षण अधिकारी की नियुक्ति होती है जिसके संरक्षण में रखकर बच्चों को सुधारने का प्रयत्न किया जाता है। परिवीक्षण अधिकारी के रूप में उस व्यक्ति की नियुक्ति होती है जिसे बाल मनोविज्ञान का ज्ञान होता है। अधिकारी बालक से मित्रतापूर्ण व्यवहार कर उसकी मनोवृत्ति तथा उसकी परिस्थितियों का सूक्ष्म अध्ययन करता है और उसे सही राह पर लाने का प्रयास करता है।

6. पालन- गृह (Foster Homes): पालन गृहों में उन बालकों को रखा जाता है जो सड़कों पर असहाय/आवारा घूमते पाए जाते हैं। इस गृह का उद्देश्य ऐसे बच्चों को बाल अपराधी बनने से रोकना है। इन बच्चों की आयु 10 वर्ष से कम होती है। साधारणतया पालन गृह ऐच्छिक संगठनों द्वारा चलाए जाते हैं किंतु उन्हें सरकारी सहायता भी प्राप्त होती है।

7. उत्तर देखभाल संस्थाएं (After Care Institutions): ये संस्थाएं बाल अपराधियों की दण्ड अवधि पूर्ण होने के पूर्व उन्हें अपने संरक्षण में लेकर सुधारने का प्रयास करती हैं। जब किसी बाल अपराधी के दण्ड की छः माह की अवधि पूर्ण हो जाती है तथा संस्थान के निरीक्षक को यह ज्ञात होता है कि बालक का आचरण अच्छा है, तो दण्ड की शेष अवधि में उसे किसी उत्तर देखभाल संस्था में भेज दिया जाता है। इन संस्थाओं में बालक को भविष्य में आत्मनिर्भर बनाने हेतु औद्योगिक प्रशिक्षण दिया जाता है। ये संस्थाएं स्वयंसेवी संगठनों द्वारा संचालित होती हैं जो केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा नियंत्रित होती हैं।

15.9 भारत में बाल अपराध के लिए न्यायिक प्रणाली

पिछले कुछ दशकों में, 16 वर्ष से कम उम्र के बच्चों द्वारा अपराध दर में वृद्धि हुई है। इस बढ़ते अपराध दर का कारण बच्चे के परिवार का वातावरण, आर्थिक स्थिति, शिक्षा की कमी और माता-पिता की देखभाल हो सकता है।

16 दिसंबर, 2012 को दिल्ली की “निर्भया गैंग रेप काण्ड” की भयावह घटना ने पूरे देश को झकझोर दिया जिससे कानूनी विरादरी और समाजवादियों के बीच बहस शुरू हो गई। बहस का मुख्य कारण और मुद्दा उस आरोपी की संलिप्तता थी, जो 18 वर्ष की आयु प्राप्त करने के लिए सिर्फ छह महीने छोटा था। कानून के अनुसार उस आरोपी को इस जघन्य अपराध के लिए भी बाल अपराधी माना गया। बलात्कार के ऐसे जघन्य अपराध में ऐसे आरोपियों की संलिप्तता ने भारतीय विधानमंडल को एक नया कानून लाने के लिए मजबूर किया और इस प्रकार भारतीय संसद एक नया

कानून लेकर आई, जिसे “किशोर न्याय (देखभाल और संरक्षण), 2015” के रूप में जाना जाता है। इस अधिनियम ने मौजूदा बाल अपराध कानून का स्थान ले लिया है और कुछ उल्लेखनीय बदलाव पेश किए।

किशोर न्याय अधिनियम

किशोर न्याय अधिनियम, 2000 बच्चों को सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य के साथ लागू किया गया था। इस अधिनियम में दो बार संशोधन किया गया; पहला वर्ष 2006 में और दूसरा वर्ष 2011 में। अधिनियम में कुछ कमियों/खामियों को दूर करने के उद्देश्य से ये संशोधन किए गए।

हाल के वर्षों में किशोर अपराधों के मामलों की बढ़ती संख्या और “दिल्ली गैंग रेप काण्ड” की निराशाजनक घटना ने कानून निर्माताओं को नया कानून लाने के लिए मजबूर किया। मौजूदा अधिनियम में शामिल कुछ कानूनी प्रावधानों में बहुत कमियाँ थीं। इस अधिनियम को जल्द ही किशोर न्याय (देखभाल और संरक्षण) अधिनियम, 2015 में बदल दिया गया।

गहन विवाद, बहस और विरोध के बीच किशोर न्याय (बच्चों की देखभाल और संरक्षण) अधिनियम, 2015 भारत की संसद द्वारा पारित कर दिया गया। इस अधिनियम के अंतर्गत 16-18 वर्ष की आयु वर्ग के किशोरों को, जो कि जघन्य अपराधों में शामिल हैं, कानूनी तौर पर वयस्कों की ही भाँति दण्डित किया जाता है। यह अधिनियम 15 जनवरी 2016 से लागू हुआ।

अधिनियम की मुख्य विशेषताएं

- इस अधिनियम के अंतर्गत एक किशोर न्याय बोर्ड (Juvenile Justice Board) की स्थापना का प्रावधान है, जिसमें मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्री शामिल होते हैं जो यह तय करते हैं कि अमुक 16-18 आयु वर्ग के किशोर अपराधी को वयस्क के रूप में दण्डित किया जाना चाहिए या नहीं।
- विधेयक में अंतर-देश अभिग्रहण (Inter-Country Adoption) के सम्बंध में हेग कन्वेंशन ऑन प्रोटेक्शन ऑफ चिल्ड्रन एण्ड कोऑपरेशन ऑफ रिस्पेक्ट, 1993 से अवधारणाएं प्रस्तुत की गईं जो पिछले अधिनियम में अनुपस्थित थीं।
- विधेयक में अनाथ, परित्यक्त और आत्मसमर्पित बच्चों को गोद लेने की प्रक्रिया को और अधिक सुव्यवस्थित बनाने का प्रयास किया गया है।
- विधेयक भारत में पालक देखभाल (Foster Care) भी प्रस्तावित करता है। पालक देखभाल के लिए परिवारों को पंजीकरण करवाने कई आवश्यकता होती है तथा परित्यक्त, अनाथ, कानून

द्वारा दण्डित बच्चों को उनके पास भेजा जाता है। ऐसे परिवारों की निगरानी की जाती है और उन्हें राज्य से वित्तीय सहायता प्राप्त होती है। गोद लेने में, विकलांग बच्चों और शारीरिक तथा आर्थिक रूप से अक्षम बच्चों को प्राथमिकता दी जाती है।

- विधेयक में मौद्रिक जुर्माने का प्रावधान भी है। बच्चे को शराब या ड्रग्स देने वाले व्यक्ति को 7 साल का कारावास और/या 100,000 जुर्माने से दंडित किया जाएगा। बच्चे को शारीरिक दंड 50,000 या 3 वर्ष के कारावास से दंडनीय होगा। बच्चे को बेचने वाले व्यक्ति पर 100,000 का जुर्माना लगाया जाएगा और 5 साल की कैद होगी।
- किशोर न्याय (बच्चों की देखभाल और संरक्षण) अधिनियम, 2015 "न्यायिक छूट प्रणाली" का परिचय देता है, जो किशोरों को, कुछ स्थितियों में, वयस्क आपराधिक न्याय प्रणाली में शामिल करता है और उन्हें वयस्कों के रूप में सजा देने की अनुमति देता है।

अभ्यास प्रश्न 1

1. सही अथवा गलत बताइए।

- a. हीली के अनुसार, "वह बालक जो समाज द्वारा स्वीकृत आचरणों का पालन नहीं करता है, बाल अपराधी कहलाता है"।
- b. बाल अपराधी स्वभाव से बेचैन, उग्र, बहिर्मुखी तथा विघटनकारी होते हैं।
- c. बाल अपराध की मनोचिकित्सा प्रविधियों के द्वारा बालक के अचेतन मन में छिपे मनोभावों, संवेगों तथा इच्छाओं को समझने का प्रयास किया जाता है।
- d. सुधार गृह में 16 वर्ष से कम उम्र के उन बालकों या बालिकाओं को ही रखा जाता है जिन्होंने गम्भीर अपराध नहीं किए होते।
- e. परिवीक्षण गृहों में उन बालकों को रखा जाता है जो सड़कों पर असहाय/आवारा घूमते पाए जाते हैं।
- f. किशोर न्याय (बच्चों की देखभाल और संरक्षण) अधिनियम, 2015 "न्यायिक छूट प्रणाली" का परिचय देता है।

2. रिक्त स्थान भरिए।

- a. अपराध के मनोवैज्ञानिक कारणों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

- b. ऐसे परिवार जहाँ तलाक, बंटवारा, परित्याग एवं माता-पिता की मृत्यु के फलस्वरूप वातावरण दूषित हो गया हो, वहाँ बालकों में अपराधिक प्रवृत्ति पाई जाती है।
- c. बालक की समस्याओं के सम्बंध में वैचारिक स्पष्टता उत्पन्न करना का उद्देश्य है।
- d. भारत में सबसे पहला किशोर न्यायालय में स्थापित हुआ था।
- e. में केवल उन्हीं अपराधियों को भेजा जाता है जिन्हें तीन वर्ष से अधिक की सजा होती है।
- f. किशोर न्याय (बच्चों की देखभाल और संरक्षण) अधिनियम, 2015, से लागू हुआ।

15.10 सारांश

बच्चों को शैशवकाल से ही माता-पिता के स्वस्थ संरक्षण, स्नेह, अनुशासन, अच्छी संगति तथा स्वस्थ सामाजिक वातावरण की आवश्यकता होती है। इन सब के न मिलने पर बालक में समायोजन समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं जिससे वे अपराधों की ओर बढ़ जाते हैं। इस तरह के बच्चे अधिकतर अपराधिक गतिविधियों में शामिल हो जाते हैं जिसे बाल अपराध के रूप में जाना जाता है। कानूनी दृष्टिकोण से बाल अपराध 8 वर्ष से अधिक तथा 16 वर्ष से कम आयु के बालक द्वारा किया गया कानूनी विरोधी कार्य है जिसे कानूनी कार्यवाही के लिये बाल न्यायालय के समक्ष उपस्थित किया जाता है। बाल अपराध के कारणों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है; वंशानुक्रम सम्बन्धी कारण तथा वातावरण सम्बन्धी कारण। बाल अपराधियों के कुछ सामान्य लक्षण होते हैं जैसे गठीला शरीर, उग्र व्यवहार, अनैतिक, अत्यधिक संवेगशील, स्वार्थी तथा आत्मकेन्द्रित व्यक्तित्व, शासन सत्ता के विरोधी, नियम कानून का उल्लंघन करने वाले तथा अविश्वासी प्रवृत्ति आदि। बाल अपराधों की रोकथाम हेतु यह आवश्यक है कि परिवार, विद्यालय एवं समाज द्वारा इस दिशा में सामूहिक प्रयास किए जाएं। बाल अपराधों की रोकथाम हेतु कई उपाय किए जा सकते हैं जैसे समुचित पालन-पोषण, स्वस्थ मनोरंजन, समुचित शिक्षा तथा मनोवैज्ञानिक परामर्श की सुविधा। बाल-अपराधियों को सुधारने के लिए कई सुधारात्मक संस्थाओं का विकास हुआ है जैसे बाल न्यायालय, सुधार गृह, बोस्टल संस्थाएं, रिमाण्ड गृह, परिवीक्षण गृह, पालन- गृह तथा उत्तर देखभाल संस्थाएं। भारत में किशोर न्याय (बच्चों की देखभाल और संरक्षण) अधिनियम, 2015 भारत की

संसद द्वारा पारित किया गया तथा यह अधिनियम 15 जनवरी 2016 से देश में लागू हुआ। इस अधिनियम के अंतर्गत 16-18 वर्ष की आयु वर्ग के किशोरों को, जो कि जघन्य अपराधों में शामिल हैं, कानूनी तौर पर वयस्कों की ही भाँति दण्डित किया जाता है।

15.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. सही अथवा गलत बताइए।

- सही
- सही
- गलत
- सही
- गलत
- सही

2. रिक्त स्थान भरिए।

- संवेगात्मक अस्थिरता
- अधिक
- पुनर्शिक्षा
- मुम्बई
- बोस्टल संस्थाओं
- 15 जनवरी 2016

15.12 निबन्धात्मक प्रश्न

- बाल अपराध को परिभाषित कीजिए।
- बाल अपराध के कारणों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
- बाल अपराधी के क्या लक्षण होते हैं?
- बाल अपराध की रोकथाम के उपायों का वर्णन कीजिए।
- बाल-अपराधियों को सुधारने के लिए जिन सुधारात्मक संस्थाओं का विकास हुआ है, उनका विस्तारपूर्वक उल्लेख कीजिए।

-
6. भारत में बाल अपराध के लिए न्यायिक प्रणाली पर टिप्पणी कीजिए।